जैनदर्शन का वैज्ञानिक अध्ययन

प्रोफेसर एमेरिटस
(डॉ.) भागचंद्र जैन
'भास्कर'

मुख्य संपादक
प्रो. श्रीनिवास वरखेडी

कार्यकारी संपादक
प्रो. मधुसूदन पेन्ना

कविकुलगुरु कालिदास संस्कृत विश्वविद्यालय, रामटेक
२०२१

जैनदर्शन का
वैज्ञानिक अध्ययन
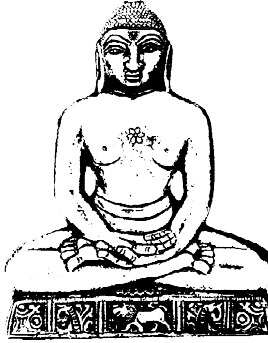
प्रोफेसर एमेरिटस

(डॉ.) भागचंद्र जैन

'भास्कर'

मुख्य संपादक

प्रो. श्रीनिवास वरखेडी

कार्यकारी संपादक

प्रो. मधुसूदन पेन्ना

कविकुलगुरु कालिदास संस्कृत विश्वविद्यालय

रामटेक - 441106

शिर्षक	-	**जैनदर्शन का वैज्ञानिक अध्ययन**
लेखक	-	**प्रोफेसर एमेरिटस (डॉ.) भागचंद्र जैन 'भास्कर'**
मुख्य संपादक	-	**प्रो. श्रीनिवास वरखेडी** कुलगुरू, ककासंवि, रामटेक
कार्यकारी संपादक	-	**प्रो. मधुसूदन पेन्ना** संचालक, प्रकाशन विभाग, ककासंवि, रामटेक **डॉ. दिनकर मराठे** सहा. प्राध्यापक, ककासंवि, रामटेक
प्रकाशक	-	**कुलसचिव** कविकुलगुरू कालिदास संस्कृत विश्वविद्यालय, रामटेक - 441106
प्रकाशन वर्ष	-	**2021**
आवृत्ती	-	**प्रथम**
आयएसबीएन	-	**978-93-85710-86-5**
मूल्य	-	रू. 599/-
मुखपृष्ठ	-	उमेश पाटील
मुद्रण	-	अवधूत ग्राफिक्स ॲण्ड प्रिन्टींग, रामदासपेठ, नागपूर. मो. 9604502445

विषय सुची

परिवर्त – १

परिवर्त – २

परिवर्त – ३

उपस्थापना

जैन दर्शन का वैज्ञानिक अध्ययन

प्रारम्भिक काल से ही व्यक्ति दार्शनिक और तात्त्विक समस्याओं में मानसिक रूप से उलझा रहा है। उन्हें सुलझाने के लिए तथागत बुद्ध ने कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया और उन्हें अव्याकृत कहकर एक ओर रख दिया। पर तीर्थंकर महावीर ने उन्हें अभिव्यक्ति दी और अनेकान्तवाद के आधार पर सभी मतों की विचारधाराओं का सम्मान करते हुए सुलझाने का यथासम्भव प्रयत्न किया। उनके अहिंसक होने का यह परिणाम था। अनेकान्तवाद अहिंसा का ही एक विशिष्ट अंग है।

लोक, आत्मा, ईश्वर, प्रमाण आदि के क्षेत्र में उद्भूत प्रश्न और तर्क–वितर्कों का अध्ययन हम यहां ऐतिहासिक दृष्टि से प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे। इस पृष्ठभूमि में यहां आगम और दार्शनिक साहित्य का मन्थन किया गया है और विकासात्मक दृष्टि से उसे अभिव्यक्ति दी गई है।

इन दार्शनिक प्रश्नों का आरम्भ बिन्दु उपनिषद् परम्परा है जिसपर जैनधर्म का प्रभाव दिखाई देता है। उनका आरम्भ अध्यात्मिक जिज्ञासा से होता है जिसमें श्रेय और प्रेय के बीच विभेदक रेखा खींचकर ब्रह्म, आत्मा, ईश्वर और प्रमाण पर चिन्तन किया गया है। यहां दर्शन को धर्म से पृथक् नहीं किया गया। इसलिए दर्शन मोक्ष का स्वरूप और उसका उपाय बतलाता है। मोक्ष का स्वरूप और उसका उपाय प्रत्येक दर्शन में पृथक्–पृथक् है। वैदिक दर्शन श्रुति को प्रमाण मानते हैं जबकि जैन दर्शन आध्यात्मिक तथ्यों पर आधारित अनुभूति को अन्तिम प्रमाण स्वीकारते हैं। आत्मानुभूति ही उनकी अन्तिम कसौटी है। सांसारिक आत्मा अविद्या अथवा मिथ्यात्व से आविष्ट होकर भवभ्रमण करती रहती है। प्रायः सभी दर्शन विरक्ति भाव के पोषक हैं। भले ही उनमें प्रमाण का अन्तर है। विरक्ति ही मोक्ष का कारण है। कर्मों से पूर्णतः मुक्ति ही मोक्ष है। जैनधर्म और दर्शन इसके लिए परम वीतरागता को मुख्य कारण मानता है। यही उसकी आध्यात्मिक तथ्य की खोज है जिसे हम दर्शन का प्रमुख उद्देश्य कह सकते हैं।

दर्शन की परिभाषा

जैन दर्शन की दृष्टि से दर्शन का मूल लक्ष्य है आत्मा का साक्षात्कार जो हेयोपादेय पर आधारित है। हेयोपादेय का ज्ञाता जीव है जिसे चेतन या चेतना भी कहा जाता था। वही ज्ञेय भी है। वस्तुतत्त्व की यथार्थ जानकारी बिना जीव जन्म–मरण के चक्कर लगाता रहता है। इसलिए सप्त तत्त्वों या नव पदार्थों में उसको प्रथम स्थान दिया गया है। मुख्य तत्त्व दो ही हैं – जीव और अजीव। कर्मों के संयोग और वियोग के कारण आश्रव–बन्ध, संवर–निर्जरा, पुण्य–पाप और मोक्ष तत्त्व भी जुड जाते हैं। आश्रव बंध, पुण्य और पाप ये चार तत्त्व जीव–अजीव के संयोग से बनते हैं और संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तत्त्व अजीव रूप कर्म पदार्थ के वियोग से बनते हैं।

ज्ञात–अज्ञात तत्त्वों का निर्णय आत्मतत्त्व से ही होता है। उनके अस्तित्व, अनस्तित्व, सम्बन्ध, मूल्यांकन आदि विषयों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाला तत्त्व चेतन ही है। आत्मतत्त्व ही है। सांसारिक वस्तुओं के साथ प्रियत्व और अप्रियत्व का भाव जुडा रहता है। ये दोनों भाव व्यक्ति के राग–द्वेष पर निर्भर करता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार व्यक्ति वस्तु तत्त्व का मूल्यांकन करता है, उसके साथ शुभ–अशुभ भावों का इच्छात्मक संयोग होता है। व्यावहारिक और पारमार्थिक दृष्टि से उस पर विचार किया जाता है। परमार्थ दृष्टि से आत्मतत्त्व ही उपादेय माना गया है और शेष तत्त्वों को हेय की श्रेणी में संयोजित कर दिया गया है। इसलिए अपनी आत्मा का जो निश्चय है वही दर्शन है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने समयसार में दर्शन शब्द की व्याख्या इसी रूप में की है। आत्मा की शुद्ध–अशुद्ध दशा का निर्णय इसी दर्शन से होता है। शुद्ध का सम्बन्ध परमार्थ दशा से है और अशुद्ध का सम्बन्ध व्यवहार दशा से है। शुद्धत्व दशा की प्राप्ति के साधन तीन हैं – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। इसी को रत्नत्रय कहा जाता है। इसी के आधार पर आश्रव को हेय और संवर की साधना को उपादेय कहा जाता है। आश्रव दुःख का कारण है इसलिए हेय है और दुःखों को दूर करने का उपाय संवर की साधना है इसलिए वह उपादेय है। इसी हेयोपादेय की अनुभूति दर्शन है। आप्त पुरुषों ने इसी तत्त्व पर विचार किया है। इसलिए उनकी विचारधारा भी दर्शन है। यहां दर्शन का सम्बन्ध निर्ग्रण्ठ परम्परा से है।

निग्गण्ठ (जैन) परम्परा में दर्शन को आध्यात्मिक दृष्टि से समझा गया है। बोध पाहुड के अनुसार जो मोक्षमार्ग को दिखाता है वह दर्शन है। वह मोक्षमार्ग सम्यक्त्व, संयम और उत्तम धर्मरूप है। वह बाह्य में निर्ग्रन्थ और अन्तरंग में रत्नत्रयी ऐसे मुनि के रूप को दर्शन माना है –

दंसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्तसंयमं सुधम्मं च।
णिग्गंथणाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं।।४।।

दर्शन का व्युत्पत्तिगम्य अर्थ है – पश्यति दृश्यते अनेन दृष्टिमानंवा दर्शनम् अर्थात् जो देखता है या जिसके द्वारा देखा जाये वह दर्शन है (स.सिद्धि १.१.६) एवम्भूतनय की अपेक्षा दर्शन पर्याय से परिणत आत्मा ही दर्शन है। (रा.वा.१.१)। इसी दृष्टि से यहां दर्शन को अध्यात्म तत्त्व से जोड दिया गया है। इसके बाद दर्शनोपयोग के अनेक लक्षण किये गये और उसका ज्ञान के साथ भेद किया गया। प्रथमतः पदार्थ को देखने पर उसकी जब सत्ता मात्र का ग्रहण होता है तब उसे दर्शन कहते हैं और फिर जब यह शुक्ल है, यह कृष्ण है आदि रूप से विकल्प उत्पन्न होते हैं तब उसको ज्ञान कहा जाता है। (द्रव्यसंग्रह टीका, ४३) इसी आधार पर दर्शनोपयोग के चार भेदों का उल्लेख हुआ है – चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलिदर्शन। इनमें सामान्य–विशेषात्मक, आत्मस्वरूप के ग्रहण का अर्थ दर्शन है। तात्पर्य यह है कि जैन परम्परा में दर्शन को प्रथमतः अध्यात्म से जोडा है। उसकी मूल भित्ति आत्मा है। इसलिए जैन दर्शन को आत्मवादी दर्शन माना गया है।

जो दर्शन आत्मवादी होता है वह कर्मशक्ति पर अनिवार्य रूप से विश्वास करता है। इसलिए वह चिन्तन करता है कि इन कर्मों से मुक्त कैसे हुआ जाये? पुनर्जन्म कर्मों का ही फल है। कर्म से ही जन्म–मरण की प्रक्रिया चलती रहती है जो आत्मा के अस्तित्व पर ही आधारित है। आत्मा के अस्तित्व की स्वीकृति होने के बाद ही आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्व की अवधारणा स्थापित हो जाती है। यहीं से दर्शन की उत्पत्ति प्रारम्भ होती है। यह दर्शन इस काल में प्रारम्भिक स्थिति में कहा जा सकता है जो श्रद्धा प्रधान अधिक था। इसलिए उसे आगम युग की संज्ञा दी गई है। उसके बाद तर्क–वितर्क का युग आता है। जिसे दर्शन युग कहा जाता है। इसमें श्रद्धा और तर्क दोनों का

समन्वय होता है। उत्तर काल में श्रद्धा का स्थान कम हो गया और तर्क का रूप–स्वरूप बदलता गया। उसका विकास होता गया और जल्प वितण्डा ने स्थान ले लिया। जय–पराजय की व्यवस्था आई। इस व्यवस्था में आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद का प्रभाव बढा जिन्हें जैन दर्शन ने अपना विषय बनाया।

जैनाचार्यों ने दर्शन शब्द का प्रयोग मूलतः आत्मानुभूति के सन्दर्भ में किया है। जैनेतर दर्शनों में दृष्टि परम्परा आत्मगवेषक रही है पर गाय, स्वर्ण और दासियों के परिग्रह से वह मुक्त नहीं हो सकी। इसलिए दर्शन शब्द का प्रयोग साधारण तौर पर आत्मविद्या या तत्त्वविद्या से सम्बद्ध रहा है। बाह्यरूप से दर्शन चक्षुदर्शन से जुडा है। पर आत्मानुभूति के साथ जुडने से वह अतीन्द्रियार्थ दर्शन की ओर बढ जाता है। ऐसा दर्शन यथार्थ और अविकल ज्ञान को साधे रहता है। वहां तर्क खण्डित हो जाता है और यथार्थ दृष्टा का रूप खडा हो जाता है। इसलिए उत्तरकाल में दर्शन का अर्थ दृढ श्रद्धा हो गया। **"तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्,"** (त.सू.) दर्शन शब्द अध्यात्मविद्या को भी समाहित किये हुए है जिसे तर्क और अनुभूति के माध्यम से सिद्ध किया जाता है। वही अन्त में दर्शनशास्त्र बन जाता है।

इस तरह दर्शन शब्द का अर्थपरक विकास चार स्तरों में दृष्टव्य है –

१. चाक्षुष दर्शन
२. स्वानुभूतिपरक दर्शन
३. अध्यात्मपरक दर्शन और
४. दर्शनशास्त्र

दर्शनशास्त्र में दार्शनिक समस्याओं का जन्म होता है और सप्रमाण युक्तिपरक उनका समाधान प्रस्तुत किया जाता है। इससे प्रमाणशास्त्र का जन्म हुआ। इसमे जिन दार्शनिक समस्याओं पर चिन्तन हुआ उनमें प्रमुख ये हैं –

१. जगत–सृष्टि, २. आत्मतत्त्व, ३. ईश्वर, ४. विश्वविज्ञान, ५. सत्ताशास्त्र और ६. प्रमाणशास्त्र। दर्शनशास्त्र में इन दार्शनिक समस्याओं का समाधान किया जाता है जिसका मुख्य लक्ष्य है मोक्ष–प्राप्ति जिसमें इच्छाओं का पूर्णतः अन्त हो जाता है, दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।

दर्शन की यह अवधारणा आत्मगवेषणा की प्रक्रिया है, निराकुल होने का एक सशक्त साधन है, स्वानुभूतिजन्य धार्मिक चेतना को जागृत करने की एक तत्त्व विद्या है। सत्य एक है पर उसकी अभिव्यक्ति भिन्न–भिन्न है। जैन दर्शन अतीन्द्रिय सत्ता की अनुभूति के लिए त्याग और तपस्या को आवश्यक मानता है। उसकी दृष्टि में परिग्रह हिंसा का कारण है और हिंसा से कर्म की दिव्य ज्योति प्रगट नहीं हो सकती। आप्तत्व, वीतरागता और सर्वज्ञता जैसे सिद्धान्त परस्पर सम्बद्ध हैं। धार्मिक चेतना से वे अनुस्यूत हैं। दर्शन का मूल लक्ष्य है, चित्तवृत्ति का निरोध और श्रवण, मनन, निदिध्यासन की प्रक्रिया द्वारा रत्नत्रय की साधना पूर्वक समाधि प्राप्त करना। आचार और विचार का समन्वय ही दर्शन की मूल अवधारणा है। इसके लिए जैन दर्शन में अंधु–पंग न्याय प्रसिद्ध है जिसमें धर्म और दर्शन की समन्वित साधना का भाव आपूरित है।

आगम युग का विकसित रूप दर्शन युग में दिखाई देता है। आगम युग ल.ई.पू. पांचवीं शती से प्रारम्भ होता है। दर्शन की उत्पत्ति का मूल स्रोत आगम ही है। आगम युग में ऋषि मुनि (आयारो १.१.१८)आत्मतत्त्व पर श्रद्धा व्यक्त करते थे। जबकि दर्शन युग में उनकी भाषा परिवर्तित हो जाती है और दर्शनयुग की पृष्ठभूमि में परीक्षाप्रधानी होकर आगमयुग श्रद्धा प्रधान है और दर्शनयुग परीक्षा प्रधान बन जाता है। चूंकि दर्शनयुग आगमयुग पर ही आधारित हो जाता है इसलिए वहां श्रद्धा का भी सन्दर्भ रहा है। दोनों की समन्वित अवस्था ही दर्शनयुग की विशेषता है। सत्य दर्शन भी इसी रूप से होता है। यदि समन्वित अवस्था को स्वीकारा नहीं गया तो उससे दृष्टि में कदाग्रह या मिथ्यात्व का समावेश हो जाता है। तीर्थंकर महावीर के समय ३६३ मतवादों का उल्लेख आता है। इन मतों की स्थापना में तर्कों का आश्रय लिया गया और धर्मों को तर्कों के माध्यम से प्रस्थापित किया गया। **"वादे वादे जायते तत्त्वबोधः"** की पृष्ठभूमि में वाद में युक्ति का महत्त्व बढ गया। फलतः **"युक्तिमद् वचन यस्य तस्य कार्यः प्रतिग्रहः"** का सन्देश गूंज उठा और दर्शन युग का सूत्रपात हुआ।

वस्तुतः जैनदर्शन के क्षेत्र में विकासात्मक प्रक्रिया इतनी अधिक नहीं हुई जितनी बौद्धदर्शन में हुई है। इस प्रक्रिया पर जैनेतर दर्शनों की विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में विचार किया जाना अपेक्षित है। हमने इस आधार पर विचार अवश्य

किया है पर अभी भी इस क्षेत्र में पूरी गम्भीरता पूर्वक शोधकार्य करने की महती

आवश्यकता है। हमने अपने इस शोधकार्य में प्राकृत और संस्कृत साहित्य का विशेष आधार लिया है।

कवि कुलगुरु कालिदास संस्कृत विश्व विद्यालय एक विकासमान मानित विश्व विद्यालय है। शिक्षा के क्षेत्र में उसने इतने कम समय में जिस ऊंचाई को छुवा है वह विशेष उल्लेखनीय है। प्रोफेसर डॉ. श्रीनिवास बरखेडी, कुलगुरु और प्रोफेसर डॉ. मधुसूदन पेन्ना के हम हार्दिक कृतज्ञ हैं जिनके सफल संयोजकत्व में प्रकाशन विभाग बहुत गतिशील है और उसी गतिशीलता का परिणाम है हमारी इस पुस्तक "**जैनदर्शन का वैज्ञानिक अध्ययन**" का प्रकाशन। यह गतिशीलता अविच्छिन्न बनी रहे, यही हमारी भावना है।

नागपुर — महामहोपाध्याय

०८.१२.२०२० — प्रोफेसर एमेरिटस (डॉ.) भागचंद्र जैन 'भास्कर'

सदर, नागपुर–४४०००१
९४२१३६३९२६

परिवर्त – १

१. तत्त्वमीमांसा

जीवन दृष्टि एक तत्त्व है जो ज्ञान और आचरण का समन्वित रूप है। **"चारित्तं खलु धम्मो"** और **"णाणस्स सारो आयारो"** कहकर तीर्थंकर महावीर और उनके पश्चात्वर्ती आचार्यो ने जीवन में उस आचरण के महत्त्व को स्पष्ट कर दिया है जो सही ज्ञान और दृष्टि पर आधारित हो। तत्त्व जगत पर विचार करने के बाद ही जीवन व्यवहार में आचार की अभिव्यक्ति होती है। आध्यात्मिकता की चरमावस्था को पाने में दर्शन और आचरण एक साथ चलते हैं। ज्ञान, अनुभूति और क्रिया को समाहित किये बिना परमात्मदशा प्राप्त की ही नहीं जा सकती है। उनकी व्याख्या भले ही अलग-अलग हो पर उनको एक साथ मिलाये बिना, एक मार्ग की कल्पना किये बिना मोक्ष फल नहीं पाया जा सकता है। व्यावहारिक स्तर पर भी यही अनुभव किया जाता है कि शुभ संस्कारों के निर्माण में तत्त्वदर्शन का सम्यक् ज्ञान कितना आवश्यक है और तदनुसार आचरण कितना फलदायी है, जैनदर्शन इस दृष्टि से समन्वयवादी है। वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र को समान महत्त्व देकर उसके एकीकृत रूप को स्वीकार करता है (तत्त्वार्थ रा. १.४९ में उद्धृत पद्य १४)।

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया।
धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पङ्गुलः।

तत्त्वज्ञान सम्यक् दृष्टि का निर्माण करता है तो आचार दर्शन, आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टि देता है। तत्त्वज्ञान के आधार पर ही जीवन-व्यवहार में मूल्यों का निर्धारण होता है। चरम सत्य को जानने में मूल्यों का मूल्यांकन होता है। वहां एक ओर तत्त्वज्ञान मार्ग-दृष्टि देता है तो आचार दर्शन उसे तदनुरूप आचरण देता है। जीवन के समग्र संचालन में ज्ञान, अनुभूति और क्रिया पक्ष अधिक प्रबल होते हैं। ये तीनों पृथक् पृथक् होने पर भी माला में मोती जैसे अनुस्यूत हैं। उमास्वामी ने **"सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः"** कहकर यही तथ्य स्थापित किया है। यहां दर्शन और ज्ञान अत्यन्त सहभागी हैं। इसे हम समग्र रूप में तत्त्वज्ञान कह सकते हैं। तत्त्वदर्शन और ज्ञान-दर्शन, दोनों

इसमें समाहित हैं। तत्त्वदर्शन में नैतिक, कलात्मक और आध्यात्मिक सभी प्रकार के मूल्यों का समावेश है। उनमें भी आध्यात्मिक अनुचिन्तन प्रमुख है। पहले हम तत्त्वदर्शन को समझ लें।

प्राचीन काल से ही व्यक्ति आत्मा, लोक, ईश्वर आदि जैसे तत्त्वों की जानकारी में उलझा रहा है। बुद्ध ने तो 'अव्याकृत' कहकर उनसे पिण्ड छुडा लिया पर महावीर ने स्याद्वाद और अनेकान्तवाद का आधार लेकर उनका सयुक्तिक और सापेक्षिक उत्तर दिया । दर्शन के क्षेत्र में ऐसे प्रश्न तत्त्व, ज्ञान, अनुभव और तर्क पर आधारित रहे हैं । दर्शन का अर्थ ही है तत्त्व का साक्षात्कार जिसकी फलश्रुति होती है कर्माश्रवों की निर्जराकर मोक्ष की प्राप्ति। इन तत्त्वों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए धर्म को आचार और नीतितत्त्व के रूप में दर्शन और ज्ञान से अनुस्यूत कर दिया गया। अतः समन्वयात्मकता होने पर भी हमने यहां तत्त्व, ज्ञान और आचार मीमांसा के आधार पर जैन दर्शन को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है ताकि सुघी पाठक को उसे समझने में विशेष सुविधा हो। इस अध्याय में तत्त्व और ज्ञान दर्शन पर विचार कर लें जो अहिंसा की पृष्ठभूमि में ही पनपे हैं।

सत्यसंधान और तर्क

तत्त्व मीमांसा विश्व की व्याख्या है तो तर्क और युक्ति पर प्रतिष्ठित है। यह व्याख्या जीव और अजीव नामक तत्त्वों पर आधारित है। सभी तत्त्वों का समावेश इन दोनों तत्त्वों में हो जाता है। तत्त्वचिन्तन की भूमिका में द्रव्य, आत्मा और कर्म के स्वरूप पर विचार किया जाता है। ज्ञेय, हेय और उपादेय की दृष्टि से पारमार्थिक और व्यावहारिक धरातल पर उनका मूल्यांकन किया जाता है। आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्व भी फिर उसमें जुड जाते हैं। इन सप्त तत्त्वों के चिन्तन का लक्ष्य रहता है व्यक्ति को दुःख से परम सुख की ओर ले जाना। यही मोक्ष है। ये सभी पदार्थ ज्ञेय हैं। आत्मा के साथ विजातीय तत्त्व कर्म हेय हैं और हेय ही उपादेय है। यही सत्य है। इस गूढ सत्य का साक्षात्कार करने वाला परम वीतराग आप्त जिन ही हो सकता है, अन्य कोई नहीं। राग, द्वेष, मोह से पूर्णतः विमुक्त हुए बिना उसका सही साक्षात्कार नहीं किया जा सकता है। दशवैकालिक के अनुसार मोक्षयात्रा का प्रथम सोपान तत्त्वज्ञान है उसके बिना निर्वाण नहीं हो सकता।

आप्त महावीर के उपदेशों का संकलन है आगम। भले ही उसमें प्रक्षिप्तांश आ गये हों। आगम युग में परीक्षा मिश्रित श्रद्धा प्रमुख है। इस तत्त्व के विस्तार में जब तर्क की प्रधानता आई तो वह दार्शनिक युग हो गया। किसके दर्शन को सही माना जाये, इसी पारस्परिक विवाद और संघर्ष में दर्शन का विकास हुआ। महावीर कालीन ऐसे क्रियावाद (१८०), अक्रियावाद (८४) अज्ञानवाद (६७) और वैनयिकवाद (३२), इस तरह ३६३ मतवादों का उल्लेख मिलता है। पालि साहित्य में इन्हीं को ६२ मिथ्यादृष्टियों में समाहित किया गया है। आदि सम्बन्धी १८ और अन्तसम्बन्धी ४४। उनकी समीचीनता को जानने के लिए तर्क का सहारा लिया गया और प्रमुख रूप से **"वादे वादे जायते तत्त्वबोधः"** तथा **"युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः"** जैसे विचार सामने आये।

उत्तरकालीन दार्शनिक युग में शुष्क तर्कवाद भी आ गया। मात्र अपने विचार को सिद्ध करने के लिए मण्डनमिश्र और शंकराचार्य के बीच हुआ विवाद इसी का जीता-जागता उदाहरण है। जैनाचार्यों ने कभी भी ऐसे शुष्क तर्कवाद का समर्थन नहीं किया। उन्होंने सूक्ष्म, व्यवहित तथा स्वभावसिद्ध पदार्थों की जानकारी के लिए युक्ति और तर्क का आश्रय लिया और उनसे आश्वस्त होने के बाद अविचलित श्रद्धा को मुख्य माना। सत्य संधान का यही मार्ग सम्यक् मार्ग है जो पूर्ण अहिंसा पर आधारित है। इसमें आत्मा के विशुद्ध रूप की प्राप्ति ही मूल उद्देश्य रहा है।

आत्मा का स्वरूप सर्वाधिक गहन रहा है। इसलिए दर्शन का संबन्ध सर्व प्रथम आत्मा, कर्म, नरक और स्वर्ग से रहा है। आस्तिक और नास्तिक वादों का जन्म भी इसी दर्शन धारा से हुआ। बाद में दर्शन का सम्बन्ध विश्व के स्वरूप की व्याख्या और सामाजिक परिवर्तन से जुडा। समग्र रूप में इसे तत्त्व कहा गया। इसलिए तत्त्व-परीक्षा को सभी मतों ने स्वीकार किया और उसकी स्वीकृति में आगम को आधार बनाया, उसे प्रमाण माना। इसी सन्दर्भ में जैनधर्म-दर्शन ने जीव-अजीव, लोक-अलोक, धर्म-अधर्म, बन्ध-मोक्ष, पुण्य-पाप, क्रिया-अक्रिया जैसे तत्त्वों की आस्तिकता को व्यक्तकर **"परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्य, मद्वचो न तु गौरवात्"** की उद्घोषणा की।

जैन दर्शन कर्मवादी है, आत्मवादी है। वह कर्मों से विमुक्त विशुद्ध आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करता है। कर्म जन्म दुःखों से मुक्त होने की प्रक्रिया ही क्रियावाद है। प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है। कर्मों से वह परतन्त्र बन गया। उसे स्वानुभूति और कठोर तपस्या के माध्यम से अपने ही पुरुषार्थ से उस परतन्त्रता को दूर करना पडता है। इस परतन्त्रता से विनिर्मुक्त होने में व्यक्ति निराशावादी नहीं रहता बल्कि जीवन का अन्तिम सीमा तक आध्यात्मिक विकास करता हुआ निर्वाण को प्राप्त करता है। इसलिए जैनधर्म पूर्णतः आस्तिकवादी धर्म है। उसमें आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद का दर्शन भरा हुआ है। दुःख निवृत्ति की जिज्ञासा से उसका प्रारम्भ होता है और पूर्णतः दुःखनिवृत्ति में उसका लक्ष्य समाप्त होता है। उसे नास्तिक कहना कोरा भ्रम और एकपक्षीय है। वह तो जीवनमुक्ति की अवधारणा प्रस्तुत करता है जिसमें वर्तमान जीवन में शान्ति लाभ प्राप्त करके मोक्षावस्था में चरमानन्द को प्राप्त किया जा सकता है। आध्यात्मिक सत्य को प्रमाणित करने का यही सच्चा और यथार्थ मार्ग है।

जैनधर्म का वैचारिक पक्ष है जैनदर्शन जिसका प्रारम्भ धर्म के साथ ही हुआ है। अतः उसे जैनधर्म–दर्शन के रूप में अभिहित करना अप्रासंगिक नहीं होगा। इसका साहित्य छह भागों में विभाजित किया जा सकता है – आगमकाल, अनेकान्त स्थापनकाल, प्रमाणशास्त्र, नव्य व्यवस्थाकाल और न्यायकाल। इन कालों में हुए जैनाचार्यों ने तत्त्व–ज्ञान के सन्दर्भ में गम्भीर चिन्तन दिया है।

इसी आधार पर उत्तरकाल में आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबली, कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, हरिभद्र, हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने इस विषय पर अच्छी चर्चा की है।

द्रव्य का स्वरूप

विश्व की व्याख्या आचार्यों ने द्रव्य के आधार पर की और द्रव्य का वर्गीकरण किया अस्तिकाय और अनस्तिकाय के आधार पर। जैनधर्म–दर्शन में द्रव्यों की संख्या छह है। उनमें धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव को अस्तिकाय तथा काल को अनस्तिकाय माना है। सत् शब्द सामान्य सत्ता का सूचक है और द्रव्य शब्द से विशेष सत्ता की सूचना मिलती है। उमास्वामी ने सत् उसे कहा है जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है (उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्तं

सत्, सद्द्रव्य-लक्षणम्, त.सू. २८-२९)। ध्रौव्य को 'द्रव्य' कहते हैं और उत्पाद-व्यय को पर्याय। उत्पाद व्ययरूप कहा जाता है। ध्रौव्य नित्यता, सदृशता और एकता का प्रतीक है जबकि पर्याय अनित्यता, विसदृशता और अनेकता को स्पष्ट करता है (पंचास्तिकाय, गाथा १५०)। अर्थात् अनन्त गुणों के अखण्ड पिण्ड को 'द्रव्य' कहा जाता है। उसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीन त्रिपदी के रूप में रहते हैं। उदाहरण के तौर पर मिट्टी ध्रौव्य है, घटादिक पर्याय में उत्पाद और व्यय हैं (वही, २.७-८)। इस आधार पर जैन दर्शन सदसत्कार्यवादी है। कोई भी द्रव्य न सर्वथा नित्य है, न सर्वथा अनित्य, किन्तु परिणामी नित्य है। इसमें द्रव्य की आगमकालीन दोनों परिभाषाओं का समन्वय किया गया है- गुण का आश्रय रूप द्रव्य और अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड रूप द्रव्य। समूचा जीव-जगत इस त्रिपदी के खाचे में समाहित है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से उत्पन्न नहीं होता। सभी द्रव्य स्वभावसिद्ध और अनादि निधन हैं। उन्हें अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं रहती। उत्पाद व्यय के बिना नहीं होता और व्यय उत्पाद के बिना नहीं होता। यही उत्पाद और व्यय ध्रौव्य है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य पर्यायों में होते हैं और पर्याय द्रव्य में होती है। इसलिए सब एक ही द्रव्य हैं। द्रव्य का उत्पाद-व्यय नहीं होता, किन्तु पर्यायों का होता है और वे पर्याय में द्रव्यरूप हैं। द्रव्य से भिन्न न कोई गुण है और न कोई पर्याय है। जैसे स्वर्ण से भिन्न न पीतत्व गुण है और न कुण्डलादि पर्याय हैं। सामान्य गुण कहीं छह हैं और कही दस हैं - अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व और अमूर्तत्व। इनमें से प्रत्येक द्रव्य में आठ गुण होते हैं। अकलंक ने इन गुणों को पारिणामिक भाव माना है। विशेष गुणों की संख्या १६ है - ज्ञान, दर्शन, सुख आदि।

द्रव्य और गुण के सम्बन्ध के विषय में दार्शनिकों में मतभेद है। कोई भेदवादी हैं कोई अभेदवादी हैं और कोई भेदाभेदवादी हैं। कुन्दकुन्द, उमास्वामी, सिद्ध, अकलंक आदि जैनाचार्यों ने अभेदाभेदवाद का निरूपण किया है। उनके अनुसार द्रव्य और गुण में सर्वथा भेद या अभेद नहीं है। इस सन्दर्भ में उन्होंने वैशेषिक दर्शन के समवाय सम्बन्ध का खण्डन किया है और उनमें तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित किया है। सहवर्ती द्रव्य और गुणों में कथंचित् एकत्व या तादात्म्य सम्बन्ध ही है।

संयोग गुण

इस सन्दर्भ में हम संयोग नामक गुण पर भी विचार कर लें। द्रव्याश्रित संयोग नामक गुण की कल्पना नैयायिक–वैशेषिकों ने की है। उनकी दृष्टि में वह एक होकर भी अनेक द्रव्याश्रित है। उसमें गुण–गुणी का सम्बन्ध समवाय नामक पदार्थ के कारण होता है। अतः उन्होने द्रव्य, गुण और समवाय नामक तीन स्वतन्त्र वस्तुभूत पदार्थ नहीं माने हैं।

बौद्ध दर्शन ने संयोग को स्वतन्त्र पदार्थ नहीं माना (प्रमाण वार्तिक, १,९३)। उसकी दृष्टि में संयोग पदार्थ की कल्पना करना आवश्यक नहीं। विजातीय व्यावृत्ति के भेद से एक ही वस्तु नाना प्रकार की कल्पना का विषय बन सकती है। जैसे "यह एक पंक्ति है" "यह दीर्घ पंक्ति है" इत्यादि प्रत्यय होने पर भी पंक्तिगत एकत्व या दीर्घत्व स्वीकार नहीं किया क्योंकि संयोग होने के कारण पंक्ति गुण है और गुण में गुण रहता नहीं। उसी तरह बौद्ध दर्शन भी नीलादि बाह्य वस्तु के अतिरिक्त तद्गत संयोग नामक गुण की कल्पना करना आवश्यक नहीं मानता (प्रमाण वार्तिक, १.९३)। संयुक्त प्रतीति का विषय संयोग मात्र है, अन्य नहीं। उसके अतिरिक्त संयोग नामक कोई और पदार्थ की कल्पना करना आवश्यक नहीं (प्रमाण वार्तिक, १,११६)।

संयोग न विकृष्ट अवस्था में दिखता है और न सन्निकृष्ट अवस्था में दिखता है। परन्तु संयोग शब्द से वैसी अवस्था का आभास अवश्य होने लगता है। अतएव विकल्प ज्ञान का विषय होने के कारण उसे वस्तुभूत नहीं कहा जा सकता है। पदार्थ का भेद शब्दज्ञान की विलक्षणता से नहीं, अपितु प्रत्यक्ष ज्ञान के भेद से होता है। अनादिवासना के कारण नाना प्रकार की विकल्पात्मिका बुद्धि होती रहती है। अतएव विकल्प बुद्धि के आधार पर बाह्य वस्तु की व्यवस्था करना उचित नहीं है। उसकी प्रतिष्ठा तो प्रत्यक्ष प्रतीति के ऊपर निर्भर है (वही पृ–११६)। वह वास्तविक न होकर औपचारिक ही माना जाना चाहिए।

बौद्ध दर्शन में इसी तरह द्रव्य से पृथक् समस्त गुणों का निराकरण किया गया है। अतएव वहां गुण–गुणी का भेद नहीं है। एक ही शब्द उसकी दृष्टि में धर्म, धर्मी और उसके समुदाय का वाचक हो जाता है। अतएव शब्द के बल पर वस्तु–व्यवस्था करना ठीक नहीं है।

अद्वैतवादी वेदान्त ने भी बौद्धदर्शन का समर्थन किया है। मात्र अन्तर यह है कि वेदान्त ने संयोग नामक गुण को द्रव्यात्मक माना है। जबकि बौद्धों ने द्रव्य के स्थिर रूप को न मानकर उसे क्षणिक स्वीकार किया है। बौद्धों की तरह वेदान्तियों ने भी समवाय जैसे किसी सम्बन्ध को पृथक् माना ही नहीं।

जैन दार्शनिकों ने भी ऐसे संयोग का खण्डन किया है। जिस तरह द्रव्य वास्तविक हैं वैसे ही उनके पर्याय भी वास्तविक हैं। अतएव बौद्ध दर्शन की तरह यहां भी संयोग को वासना मूलक मानकर उसका निराकरण नहीं किया गया। इस निराकरण में अन्तर यह है कि जैन परम्परा वासना मूलक कहकर भी उसे वस्तु की पर्याय मानकर वस्तुभूत ही सिद्ध करता है और बौद्ध परम्परा वासना मूलक कह करके उसे अवस्तुभूत मानती है। जैन परम्परा प्रत्येक संयोगी व्यक्तियों में पृथक्-पृथक् संयोग मानती है। उसकी यह मान्यता मीमांसकों से मिलती-जुलती है।

द्रव्य और पर्याय में सापेक्षिक भेद है। पर्याय की दृष्टि से उन में भेद रहता है पर द्रव्य की दृष्टि से वे एकत्व में गुंथे हुए रहते हैं। द्रव्य को गुण और पर्यायों का आधार माना गया है। गुण द्रव्य का स्वलक्षण है और पर्याय द्रव्य का विकार है। ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं। पर्यायों में होनेवाला परिवर्तन वस्तुतः द्रव्य का ही परिवर्तन है। पर्याय द्रव्य की भी होती है और पर्याय की भी होती है। वह पर्याय दो प्रकार का है – १) अर्थपर्याय जो सूक्ष्म है और दूसरा व्यंजन पर्याय जो स्थूल है। ये दोनों यथार्थ और वास्तविक हैं, प्रातिभासिक नहीं हैं। इसलिए जैन दर्शन वस्तुवादी और बहुतत्त्ववादी है। इसमें परिवर्तनवाद भी है और नित्यसत्तावाद भी। इस परिणामी नित्यत्ववाद (तद्भावाव्यं नित्यम्, त.सू. ५.३०) की तुलना रासायनिक विज्ञान के द्रव्याक्षरत्ववाद से की जा सकती है।

आगम के उत्तरकाल की दृष्टि में जो गुण का आश्रय और अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है वही द्रव्य है। इसमें पहली परिभाषा स्वरूपात्मक है और दूसरी अवस्थात्मक। दोनों में समन्वय का तात्पर्य है – द्रव्य को परिणामी-नित्य स्थापित करना। द्रव्य में दो प्रकार के धर्म होते हैं – सहभावी (गुण) और क्रमभावी (पर्याय)। इसी को परिणामी – नित्य कहा जाता है। अर्थात् वहां सत्ता भी है और परिवर्तन भी है। ध्रुवत्व भी है। जो सजातीयता (यह वही है) का

आभास कराता है वह द्रव्य निर्विकार नहीं हो सकता अन्यथा विश्व की विविधता संभव नहीं होगी। द्रव्य की पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओं की सूचना ध्रुवतत्त्व से ही होती है। इसकी तुलना रासायनिक विज्ञान के "द्रव्याक्षरत्ववाद" से की जा सकती है।

सामान्य की दृष्टि से द्रव्य की कोई भेदकल्पना नहीं की जा सकती पर व्यवहार की दृष्टि से उसके सात भेद हैं – जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। पुण्य और पाप को मिलाकर उन्हें नव तत्त्वों की भी संज्ञा दी गई है।

सांख्य का नित्यानित्यत्ववाद और नैयायिक–वैशेषिक का परिणामी नित्यत्ववाद भी हमारे सामने है। पर जैन दर्शन की तरह वे द्रव्य मात्र को परिणामी नित्य नहीं मानते। बौद्धधर्म भेदवादी और असत्कार्यवादी है, क्षणभंगवादी और शून्यवादी है। पर जैनदर्शन भेदाभेदवाद को स्वीकार करता है। वह सामान्य विशेषात्मकता को लिये हुए है। अनेकान्तात्मक दृष्टि से वह कथंचित् भिन्न है, कथंचित् अभिन्न है। उपादान और निमित्त कारणों के माध्यम से पदार्थो का परिणमन, संगठन और विघटन होता रहता है। इसके लिए किसी ईश्वर आदि की आवश्यकता नहीं रहती। इसी तरह मीमांसक बाह्यार्थवादी है, परिणामवादी और भेदाभेदवादी है।

न्याय–वैशेषिक दर्शन में पृथ्वी आदि नव द्रव्यों और उनके विभिन्न गुणों और सम्बन्धों से संसार की सृष्टि होती है और इस दृष्टि में समवाय, अभाव आदि सात पदार्थ सहयोगी होते हैं। इसलिए उनका परिणामी नित्यत्ववाद प्रचलित है पर जैनदर्शन की तरह वे द्रव्य मात्र को परिणामी नित्य नहीं मानते (न्यायसूत्र भाष्य, १–१,९)। जैनदर्शन इन पदार्थो को द्रव्य की ही पर्यायों के रूप में स्वीकार करता है। सांख्य–योग मात्र प्रकृति को भौतिक जगत का मूल मानते हैं और पुरुष के संसर्ग से उसमें परिवर्तन को स्वीकार करते हैं। वे सत्कार्यवादी और नित्यानित्यत्ववादी है। मीमांसक बाह्यार्थवादी और परिणामवादी हैं। उसके परिवर्तन में वहां ईश्वर को कारण नहीं माना गया। बौद्धों ने गुण समुदाय को द्रव्य कहा और न्याय–वैशेषिक दर्शनों में द्रव्य शब्द का प्रयोग गुण–कर्माधार अर्थ में हुआ। द्रव्य और गुणों के बीच सम्बन्ध की दृष्टि से बौद्ध, न्याय, वैशेषिक आदि

दर्शन भेदवादी हैं। जैनदर्शन में भेदवाद, अभेदवाद और भेदाभेदवाद ये तीनों परम्पराएं मिलती हैं। वह वस्तुतः सदसत् कार्यवादी है।

प्राकृत में द्रव्य शब्द के लिए द्रव्य, दविय और दवित शब्दों का प्रयोग हुआ है। इनमें कदाचित् दविय शब्द प्राचीनतम रहा होगा। उसका प्राचीनतम प्रयोग आचारांग (१.१४९; १.७०; सू. १.२.१५; १.४.१० आदि) में काफी मिलता है। बाद में दव्व शब्द का प्रयोग प्रारम्भ हुआ होगा। (ठाठांग २.१३८; १४४; १५०; ३.१.२९, १४० आदि)। इसके बाद सत् शब्द का प्रयोग दार्शनिक क्षेत्र में होने लगा **(सद्द्रव्य लक्षणम् – तत्त्वार्थसूत्र)**। द्रव्य का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है – **अद्रुवत, द्रवति, द्रोष्यति तांस्तान् पर्यायान, इति द्रव्यम्**। अर्थात् जो विविध अवस्थाओं में परिवर्तित होता रहता है, बदलता रहता है वह द्रव्य है। इस परिवर्तन में उसकी पर्याय बदलती रहती है। उत्पाद, विनाश होता रहता है पर उसका मूल रूप स्थिर रहता है। ध्रुव रहता है **(उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य युक्तं सत् त.सू.)**, वह अनुस्यूत रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि वस्तु सर्वथा न नित्य है न अनित्य है, बल्कि परिणामी नित्य है। वह पर्यायों के रूप में उत्पन्न और नष्ट होता रहता है पर उसका मूल रूप स्थिर रहता है। अतः गुण और पर्याय के आधार को द्रव्य कहा जाता है।

द्रव्य के सन्दर्भ में मत वैभिन्न्य है। वेदान्त में सत् पदार्थ को नित्य माना गया है। सांख्य दर्शन चेतन तत्त्व रूप सत् को कूटस्थ नित्य और प्रकृति तत्त्व रूप सत् को परिणामी नित्य स्वीकार करता है। परन्तु जैन दर्शन में उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य रूप त्रयात्मक स्थिति का नाम सत् है। उसके अनुसार द्रव्य में उत्पाद–व्यय होता है फिर भी उसकी स्वरूप हानि नहीं होती। पूर्वाचार्यों ने यही कहा है–

परिणामो ह्यर्थान्तरगमनं न च सर्वथा व्यवस्थानम्।
न च सर्वथा विनाशः परिणामस्तद्विदामिष्टः।।
सत्पर्यायेण विनाशः प्रादुर्भावोऽसंता च पर्ययतः।
द्रव्याणां परिणामः प्रोक्तः खलु पर्ययनयस्य।।२।।

द्रव्य चेतन और अचेतन होता है। चेतन में आश्रव संवर, निर्जरा और मोक्ष है, और अचेतन के अन्तर्गत धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल, पुण्य,

पाप और बन्ध का समावेश होता है। द्रव्य का एक अन्य वर्गीकरण है – अस्तिकाय और अनस्तिकाय। षड्द्रव्यों में धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव को अस्तिकाय तथा काल को अनस्तिकाय माना जाता है। सत् शब्द सामान्य का सूचक है (त.सू. १.२८–२९)। ध्रौव्य को द्रव्य और उत्पाद–व्यय को पर्याय कहते हैं।

आगम काल में द्रव्य का स्वरूप

आगम साहित्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दो तत्त्व होते हैं – प्रमेय या सत् या द्रव्य जो गुण और पर्याय का समष्टि रूप है, चेतन और अचेतन के रूप में द्व्यात्मक है और दूसरा तत्त्व प्रमाण है जो दो प्रकार का है – प्रत्यक्ष और परोक्ष। परोक्ष के अन्तर्गत अनुमान, उपमान और आगम का अन्तर्भाव है (भगवती सूत्र)।

ध्रुव अवस्था के आश्रय से जो पर्याय विवक्षित है वह ऊर्ध्वता पर्याय है। इन्हें पर्याय और विशेष भी कहा जाता है। परिणाम शब्द का भी प्रयोग होता है जो ऊर्ध्वता सामान्य द्रव्य के पर्याय के अर्थ में ही आगमों में प्रयुक्त हुआ है।

भगवती में ही कहा गया है कि जीव–पर्याय अनन्त हैं। वनस्पतिकाय आदि अनन्त हैं। सिद्ध भी अनन्त हैं। प्रज्ञापना (पद ५) के विशेष पद से भी यही विवक्षित है। तिर्यक्सामान्य की दृष्टि से उनकी गणना की जाती है। नारक, देव, मनुष्य, तिर्यंच और सिद्ध भी अनन्त ही माने गये हैं।

विशेष भी पर्याय हैं। परिणाम भी पर्याय हैं। विशेष भी स्थायी नहीं और परिणाम भी स्थायी नहीं। परिणाम और विशेष दोनों अस्थिरता के कारण वस्तुतः पर्याय ही हैं। आगम में विशेषों को तथा परिणामों को पर्याय कहा गया है। तथागत बुद्ध ने पर्याय को ही प्रधानता देकर द्रव्य जैसी त्रैकालिक स्थिर वस्तु का निषेध किया। वे रूपवत् स्थायी द्रव्य नहीं मानते। परन्तु उपनिषदों में कूटस्थ ब्रह्मवाद में उसके विविध परिणामों को अविद्या का कारण माना है। सांख्य की प्रकृति परिणामवाद है, पर आत्मा को कूटस्थ नित्य माना है। इसके विपरीत तीर्थंकर महावीर ने आत्मा और जड दोनों में परिणमनशीलता के कारण परिणामवाद को सर्वव्यापी माना है।

भगवती सूत्र (१.९.७७) में ही द्रव्य–पर्याय के बीच भेदाभेद की स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि आत्मा द्रव्य है और सामायिक उसका पर्याय। इससे द्रव्य–पर्याय के बीच सापेक्षिक भेदाभेदवाद का समर्थन किया गया है। आत्म द्रव्य और उसका ज्ञान–परिणाम द्रव्य दृष्टि से अभिन्न है। आचारांग में स्पष्ट कहा गया है **जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया। जेण विजाणइ से आया (१.५.५)।** (भगवती, १२.१०.२.८८)। पर्याय दृष्टि से आत्मा और ज्ञान में भेद है। भगवती में आत्मा के आठ भेद माने गये हैं – द्रव्यात्मा, कषाय, योग, उपयोग, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य। यह विचार अनेकान्तवाद की दृष्टि से किया गया है।

तदनुसार द्रव्य का नाश नहीं होता, परिणमन होता है। आत्मा की भी सापेक्ष मृत्यु होती है। जन्म और मृत्यु दोनों सापेक्ष हैं। यहां यह उल्लेखनीय है कि आचार्य सिद्धसेन दिवाकर धर्म–अधर्म के स्वतन्त्र द्रव्यत्व को आवश्यक नहीं मानते। वे उन्हें द्रव्य के पर्याय मात्र मानते हैं **(निश्चय–द्वात्रिंशिका, २४)**। द्रव्य का एक अन्य वर्गीकरण है अस्तिकाय और अनस्तिकाय। षड द्रव्यों में धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव को अस्तिकाय तथा काल को अनस्तिकाय माना गया है। सत् शब्द सामान्य सत्ता का सूचक है (त.सू.१.२८–२९)। ध्रौव्य को द्रव्य कहते हैं और उत्पाद–व्यय को पर्याय।

भगवती (२५.२; २५.४) में द्रव्य को दो प्रकारों में विभाजित किया गया है – जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य। अजीव द्रव्य रूपी और अरूपी होते हैं। पुद्गलास्तिकाय रूपी है और धर्म, अधर्म, आकाश और काल अरूपी द्रव्य है। अस्तिकाय का तात्पर्य है–उनमें अवयवी द्रव्य की कल्पना प्रदर्शन के समूह के कारण संभव है। भगवती (२५.५) में ही पर्याय के दो भेद बताये गये हैं – जीव पर्याय और अजीव पर्याय। वही सामान्य द्रव्य दो प्रकार का है – तिर्यक् और ऊर्ध्वता सामान्य। द्रव्य के शाश्वत अंश को ऊर्ध्वता सामान्य और द्रव्य विशेषों में जो समानता की अनुभूति होती है वह तिर्यक् सामान्य द्रव्य है। वहीं जीव द्रव्य के दो भेद मिलते हैं – संसारी और सिद्ध। संसारी जीव के पांच भेद हैं – एकेन्द्रियादि जीव। पुद्गल चार प्रकार का है – स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्ध प्रदेश और परमाणु द्रव्य का शाश्वत अंश ऊर्ध्वता सामान्य।

पर्याय विचार

सामान्य के समान भगवतीसूत्र में पर्याय को भी दो प्रकार का बताया है – तिर्यक् पर्याय और ऊर्ध्वता सामान्य पर्याय। ऊर्ध्वतासामान्य रूप ध्रुव शाश्वत द्रव्य के आश्रय से जो पर्याय विवक्षित हो वे ऊर्ध्वता पर्याय हैं। स्वतन्त्र पृथक् जो द्रव्य विशेष हैं वे तिर्यक् द्रव्य की पर्याय हैं जिन्हें विशेष भी कहा जाता है। परिणाम शब्द का भी प्रयोग होता है यहां जो ऊर्ध्वतासामान्य द्रव्य के पर्याय के अर्थ में ही आगमों में प्रयुक्त हुआ है।

भगवती सूत्र में ही कहा गया है कि जीव पर्याय अनन्त हैं। वनस्पतिकाय आदि अनन्त हैं। सिद्ध भी अनन्त हैं। प्रज्ञापना (पद ५) के विशेष पद से भी यही विवक्षित है। तिर्यक्–सामान्य की दृष्टि से उनकी गणना की जाती है। नारक, देव, मनुष्य, तिर्यंच और सिद्ध भी अनन्त ही माने गये हैं।

विशेष भी पर्याय हैं। परिणाम भी पर्याय हैं। विशेष भी स्थायी नहीं और परिणाम भी स्थायी नहीं। परिणाम और विशेष दोनों अस्थिरता के कारण वस्तुतः पर्याय ही हैं। आगम में विशेषों को तथा परिणामों को पर्याय कहा गया है। तथागत बुद्ध ने पर्याय को ही प्रधानता देकर द्रव्य जैसी त्रैकालिक स्थिर वस्तु का निषेध किया। वे रूपपत् स्थायी द्रव्य नहीं मानते। परन्तु उपनिषदों में कूटस्थ ब्रह्मवाद में उसके विविध परिणामों को अविद्या का कारण माना है। सांख्य की प्रकृति परिणामवाद है, पर आत्मा को कूटस्थ नित्य माना है। इसके विपरीत तीर्थंकर महावीर ने आत्मा और जड दोनों में परिणमनशीलता के कारण परिणामवाद को सर्वव्यापी माना है।

भगवती सूत्र (१.९.७७) में ही द्रव्य–पर्याय के बीच भेदाभेद की स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि आत्मा द्रव्य है और सामायिक उसका पर्याय। इससे द्रव्य–पर्याय के बीच सापेक्षिक भेदाभेदवाद का समर्थन किया गया है। आत्म द्रव्य और उसका ज्ञान–परिणाम द्रव्य दृष्टि से अभिन्न है। आचारांग में स्पष्ट कहा गया है– **जे आया से विनया, जे विनया से आया। जेण विजाणइ से आया** (१.५.५. भगवती, १२.१०.४८८)। पर्याय दृष्टि से आत्मा और ज्ञान में भेद है। भगवती में आत्मा के आठ भेद माने गये है – द्रव्यात्मा, कषाय, योग,

उपयोग, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य। यह विचार अनेकान्तवाद की दृष्टि से किया गया है।

इसी आधार पर उत्तरकाल में आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबली, कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, हरिभद्र, हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने इस विषय पर अच्छी चर्चा की है।

द्रव्य का स्वरूप और वर्गीकरण उत्तरकाल में

उत्तरकाल में द्रव्य का वर्गीकरण अस्तिकाय और अनस्तिकाय के आधार पर किया गया है। षट्द्रव्यों में धर्म, आकाश, पुद्गल और जीव को अस्तिकाय तथा काल को अनस्तिकाय माना गया है। पुद्गल को छोडकर शेष चार द्रव्य मूर्तिक हैं। यहां कार्यत्व का अर्थ सप्रदेशत्व, सावयवत्व और विस्तारयुक्त है। काल में ये विशेषताएँ नहीं रहतीं। वहां प्रत्येक काल का प्रत्येक घटक स्वतन्त्र और पृथक् है इसलिए वह अनस्तिकायिक है। उत्तरकाल में यह वर्गीकरण चेतनालक्षण और मूर्तता–लक्षण के आधार पर किया गया। जीव को चेतन द्रव्य और शेष को अचेतन द्रव्य कहा गया। इसी तरह पुद्गल को मूर्त द्रव्य और शेष द्रव्यों को अमूर्त द्रव्य माना गया।

द्रव्य का स्वरूप वैशिष्ट्य

द्रव्य के स्वरूप के विषय में चिंतकों में काफी मतभेद रहा है, इन मतभेदों को हम इस प्रकार समझ सकते हैं –

१. परिणामी – नित्यत्त्व

जैनागमों में विश्व के मूलभूत घटक के लिए अस्तिकाय, तत्त्व और द्रव्य शब्दों का प्रयोग हुआ है। सत् शब्द का प्रयोग आगमयुग में नहीं हुआ। कुन्दकुन्द और उमास्वामी ने ही कदाचित् अस्तिकाय को प्रथमतः सत् शब्द दिया। इससे चिन्तन का क्षेत्र अधिक व्यापक हो गया। अभेदवादी दर्शनधारा में इसी शब्द का प्रयोग अधिक हुआ है तथा भेदवाद की ओर झुकी विचारधारा में द्रव्य शब्द के प्रयोग ने लोकप्रियता पाई है। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि सत् शब्द सामान्य सत्ता का सूचक है और द्रव्य शब्द से विशेष सत्ता की सूचना

मिलती है। वैसे साधारणतः दोनों शब्द अभिन्न हैं, एक दूसरे के परिपूरक हैं। "तत्त्व" में अवश्य भेद है। उसमें भेद और अभेद दोनों समाविष्ट हैं, जबकि सत् में कोई भेद नहीं किया जाता। नय की दृष्टि से सत् शब्द संग्रहनय का, द्रव्य शब्द व्यवहार नय का और तत्त्व शब्द नैगमनय का सूचक है। सत् अभेदात्मक है, द्रव्य भेदात्मक है और तत्त्व भेदाभेदात्मक है। जैन दर्शन में ये तीनों विचारधाराएँ पल्लवित हुई हैं। इसलिए यहां इन तीनों शब्दों का प्रयोग हुआ है।

तत्त्वचिन्तन में द्रव्य का प्रमुख स्थान उत्तरकाल में रहा है। हर दर्शन ने इस पर किसी न किसी सीमा तक विचार किया है। पाणिनि ने "द्रव्य" शब्द की सिद्धि तद्धित और कृदन्त प्रकरणों में की है। तद्धित प्रकरणों में दो व्युत्पतियाँ दी गई हैं। प्रथम व्युत्पति में द्रु (काष्ठ या वृक्ष) के साथ य अव्यय, विकार या अवयव अर्थ में आया है और दूसरी व्युत्पति में उसे तुल्य अर्थ में दिया गया है। अर्थात् काष्ठ का अवयव अथवा काष्ठ के तुल्य अनेक आकार धारण करने वाला पदार्थ द्रव्य है। कृदन्त के अनुसार गति-प्राप्ति निमित्तक द्रु धातु से कर्मार्थक य प्रत्यय का नियोजन होने पर "द्रव्य" शब्द की सिद्धि होती है। इससे पदार्थ की अनेक अवस्थाओं की सूचना मिलती है। अकलंक ने कर्तृ-कर्म में भेद विवक्षा करके इसकी सिद्धि की है। जब द्रव्य को कर्म-पर्यायों का कर्ता बनाते हैं तब कर्म में द्रु धातु से य प्रत्यय हो जाता है और जब द्रव्य को कर्ता मानते हैं तब बहुलापेक्षया कर्ता में 'य' प्रत्यय हो जाता है। इसका तात्पर्य है कि उत्पाद और विनाश आदि अनेक पर्यायों के होते रहने पर भी जो सान्ततिक द्रव्य दृष्टि से गमन करता जाये वह द्रव्य है। अथवा जैनेन्द्र व्याकरण के "द्रव्य भव्वे" सूत्र के अनुसार इसी द्रव्य शब्द को इवार्थक निपात माना जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि जिस प्रकार बिना गांठ की सीधी लकड़ी (द्रु) बढ़ई आदि के निमित्त से टेबिल-कुरसी आदि अनेक आकारों को प्राप्त होती है उसी तरह द्रव्य भी अल्प कारणों से उन-उन पर्यायों को प्राप्त होता रहता है। जैसे "पाषाण खोदने से पानी निकलता है" यहाँ अविभक्तिकर्तृक करण है उसी तरह द्रव्य और पर्याय में भी समझना चाहिए। (तत्त्वार्थ वार्तिक, ५-२, १-२, सं. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य)। उत्पाद-व्यय रूप द्रव्यगत अवस्थायें ही पर्याय या परिणाम के नाम से जैन दर्शन में जानी जाती है। अतः जैन दर्शन परिणामि-नित्यत्व को स्वीकार करता है।

(उत्पादव्यय ध्रौव्य युक्तं सत्, सद्द्रव्यलक्षणम्–तत्त्वार्थसूत्र, ५.२८,३० तद्भावाव्यं नित्यम्, ५–३३)।

२. सदसत्कार्यवादित्व

उमास्वामी ने सत् उसे कहा है जो उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य युक्त है (वही, ५–४१; समणसुत्तं, ६६२)। ध्रौव्य को 'द्रव्य' कहते हैं और उत्पाद–व्यय को 'गुण' कहते हैं। इसलिए **"गुणपर्ययवत् द्रव्यम"** भी द्रव्य की परिभाषा कही गई है (तत्त्वार्थ वार्तिक, ५–३०,१,३)। ध्रौव्य–नित्यता, सदृशता और एकता का प्रतीक है जबकि गुण–पर्याय अनित्यता, विसदृशता ओर अनेकता को स्पष्ट करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अनन्त गुणों के अखण्ड पिण्ड को द्रव्य कहा जाता है। उसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीन तत्त्व रहते हैं। जब चेतन या अचेतन द्रव्य स्वजाति को छोड़े बिना पर्यायान्त को प्राप्त करता है तो उसे उत्पाद कहा जाता है, जैसे मृत्पिण्ड में घट पर्याय। इसी प्रकार पूर्व पर्याय के विनाश को व्यय कहते हैं। जैसे घड़े की उत्पत्ति होने पर पिण्डाकार का नाश होता है। अनादि पारिणामिक स्वभाव से व्यय और उत्पाद नहीं होते किन्तु द्रव्य स्थित रहता है। जैसे पिण्ड और घट, दोनों अवस्थाओं में मिट्टी का अस्तित्व बना रहता है (तत्त्वार्थवार्तिक, ५–३०, १–३)। इस दृष्टि से जैन दर्शन सदसत् कार्यवादी है।

बौद्ध धर्म में रूप का लक्षण दिया गया है – उपचय, सन्तति, जरता और अनित्यता **(रूपस्स उपचयो सन्तति जरता अनिच्यता लक्खण रूपं नाम,** अभिधम्म. ६.१५)। उपचय एवं सन्तति उत्पत्ति का प्रतीक है, जरता स्थिति का प्रतीक है और अनित्यता भङ्ग का प्रतीक है **(तननं वित्थारणं तति, सम्बन्धा तति पुनप्पुनं वा तति सन्तति,** प.दी.पृ.२४६)। यहाँ सम्बद्ध वृद्धि को सन्तति कहा गया है जिसका सम्बन्ध उत्पत्ति के साथ अधिक है। उत्पत्ति के बाद निष्पन्न रूपों के निरुद्ध होने से पहले ४८ क्षुद्र क्षण मात्र स्थितिकाल को जीर्ण स्वभाव होने से जरता कहा जाता है। प्रत्येक क्षण में उत्पाद, स्थिति और भङ्ग–नामक तीन क्षुद्र क्षण होते हैं। रूप का एक क्षण चित्तवीथि के १६ क्षणों के बराबर होता है। १७ क्षणों में भी क्षुद्र क्षण ५१ होते हैं जिनके बराबर रूप का एक क्षण होता है। इन ५१ क्षुद्र क्षणों में से सर्वप्रथम उत्पाद क्षण को और अन्तिम भङ्ग क्षण को निकाल

देने पर चित्त के ४८ क्षुद्र क्षण के बराबर रूप की जरता का काल होता है। एक चित्तक्षण में ये उत्पाद–स्थिति–भंग इतनी शीघ्रता पूर्वक प्रवृत्त होते हैं कि एक अच्छरा काल (चुटकी बजाने या पलक मारने बराबर समय) में ये लाखों करोड़ों बार उत्पन्न होकर निरुद्ध हो जाते हैं (**एकच्छरक्खणे कोटि सतसहस्स सङ्खा उप्पज्जित्वा निरुज्झति**–विभ.अ.पृ.३४)। इन उत्पाद–व्यय भंग स्वभावी रूपों कों 'संस्कृत' कहा जाता है।

संस्कृत पदार्थ में परिवर्तन की शीघ्रता अन्वय की भ्रान्ति पैदा करती है। उसे ही 'स्थायी' कह देते हैं – अन्वय वशात्। वस्तुतः प्राणी का जीवन विचार के एक क्षण तक रहता है। उस क्षण के समाप्त होते ही प्राणी भी समाप्त हो जाता है (विसुद्धिमग्ग, ८)। इसे 'भेदवाद' कहते हैं। वैभाषिक–सौत्रान्तिक इसे मानते हैं। क्षणभंगवाद उनका चरम सत्य है। वे धर्मनैरात्म्य (बाह्य पदार्थ क्षणिक और निरंश परमाणुओं का पुञ्ज है) और पुद्गलनैरात्म्य (अनात्मवाद) को मानते हैं। सारा व्यवहार सन्ततिवाद और संघातवाद पर आश्रित है। संस्कृत पदार्थ प्रतीत्यसमुत्पन्न और अनित्य है। जिस पदार्थ का समुत्पाद कारण पूर्वक होता है वह स्वतन्त्र नहीं। अतः माध्यमिक वादियों ने पदार्थ को शून्यात्मक कहा है। (चतुःशतकम्, ३४८)।

वस्तुतः सत् को निर्विकार और अव्यय नहीं माना जा सकता अन्यथा जगत् को भी ऐसा ही मानना पड़ेगा। पर जगत् परिवर्तनशील और क्षणिक है। अतः जैनदर्शन उसे सामान्य–विशेषात्मक या भेदाभेदात्मक मानता है। इसलिए सत् में उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य ये तीनों तत्त्व समाहित हैं। यही उसकी अनेकान्त दृष्टि है।

द्रव्यः सामान्य और विशेष

द्रव्य के सामान्य और विशेष रूप होते हैं। सामान्य, अन्वय और गुण एकार्थक शब्द हैं। विशेष, भेद और पर्याय ये पर्यायार्थक शब्द हैं। सामान्य को विषय करने वाला द्रव्यार्थिक है और विशेष को विषय करने वाला पर्यायार्थिक है। सामान्य (गुण) अकेले द्रव्य में ही रहते हैं किन्तु विशेष (पर्याय) द्रव्य और गुण, दोनों में रहते हैं। सामान्य दो प्रकार का है – तिर्यक्सामान्य और

ऊर्ध्वतासामान्य। तिर्यक्सामान्य वह है जो एक काल में अनेक देशों में स्थित अनेक पदार्थों में समानता की अभिव्यक्ति कराये। जैसे–जीव के दो भेद हैं – संसारी और मुक्त। ऊर्ध्वतासामान्य में धौव्यात्मक तत्त्व पर विचार किया जाता है। जैसे जीव द्रव्यार्थिक दृष्टि से शाश्वत है और पर्यायार्थिक दृष्टि से अशाश्वत है। यहाँ जीव का अर्थ ऊर्ध्वता सामान्य से है।

सामान्य के समान पर्याय अथवा विशेष भी दो प्रकार का है – तिर्यक्विशेष और ऊर्ध्वताविशेष। तिर्यक्सामान्य के साथ रहने वाला विशेष तिर्यक्विशेष और ऊर्ध्वतासामान्य के साथ रहने वाला विशेष ऊर्ध्वताविशेष कहलाता है।

इस प्रकार द्रव्य और पर्याय में सापेक्षित भेद है। पर्याय की दृष्टि से उनमें भेद रहता है पर द्रव्य की दृष्टि से वे एकत्व में गुंथे हुए रहते हैं। द्रव्य को गुण और पर्यायों का आधार माना गया है। गुण द्रव्य का स्वलक्षण है और पर्याय द्रव्य का विकार है। गुण निर्गुण और अविनाशी है। वे भी सामान्य–विशेषात्मक होते हैं। सामान्य गुणों से जाति या वर्ग की पहचान होती है और विशिष्ट गुण एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य से विभेद स्थापित करता है। कोई भी द्रव्य गुण से विरहित नहीं रह सकता। वे अन्योन्याश्रित हैं। पर्यायों में होने वाला परिवर्तन वस्तुत; द्रव्य का ही परिवर्तन है। प्रत्येक द्रव्य में प्रतिसमय स्वाभाविक गुणकृत और वैभाविक गुणकृत अर्थात् पर्यायकृत उत्पाद और व्यय होते रहते हैं। इसलिए द्रव्य को उत्पाद–व्यय और ध्रौव्यात्मक माना गया है। पर्याय द्रव्य की भी होती है और पर्याय की भी होती है। वह दो प्रकार का है – अर्थपर्याय और व्यंजन पर्याय। प्रथम सूक्ष्म है और द्वितीय स्थूल है। ये दोनों यथार्थ और वास्तविक हैं, प्रातिभासिक नहीं हैं। इसलिए जैनदर्शन वस्तुवादी और बहुतत्त्ववादी माना गया है। इसी आधार पर कहा गया है कि आत्मा ही सामायिक है। यहां आत्मा द्रव्य है और सामायिक उसकी पर्याय है। (आया णे अज्जो। सामाइए आया णे अज्जो। सामाइयस्स अट्ठे ,, भगवती सूत्र, १९–७९)। द्रव्य के बिना पर्याय नहीं रह सकती और पर्याय के बिना द्रव्य नहीं रह सकता। आचार्य कुन्दकुन्द ने द्रव्य की इसी परिभाषा को स्पष्ट किया है –

सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो।
अत्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससंबद्धो।।
ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो।
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण।।

(प्रवचनसार, २,७–८; सर्वार्थसिद्धि, १.५.)

साधारणतः एक प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि द्रव्य की पर्याय कब–कैसी हो, यह निर्मित पर निर्भर है, या उपादान पर इसे सर्वथा ठीक नहीं कह सकते। पूर्व समय का जैसा उपादान होगा, उत्तर क्षण में उसी प्रकार का कार्य होगा। निमित्त उसमें अन्यथा परिणमन नहीं कर सकता। कार्य का नियामक उपादान ही होता है, निमित्त नहीं। कार्य की उत्पत्ति में स्वभाव, पुरुषार्थ, काल, नियति और कर्म (पर पदार्थ की आवश्यकता) ये पांच कारण होते हैं। इनमें स्वभाव का सम्बन्ध द्रव्य की स्वशक्ति या उपादान से है, पुरुषार्थ का बल वीर्य से, काल का स्वकाल ग्रहण से, नियति का सम्बन्ध उपदान से और कर्म का सम्बन्ध निमित्त से है। जो भवितव्यता की बात करते हैं उनकी दृष्टि उपादान की योग्यता पर होती है। योग्यता अथवा पूर्व कर्म को दैव कहते हैं और वर्तमान पुरुषार्थ को पौरुष कहते हैं। दोनो के सम्बन्ध से ही अर्थसिद्धि होती है।

अर्थसिद्धि के सन्दर्भ में दो विचार धारायें मिलती हैं – एक के अनुसार सभी कार्य नियत समय पर ही होते है और दूसरी के अनुसार बाह्य निमित्तों के बिना कार्य हो नहीं सकते। इन दोनों में से जैनधर्म क्रमनियमित पर्याय के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। उसके अनुसार प्रत्येक कार्यक्रम स्वकाल में अपने उपादान के अनुसार होता रहता है। यहाँ एकान्ततः नियतिवाद का समर्थन नहीं मिलता अन्यथा कार्य कारण परम्परा को कैसे किया जायगा? अनेक कारणों में से नियति को एक कारण अवश्य माना गया है।

साधारणातः निमित्त शब्द कारण, उपाधि, साधन या हेतु अर्थ में स्वीकार किया गया है। यह बाह्य कारण और उपादान कारण दोनों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उपादान को अन्तरंग कारण और निमित्त को बाह्य कारण कहा जाता है। उपादान कारण वह है जो कार्य के रूप में ढलता है। वह पदार्थ की मूल शक्ति है, स्वभाव है। कार्य के ढलने में जो सहयोगी होता है वह निमित्त कारण है। जैसे

मिट्टी में कुम्भ बनने की शक्ति–स्वभाव उसकी उपादन शक्ति है। यह कार्य कुम्भकार के सहयोग से होता है इसलिए वह निमित्त कारण है, व्यावहारिक कार्य करने में उपादन–निमित्त के आधीन होता है। कुम्भकार के अतिरिक्त आलोक, चक्र, दण्ड, डोर, कील आदि भी निमित्त कारण हैं। इन कारणों में कुछ उदासीन होते है और कुछ प्रेरक होते हैं। बिना उपादान के निमित्त कुछ नहीं कर पाता और बिना निमित्त के उपादान भी असहाय–सा बन जाता है। अपने–अपने स्थान पर दोनों कथञ्चित् रूप से प्रधान बन जाते हैं। उचित निमित्त के सान्निध्य में ही द्रव्य परिणमन करता है। उनमें निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध रहता है और फिर यह नियम तो शाश्वत है कि बिना किसी कारण के कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। कार्य भी कारण के अनुरूप हुआ करता है। इस दृष्टि से सृष्टिकर्त्ता के रूप में ईश्वर के स्थान पर कर्म की स्थापना इस सिद्धान्त की फलश्रुति है।

इसे स्पष्ट करने के लिए साहित्य में प्रायः यह उदाहरण दिया जाता है। एक राजा के पास स्वर्ण का घड़ा है। पुत्र उसको मिटाकर मुकुट बनवाना चाहता है पर पुत्री ऐसा नहीं चाहती। राजा की दृष्टि मात्र स्वर्ण पर है। वह पुत्र का हठ पूरा कर देता है। मुकुट बनने पर पुत्र को हर्ष, पुत्री को विषाद और राजा को न हर्ष और न विषाद होता है। यहाँ स्वर्ण पुद्गल, गुण अथवा द्रव्य है। अतः वह ध्रौव्य है। मुकुट का उत्पाद और घट पर्याय का विनाश हुआ। यह उत्पाद और विनाश पर्याय का प्रतीक है।

यहां दो परिभाषाएँ प्रतिफलित हो रही हैं। प्रथम है कि गुण द्रव्य के आश्रित होते हैं और पर्याय गुण और द्रव्य दोनों के आश्रित रहते हैं। द्वितीय परिभाषा है कि गुणों का समूह द्रव्य है। तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाये तो आश्रय–आश्रयीभाव को व्यक्त करने वाली प्रथम परिभाषा वैशेषिक दर्शन के निकट है और अभेदमूलक द्वितीय परिभाषा बौद्धदर्शन के समीप है।

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिस्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्।।

(आप्तमीमांसा, ५९)

इस सन्दर्भ में उत्तरकाल में द्रव्य पर्याय के उपादान–निमित्त पर भी चर्चा की गई है।

जीव या आत्मवाद

जैन दर्शन में जीवन अथवा आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है। उसके स्वरूप में समग्र आत्मवादों का सुन्दर समन्वय है। वह उपयोगमयी है, दर्शन–ज्ञानात्मक है, अमूर्तिक है, कर्ता है, स्वदेह परिमाणवान् है, भोक्ता है, संसारस्थ है, सिद्ध है ओर ऊर्ध्वगत स्वभावी है। अनन्त ज्ञान–दर्शन–सुख–वीर्य रूप अनन्तचतुष्टयात्मक है (त.सू. २.८; द्रव्य संग्रह, गाथा २)।जैन दर्शन क्रियावादी है, आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष पर विश्वास करने वाला है (म.नि. चूलदुक्खक्खन्धसुत्त, १४.२.२)। वह अक्रियावाद में विश्वास नहीं करता, काम भोगों के त्याग में विश्वास करता है, उन्हें दुःख का कारण मानता है। संयम, त्याग, तपस्या को जीवन का अंग मानकर चलता है। इससे धर्म में प्रवृत्ति बढती है, अनियंत्रित इच्छाओं का दमन–शोधन होता है, अल्पारम्भ, अल्प परिग्रह की ओर चरण आगे बढते हैं और अशान्ति से मुक्ति पाने का मार्ग खुलने लगता है। वर्तमान को सुखमय बनाना ही भविष्य को आनन्दमय बनाना है।

जैन दर्शन प्रारंभ से ही आत्मा को केन्द्र में रखकर अपनी बात करता है। उसकी दृष्टि में निश्चय नय से जीव अमूर्तिक है पर व्यवहारनय से वह कर्मो से आबद्ध होने के कारण मूर्तिक है। नवीन जीवन धारण करने की प्रक्रिया इसी तत्त्व पर अवलम्बित है। हमारे वर्तमान जीवन में सत् ये असत् कर्मो के जो संस्कार बनते हैं वे ही भावी जीवन के कारण बनते हैं। जातिस्मरण की अनेक घटनायें पुनर्जन्म को ही प्रमाणित करती हैं।

आत्मा अमूर्त होने से इन्द्रियाँ उसे नहीं जान पाती हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि आत्मा का अस्तित्व ही नहीं। यदि इतने मात्र से उसके अस्तित्व को नकार दिया जाये तो अदृश्य सभी वस्तुओं के अस्तित्व को भी हमें अस्वीकार करना पडेगा। चेतना आत्मा का गुण है जो कभी नष्ट नहीं हो सकता, आवृत भले ही हो जाये। ज्ञान, आनंद, स्मृति, संशय, अहं प्रत्यय, रूपादि जानने की क्रिया करने वाला, शरीर की हानि–वृद्धि करने वाला, मन को प्रेरित करने वाला, सुखादि गुणों को आश्रय देने वाला आत्मा ही है। आत्मा के अस्तित्व को माने बिना इन सभी तत्त्वों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जा सकता (त. राज. २.८२०; विशेषा. १५४९–१६)।

क्रियावाद को आस्तिक और अक्रियावाद को नास्तिक कहा जा सकता है। एक अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष पर जोर देता है तो दूसरा इन्द्रिय प्रत्यक्ष पर। एक संयमवादी और परमार्थवादी है तो दूसरा नितान्त भौतिकवादी। जैनधर्म आस्तिकवादी है। वह आत्मवाद, कर्मवाद, लोकवाद और निर्वाणवाद का पुरस्कर्ता है।

जीव स्वरूपतः नित्य–अनित्य है, अनादि–अनन्त है, संकोच–विस्तार शील है, आकाश के समान अमूर्त है और विज्ञान रूप गुण से ज्ञेय है, ज्ञानादि गुणों का आधार है, जन्म–मरण की प्रक्रिया करने वाला है, कर्तृत्व और भोक्तृत्व से मुक्त है (**प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्**, त.सू. ५.१६; पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा ३३)। जीव संख्या में अनन्त हैं। वह संसार का निर्माता और विनाशक नहीं है। तीर्थंकर भी जीव हैं, अतिमानव नहीं हैं। परम विशुद्ध होने के कारण वे पूज्य हैं।

जैन दर्शन में कर्म को कर्माण शरीर कहा गया है और उसे पौद्गलिक माना गया है। मूर्त सुख–दुःख का वेदन कराने वाला कोई मूर्तिक पदार्थ ही होना चाहिए। यह मूर्तिक पदार्थ हमारा कर्म ही है। मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा के साथ यह संयोग अनादिकालीन है। इस संयोग से मुक्त होकर ही व्यक्ति परम सुख और शान्ति रूप मोक्ष को प्राप्त करता है।

अजीव पदार्थ पर्याप्तिहीन होता है। उसमें न प्रजनन शक्ति होती है और न जागरण, विश्राम या संरक्षण का प्रयत्न होता है। पर जीव सजातीय जन्मवृद्धि, सजातीय उत्पादन, क्षत–संरोहण और अनियमित तिर्यग्गति वाला होता है। ये उसके व्यावहारिक लक्षण हैं। उसका नैश्चयिक लक्षण है चेतना जो विकास की अपेक्षा सब में एक–सी नहीं रहती। कर्मों से जब तक बंधा है तब तक वह बद्ध है, संसारी है। उनसे मुक्त हो जाने पर वह मुक्त हो जाता है।

संसारी जीव के भी दो भेद हैं – त्रस और स्थावर। रसना, घ्राण, चक्षु और स्रोत्र, इन चार इन्द्रियों तथा मन से युक्त जीव त्रस कहलाते हैं। स्थावर जीव पांच प्रकार के होते हैं – पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति। ये जीव दो प्रकार के होते हैं – पर्याप्तक और अपर्याप्तक। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन के व्यापारों अर्थात् प्रवृत्तियों में परिणमन करने की जिन जीवों में

शक्ति होती है वह पर्याप्तक कहलाते हैं और जिनमें वह शक्ति नहीं होती वे अपर्याप्तक कहलाते हैं (त.सू. २.१०-१४; पंचास्तिकाय, ११९-१२०)। त्रसकायिक जीव स्थूल ही होते हैं। शेष पांच प्रकार के जीव स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के होते हैं। सूक्ष्म जीवों से सारा लोक भरा हुआ है। स्थूल जीवों का आधार लोक का कुछ भाग है।

आत्मा और शरीर में दो विजातीय तत्त्व हैं। आत्मा चेतन है और शरीर अचेतन है। इनके बीच सम्बन्ध क्या है, इस विषय में भूतचैतन्यवादी केवल शारीरिक व्यापारों को ही मानसिक व्यापारों का कारण मानता है। उसकी दृष्टि में आत्मा शरीर की उपज है। इसे प्रकृतिवाद भी कहा जाता है। इसी तरह मनोदैहिक सहचरवादी मानते हैं कि मानसिक और शारीरिक व्यापार परस्पर सहकारी हैं। कोई दोनों के अस्तित्व को स्वीकार कर अन्योन्याश्रयवाद की स्थापना करते हैं। फिर भी यह पहेली अनबुझी बनी रही कि दो विजातीय पदार्थों में कार्य कारण का सम्बन्ध कैसे हो सकता है?

जैन दर्शन ने इस पहेली को इस प्रकार सुलझाया। उसने कहा कि संसारी आत्मा सूक्ष्म और स्थूल शरीर से आवेष्टित है। जन्मान्तरण काल में स्थूलशरीर छूट जाता है और सूक्ष्म शरीर नहीं छूटता। सूक्ष्म शरीर ही दूसरे जन्म का कारण बनता है। सूक्ष्म शरीर और आत्मा का सम्बन्ध अनादि है। संसार दशा में जीव कथंचित् मूर्त भी है और सदृश्य भी है। संसारी आत्मायें अरूपी नहीं होतीं। उनका विशुद्ध रूप अमूर्त होता है जो मुक्त-दशा में प्राप्त होता है। उस अवस्था में वह सिद्धलोक में आवास करता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि को जीव की पर्यायें माना जाता है। ये पर्यायें जीव से न तो अत्यन्त भिन्न ही हैं और न सर्वथा अभिन्न ही। बल्कि, कथंचित्, भिन्न-अभिन्न रूप हैं। जीव धर्मी है, कारण है, गुणी है और ज्ञान गुण है, कार्य है, और धर्म है। गुण गुणी से पूर्णतः पृथक् नहीं हो सकता। द्रव्य जीव परिणामी नित्य है और भाव जीव उसकी गुण पर्यायें हैं। जीव में सुख-दुःख आदि भाव होते हैं जिनका कारण होता है कर्म। इन भावों को पांच भागों में विभाजित किया गया है - औदयिक, पारिणामिक, औपशमिक, क्षयोपशमिक और क्षायिक। परिणामों के कारण जीव कर्म से बंधा रहता है और गतियों में घूमता रहता है (समाधिशतक, ६८)।

आत्मा देह और इन्द्रिय से भिन्न है। इन्द्रियों के नष्ट होने या विकृत होने की स्थिति में भी पूर्व–ज्ञान विकृत नहीं होता। उन्मत्त अवस्था में यह ज्ञान–शक्ति विफल हो जाती है अवश्य पर नष्ट नहीं होती। मस्तिष्क के विकृत होने पर भी आहार, हलन–चलन, श्वासोच्छ्वास आदि प्राण क्रियायें बनी ही रहती हैं। इससे यह पता चलता है कि मस्तिष्क के अतिरिक्त भी कोई दूसरी शक्ति है जिससे शरीर के अनुभव और प्राण की क्रिया होती है। वही आत्मा है। यह आत्मा असंख्य प्रदेशी है, स्थायी और अभौतिक है, अरूपी है। उसमें संघात–विघात नहीं होता। वह तो असंख्य चेतन प्रदेशों का एक पिण्ड है। वह कभी चेतन और कभी अचेतन नहीं होता। चैतन्य आत्मा का एक विशिष्ट गुण है। वह स्वतन्त्र द्रव्य है जिसमें सत् और अर्थक्रियाकारित्व ये दोनों तत्त्व रहते हैं। अमूर्त होने के कारण वह अदृश्य है।

जैनेतर भारतीय दर्शनों में चार्वाक् पंच महाभूतों से आत्मा की उत्पत्ति और उनके विनाश से आत्मा का विनाश मानता है। वेदान्ती आत्मा को एक मानते हैं जो देहादि उपाधियों के कारण नाना प्रतीत होता है। न्याय–वैशेषिक आत्मा को स्थायी किन्तु उसकी चेतना को अस्थायी मानते हैं। मीमांसकों के अनुसार आत्मा में अवस्था–भेद कर्मकृत होता है, फिर भी वह नित्य है। सांख्य की दृष्टि में आत्मा स्थायी, अनादि, अनन्त, अविकारी, नित्य और चित् स्वरूप है। बुद्धि अचेतन है प्रकृति का विवर्त्त है। बौद्ध अनात्मवादी हैं पर पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं, वह चेतना का प्रवाह मात्र है। पर जैन परम्परा में आत्मा न सर्वथा नित्य है, न क्षणिक है, न एक है और न सर्वव्यापी है। वह तो परिवर्तन मुक्त स्थायी और चित् स्वरूप है। इसे हम यों भी समझ सकते हैं कि बौद्धदर्शन में विज्ञानवादी बौद्ध आत्मा और ज्ञान को अभेद मानते हैं तथा ज्ञानमात्र को स्वप्रत्यक्ष कहते हैं। सांख्य, योग, वेदान्त आदि दर्शन भी इसी मत के हैं। परन्तु कुमारिल ज्ञान को परोक्ष मानते हैं और आत्मा को स्वप्रकाशक। प्रभाकर जैसे कुछ ऐसे भी दार्शनिक हैं जो ज्ञान को आत्मा से भिन्न मानते हैं और ज्ञान को आत्मा का गुण मानते हुए भी उसे स्वप्रकाशक मानते हैं। नैयायिक–वैशेषिक उसे परप्रकाशक और प्रत्यक्षगम्य मानते हैं। जैनदर्शन आत्मा और ज्ञान को कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न मानता है और साथ ही उसे 'स्वपरावभासी' भी कहता है।

पाश्चात्य दार्शनिकों में प्लेटो, अरस्तु, देकार्त आदि विद्वान आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए उसके ज्ञान गुण को मानते हैं। ह्यूम ने किसी नित्य आत्मा को तो नहीं माना पर काण्ट ने उसके अस्तित्व को अवश्य स्वीकार किया है और उसे अमूर्त एकता माना है। लॉक, बर्कले, जेम्स, ब्रेडले भी किसी न किसी रूप में आत्मा के अस्तित्व को मानते हैं।

परामनोविज्ञान के क्षेत्र में आत्मा द्वारा प्रेतात्मा से संमोहन या हिप्नोटिज्म के माध्यम से संदेश प्राप्त किये जाते रहे हैं। इसका सम्बन्ध पुनर्जन्म से है। उसका अध्ययन १९५७ ई. से अधिक हुआ जिसका प्रकाशन **The Book of the Spirits** में हुआ है। विदेशों में इसका प्रारंभ ई. १७७९ में मैरमर ने किया और फिर आगे इस पर काफी प्रयोग हुए। भारतवर्ष में इसका श्रेय रायबहादुर श्याम सुन्दरलाल को जाता है जिन्होंने सन् १९२२–२३ में किशनगढ (राजस्थान) में **Former Life Research Association** का गठन किया और अनेक तरह के अध्ययन प्रस्तुत किये। विदेशों में भी इस विषय पर अच्छा काम हुआ है। **Marry T. Browne Zo The Power of Karma** पुस्तक में पुनर्जन्म की पोषक अनेक घटनाओं का उल्लेख किया है।

चार्वाक् या लोकायत दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार भूतों से चैतन्य उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष भोगों को छोडकर अदृष्ट स्वर्ग आदि के लिए प्रयत्न करना मूर्खता है। तज्जीवतच्छरीरवाद चार्वाक् सिद्धान्त का होना चाहिए। साधारणतः बौद्धधर्म को अनात्मवादी माना जाता है। आत्मवाद को वहां सत्कायदृष्टि कहा गया है जो मिथ्यादृष्टि है। अनेक विकासात्मक सोपानों को पारकर यह सिद्धान्त अनात्मवाद तक पहुंच पाया। आत्मा के स्थान पर उसने चित्त, नाम, संस्कार, विज्ञान जैसे शब्दों का प्रयोग किया और सन्तानवाद के आधार पर पुनर्जन्म को स्पष्ट किया।

न्याय–वैशेषिक दर्शन में आत्मा को नित्य और व्यापक माना गया है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान आदि से आत्मा के अस्तित्व का अनुमान किया जा सकता है। यह आत्मा परस्पर भिन्न है, अद्वैत की तरह एक नहीं। मीमांसा दर्शन में आत्मा का लक्षण चैतन्य है। वह देह, इन्द्रिय, ज्ञान और सुख के अतिरिक्त है। आत्मा परिणमनशील होने पर भी नित्य है। योगवासिष्ठ दर्शन में

आत्मा को जीवित और चेतन विशिष्ट माना गया है। वह अनादि और अनन्त है। सभी की उत्पत्ति ब्रह्मा से होती है। अद्वैतवेदान्त भी आत्मा और ब्रह्म में अभेद मानता है। वह प्रमाणों का विषय नहीं बल्कि ज्ञान का विषय है। जैनदर्शन में आत्मतत्त्व का विवेचन इन सभी से अलग है। वह अनेकान्तवाद के आधार पर आत्मा और कर्म के सम्बन्ध को स्पष्ट करता है और सारे प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करता है।

जीव वर्गीकरण को ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाये तो श्वे. परम्परा में आचारांग में पृथ्वी, जल, अग्नि और वनस्पति को स्थावर तथा वायुकाय, और अग्निकाय को त्रस माना गया। उत्तराध्यन में पृथ्वी, जल और वनस्पति को स्थावर तथा अग्नि, वायु और द्वीन्द्रियादि को त्रस माना गया। यही परम्परा अधिक प्रचलित हुई। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति सजीव हैं और इन में रहने वाले, जीव जलकायिक आदि कहलाते हैं।

जो सभी प्रकार से सत् होता है वह किसी से जन्म नहीं लेता, जैसे प्रधान। यदि कार्य को कथंचित् सत् माना जाये तो उसके और जैनों के मत में कोई वैभिन्य नहीं है। कारण कार्य की उत्पत्ति न करके उसकी अभिव्यक्ति करते हैं यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि वह अभिव्यक्ति न सत् हो सकती है और न असत् ही।

इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना जो रूपी पदार्थो का ज्ञान होता है वह अवधिज्ञान है। इसी तरह दूसरे की मन की अवस्थाओं का जो ज्ञान होता है मनःपर्ययज्ञान है। इन दोनों का विषय सीमित होता है इसलिए ये दोनों ज्ञान विकल प्रत्यक्ष कहलाते हैं पर मुख्य प्रत्यक्ष इसलिए है कि उनका जितना भी रूपी विषय होता है वह पूर्णतः विशद होता है।

प्रत्यक्ष भोगों को छोडकर अदृष्ट स्वर्ग आदि के लिए प्रयत्न करना मूर्खता है। तज्जीवतच्छरीरवाद चार्वाक् सिद्धान्त होना चाहिए। साधारणतः बौद्धधर्म को अनात्मवादी माना जाता है। आत्मवाद को वहां सत्कायदृष्टि कहा गया है जो मिथ्यादृष्टि है। अनेक विकासात्मक सोपानों को पार कर यह सिद्धान्त अनात्मवाद तक पहुंच पाया। आत्मा के स्थान पर उसने चित्त, नाम, संस्कार, विज्ञान जैसे

शब्दों का प्रयोग किया और सन्तानवाद के आधार पर पुनर्जन्म को स्पष्ट किया।

न्याय–वैशेषिक दर्शन में आत्मा को नित्य और व्यापक माना गया है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान आदि से आत्मा के अस्तित्व का अनुमान किया जा सकता है। यह आत्मा परस्पर भिन्न है, अद्वैती की तरह एक नहीं। मीमांसा दर्शन में आत्मा का लक्षण चैतन्य है। वह देह, इन्द्रिय, ज्ञान और सुख के अतिरिक्त है। आत्मा परिणमनशील होने पर भी नित्य है। योगवासिष्ठ दर्शन में आत्मा को जीवित और चेतन विशिष्ट माना गया है। वह अनादि और अनन्त है। सभी की उत्पत्ति ब्रह्मा से होती है। अद्वैतवेदान्त भी आत्मा और ब्रह्म में अभेद मानता है। वह प्रमाणों का विषय नहीं बल्कि ज्ञान का विषय है। जैनदर्शन में आत्म तत्त्व का विवेचन इन सभी से अलग है। वह अनेकान्तवाद के आधार पर आत्मा और कर्म के सम्बन्ध को स्पष्ट करता है और सारे प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करता है।

जीव वर्गीकरण

जीव वर्गीकरण को ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाये तो श्वे. परम्परा में आचारांग में पृथ्वी, जल, अग्नि और वनस्पति को स्थावर तथा वायुकाय, और अग्निकाय को त्रस माना गया। उत्तराध्ययन में पृथ्वी, जल और वनस्पति को स्थावर तथा अग्नि, वायु और द्वीन्द्रियादि को त्रस माना गया। यही परम्परा अधिक प्रचलित हुई। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये सजीव हैं और इन में रहने वाले, जीव जलकायिक आदि कहलाते हैं।

इस आधार पर जैन दर्शन में प्राणियों को दो प्रकारों में विभाजित किया गया है – चर और अचर। अचर–प्राणी पांच प्रकार के होते हैं – पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। चर प्राणियों के आठ भेद होते हैं – अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, सम्मूर्च्छिन, उद्भिद् और उपपातज। इन प्राणियों के उत्पत्ति स्थान ८४ लाख हैं। इसलिए जैन साहित्य में ८४ लाख योनियों की विशेष चर्चा आती है।

मिट्टी, बालू, सोना, हीरा आदि खनिज पदार्थ पृथ्वीकायिक जीवों के पिण्ड हैं। इनमें असंख्य जीवों का अस्तित्व रहता है। नदी, नाले, समुद्र, ओले आदि में असंख्य अप्कायिक जीवों का वास होता है। इसी प्रकार अग्नि, वायु और वनस्पतियों में भी असंख्य जीव रहते हैं। ये जीव एकेन्द्रिय होते हैं। इनमें

चेतना का विकास सबसे कम होता है। इनके स्पर्शन इन्द्रिय होती है जिससे उनका सारा काम होता है। इनका बढना, कुम्हला जाना इनकी सजीवता के साधक प्रमाण हैं। प्रो. क्रोसिल निकोव और बी. दूदा ने मिट्टी का विभिन्न प्रकार से परीक्षण करने पर यह स्थापित किया है कि उनमें जीवाणु ठसाठस भरे हुए हैं। सजातीय उत्पादन और वृद्धि मिट्टी की सजीवता ही सिद्ध करती है। टी. वसटापेन के अनुसार पर्वत भी धीरे–धीरे बढते हैं। इस तथ्य के समर्थन में उन्होंने अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। यह सिद्धान्त जैन सिद्धान्त से मिलता–जुलता है।

श्वेताम्बर परम्परा में गति की दृष्टि से इन प्राणियों को दो भागों में विभाजित किया जाता है – स्थावर और त्रस। स्थावर जीव सजीव होते हैं पर उनकी सजीवता सामान्यतः दिखाई नहीं देती। चूंकि वे उत्पन्न होते हैं, अंकुरित होते हैं, मरते हैं इसलिए उनकी सजीवता अनुमानित है। पृथ्वी, अप, अग्नि, वायु में असंख्य अति सूक्ष्म जीव होते हैं। वनस्पतिकाय भी सजीव हैं पर उनमें चेतनता अपेक्षाकृत अधिक दिखाई देती है। उनमें दस प्रकार की संज्ञायें (अनुभव) होती हैं – आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मन, माया, लोभ, ओघ एवं लोक संज्ञा। श्वासोच्छ्वास भी इनमें रहती है। इनके दो भेद हैं – साधारण और प्रत्येक। साधारण वनस्पतियों में अनन्तजीव होते हैं, वे सूक्ष्म निगोदी हैं और प्रत्येक जीव एक शरीरी होते हैं। साधारण जीव पृथक्–पृथक् होते हुए भी आहार, विहार आदि एक साथ करते हैं। उनका शरीर सूक्ष्म होता है इसलिए एक सुई के अग्रभाग पर भी अनन्त जीव समा जाते हैं। प्रत्येक वनस्पति जीवों के शरीर पृथक्–पृथक् होते हैं और वे पराश्रयी भी होते हैं।

एकेन्द्रिय से चार इन्द्रियों वाले जीव संमूर्च्छिन् और तिर्यंच जाति के ही होते हैं। वे संमूर्च्छिन् और गर्भज दोनों प्रकार के होते हैं इनकी दो जातियां हैं – तिर्यंच और मनुष्य। तिर्यंच जाति तीन प्रकार की है – जलचर–मत्स्यादि, स्थलचर–गाय, भैंस, सांप आदि और नभचर–पक्षी आदि। इन प्राणियों पर वातावरण, देश, काल, आदि का प्रभाव उनके संस्थान, भाषा आदि पर पडता है (त.सू. २.१०–१४; पंचा. ११९–२०)।

इन जीवों को प्राण और पर्याप्ति के आधार पर भी विभाजित किया गया है। प्राण का अर्थ है प्राणी का स्वयं का प्रयत्न और उस प्रयत्न से जो शक्ति

अर्जित होती है उसे प्रवृत्ति कहा जाता है। प्राण और प्रवृत्ति के सहयोग से आहार चिन्तन आदि क्रियायें होती हैं। भाषा, आहार, आयु, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, मन आदि की प्राप्ति इन दोनों के पारस्परिक सहयोग से ही होती है। उनमें कार्य–कारण सम्बन्ध भी होता है। प्राणी अपनी योग्यता के अनुसार पर्याप्तियों का निर्माण करता है। उनके निर्माण में प्रायः अन्तर्मुहूर्त का समय लगता है। पर्याप्तियों की प्राप्ति के पूर्व जीव अपर्याप्त कहलाता है। आहार, शरीर और इन्द्रिय इन तीन पर्याप्तियों की पूर्ण रचना किये बिना कोई भी प्राणी नहीं मरता।

प्राण और पर्याप्ति का सम्बन्ध जन्मान्तर से है। मृत्यु के बाद स्थूल शरीर यहीं छूट जाता है और तैजस कार्माण रूप में सूक्ष्म शरीर अगले जन्म के लिए स्थूल शरीर के निर्माण में जुट जाता है। तदर्थ वह आहार संग्रहण करता है अपने योग्य पुद्गलों के आकर्षण से यह पौद्गलिक शक्ति ही पर्याप्ति है जो प्राणशक्ति के साथ ग्रहीत पुद्गलों को आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन में परिवर्तित कर देती है। ये पर्याप्तियां प्राणियों के शक्ति–स्रोत हैं। जीवन रूप प्रासाद के निर्माण में छहों पर्याप्तियां अपना–अपना काम करती हैं और शरीर–इन्द्रियों आदि का निर्माण कर देती हैं। इनके माध्यम से ही प्राण के परमाणुओं का आकर्षण, परिणमन और उत्सर्जन होता है। ये पर्याप्तियां प्राणियों की प्राणशक्ति की स्थिति के अनुसार ही अधिक होती रहती हैं। नरक, संज्ञी तिर्यंच और मनुष्य यें छह पर्याप्तियां होती हैं। चूंकि ये पर्याप्तियां नामकर्म के उदय से होती हैं और सिद्ध नामकर्म से मुक्त हैं, अतः सिद्ध में ये पर्याप्तियां नहीं होती हैं।

पर्याप्ति और प्राण शक्ति के आधार पर ही पदार्थ की चेतनता और अचेतनता का पता चल जाता है। प्राणशक्ति होने पर ही शरीर का संचालन होता है। इसे हम 'बाइटल फोर्स' कह सकते हैं। शरीर मन, भाव आदि सारी गतिशीलता का मुख्य कारण है प्राण। प्राण शक्ति का मूल स्रोत हैं। तैजस शरीर पूरे शरीर में प्रवाहित है। उसके दो विशिष्ट केन्द्र हैं – मस्तिष्क और पृष्ठभाग। यहां से वह दस धाराओं में बहती है – स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, मनोबल, वचनबल, कायबल, श्वासोच्छवास और आयुष्यबल प्राण। ये प्राण शक्तियां चेतन और अचेतन के संयोग से उत्पन्न होती हैं। प्राण जीवनशक्ति है और पर्याप्ति भौतिक शक्ति। जीवन यापन के लिए कम से कम चार प्राण शक्तियां आवश्यक होती हैं – शरीर, श्वासोच्छवास, आयुष्य और स्पर्शन।

शरीर के प्रकार

चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम है शरीर। यह शरीर पांच प्रकार का होता है – १) औदारिक जो अस्थि, मांस, रुधिर के पिण्ड के रूप है, २) वैक्रियक जिसमें विविध रूप धारण करने की शक्ति होती है जैसे देवों और नारकियों में, ३) आहारक जिसमें विचार संप्रेषण की शक्ति होती है जैसे चतुर्दशपूर्वधारी मुनि में, ४) तैजस जो ऊष्मा, सक्रियता और शक्ति का संचालक है, और ५) कार्माण जो कर्मों के पुद्गल समूह से निर्मित होता है। इनमें तैजस और कार्माण सूक्ष्म शरीर प्रत्येक संसारी प्राणी के होते हैं। परामनोविज्ञान में सूक्ष्म शरीर को 'न्यूत्रिलोन' से निर्मित माना जाता है।

जैन साहित्य में इन जीवों के विषय में विस्तृत विवेचन मिलता है। वहां पर्याप्ति–अपर्याप्ति के आधार पर जीवों के चौदह भेदों का वर्णन हुआ है। सारा संसार एकेन्द्रिय सूक्ष्म जीवों से भरा हुआ है। दो इन्द्रियादि जीव वादर (स्थूल) भी होते हैं और वे अमनस्क होते हैं। पंचेन्द्रिय जीव समनस्क और अमनस्क के भेद से दो प्रकार के होते हैं। संमूर्च्छनज पंचेन्द्रिय जीवों के मन नहीं होता। गर्भज और उपघातज पंचेन्द्रिय जीव समनस्क होते हैं।

इन जीवों में द्रव्येन्द्रियां और भावेन्द्रियां होती हैं पर उनमें भावेन्द्रियों की प्रधानता है। इन इन्द्रियों के द्वारा होने वाला ज्ञान परोक्ष कहलाता है। पौद्गलिक मन के द्वारा भी जो ज्ञान होता है वह भी परोक्ष है। यह मानस ज्ञान इन्द्रिय ज्ञान के विपरीत अनियत, त्रैकालिक और आलोचनात्मक होता है। द्वीन्द्रियादि जीवों में आत्मरक्षा की भावना, इष्ट–प्रवृत्ति, अनिष्ट निवृत्ति, आहार, भय आदि संज्ञायें, संकुचन, प्रसरण, शब्द, पलायन, आगति, गति आदि चेष्टायें मन के सहयोग से होती हैं फिर भी वे असंज्ञी हैं, क्योंकि उनकी यह संज्ञा नगण्य है, दीर्घकालिक नहीं। असंज्ञी के केवल इन्द्रियज्ञान होता है, संज्ञी के इन्द्रिय और मानस दोनों ज्ञान होते हैं। सभी में इन ज्ञानों की तरतमता होती है।

जैनागमों में वनस्पतिकायिक जीवों की सजीवता के विषय में बहुत कहा गया है। जगदीश चन्द्र बसु ने **Private Life of Plant** आदि लेखों में यह विस्तार से सिद्ध किया है कि वनस्पति सजीव हैं। मनुष्य के समान उनमें भी

क्रोधादि भाव आते हैं, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह आदि संज्ञायें हैं। बेक्स्टर ने वटवृक्ष पर पोलीग्राफमन्त्र जोडकर यह भी सिद्ध कर दिया कि पौधे भयाक्रान्त होते हैं और वे अपनी सन्तान की रक्षा के लिए विविध उपाय करते हैं। क्रोधादि का आवेग भी होता है। उनमें मैथुन, परिग्रह, आदि की प्रवृत्तियां भी देखी जाती हैं। पेड–पौधे सोते भी हैं, उन्हें सुख–दुःख का संवेदन भी होता है, हिताहित का विचार होता है, और अन्तः प्रेरणा की शक्ति होती है। देखने का काम वे अपनी त्वचा से करते हैं। भावना की भी परख उनमें होती है। वे अच्छे चिकित्सक और हमदर्दी होते हैं। संवेदनशील होते हैं, मधुर ध्वनि से प्रसन्न होते हैं और भय से कुम्हला जाते हैं। वनस्पति की इन शक्तिओं को जैनदर्शन में 'पर्याप्ति' संज्ञा दी गई है।

इसी तरह जलकायिक आदि जीवों की सिद्धि भी विज्ञान सम्मत है। एक बूंद जल में वैज्ञानिकों ने भी जैनागम द्वारा बताये जीवों की संख्या को परिपुष्ट किया है। कॅप्टिन स्कवेसिकी ने यन्त्र के द्वारा एक जलकण में ३६,४५० जीवों की गणना की है।

अग्नि और वायुकायिक जीवों की सजीवता भी विज्ञान सम्मत है। वर्तन से ढकने पर अग्नि का बुझ जाना यही सिद्ध करता है कि वह वायु से आक्सीजन ग्रहण कर ही जलती और जीवित रहती है। इसलिए विद्युत भी सजीव मानी जानी चाहिए। विज्ञान के अनुसार हवा में रहने वाले असंख्य जीवों को 'थेक्सस' कहा जाता है। जैन साहित्य में वनस्पतिकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु दस हजार वर्ष की मानी जाती है। वैज्ञानिक एडमांडा शुभांशा के अनुसार अमेरिका के केलिफोर्निया के नेशनल फारेस्ट में ४,६०० वर्ष की आयु के वृक्ष विद्यमान हैं।

२) अजीव (पुद्गल)

पुद्गल का अर्थ है – पुं. गलनाद् पूरणगलनाद्वा पुद्गलः, अर्थात् जो टूट सके, बिखर सके, जुड सके वह पुद्गल है। इसमें ग्रहण करने की शक्ति होती है (भग. सूत्र, १३.४.४८१)। जैनदर्शन में पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांच द्रव्य अजीव और अचेतन हैं, सहानवस्थायी हैं, स्वतन्त्र अस्तित्ववान हैं । जीव, धर्म, अधर्म और आकाश ये चारों अविभागी हैं। धर्म, अधर्म, आकाश,

पुद्गल और जीव ये अस्तिकाय और सावयवी हैं। पुद्गल का छोटा रूप परमाणु है और वृहत् रूप विश्वव्यापी महास्कन्ध है। टूटना–बिखरना और फिर जुड़ना उसकी प्रकृति है। शब्द, अंधकार, प्रकाश, छाया, आतप, वर्ण, रस, गन्ध स्पर्श आदि का समावेश पुद्गल में होता है (उत्तरा. २८.१२)। परमाणु का यह स्वरूप भारतीय परम्परा में कदाचित् प्राचीनतम है। वैशेषिकों का परमाणुवाद निश्चित रूप से जैन परम्परा के बाद का होना चाहिए।

पुद्गल के बीस गुण – भेद माने जाते हैं – स्पर्श ८– मृदु, कठिन, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष; रस ५– तिक्त, कटु, अम्ल, मधुर, और कषाय; गन्ध २ – सुगन्ध और दुर्गन्ध; रूप ५– नील, पीत, शुक्ल, कृष्ण और लोहित। इन स्पर्शादि के भी संख्यात, असंख्यात और अनन्त गुण परमाणु होते हैं। ये पुद्गल के विशेष गुण हैं। पर्याय की दृष्टि से एक गुण वाला परमाणु अनन्तगुणी हो जाता है और अनन्तगुणी परमाणु एकगुण वाला हो जाता है। द्विगुण से लेकर अनन्तगुण तक के परमाणु पुद्गलों के लिए यही नियम बना हुआ है।

पुद्गल द्रव्य रूपी अर्थात् मूर्तिक है। वह इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किया जाता है। शरीर, वचन, मन आदि उसके उपकार हैं। कार्माण शरीर भी निराकार होने पर भी मूर्तिक है क्योंकि वह मूर्तिमान् पुद्गलों के सहयोग से ही फल देता है। कर्म, सुख, दुःख, जीवन, मरण, शब्द, बन्ध, तम, छाया आदि ये सभी पुद्गल के ही कार्य हैं। स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये चारों गुण पुद्गल में पाये जाते हैं।

यह पौद्गलिक जगत परमाणु से संबलित है। परमाणुओं से स्कन्ध बनते हैं और स्कन्धों से स्थूल पदार्थ। पुद्गल में संघात, विघात की प्रक्रिया होती ही रहती है। कभी वह स्वभावतः (वैस्रसिक) होती है तो कभी व्यक्ति के प्रयोग से होती है। पर यह उसकी प्रक्रिया सादि सान्त होती है, अनादि अनन्त नहीं। उसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों तत्त्व रहते हैं। इनसे उसमें सूक्ष्म और स्थूल दोनों तरह के परिणमन होते हैं। परमाणुओं से स्कन्ध बनता है और स्कन्ध भेद से परमाणुओं का निर्माण होता है। यही प्रक्रिया अनादिकाल से चली आ रही है। जगत् की सृष्टि भी इसी प्रक्रिया से होती रहती है। इसमें षड्द्रव्यों की व्यवस्था होती है।

व्यक्ति के उपयोग में आनेवाले सभी पदार्थ पौद्गलिक हैं। स्थूल स्कन्धों के संघात से वे शरीर आदि के रूप में परिणत हो जाते हैं। पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि स्थूल पुद्गल औदारिक वर्गणा हैं। छोटा–बडा, दृश्य–अदृश्य आदि को वैक्रियक वर्गणा कहा जाता है। शरीर के योग्य विभिन्न पुद्गल समूह का उत्पन्न होना आहारक वर्गणा का परिणाम है। इसी तरह तैजस, कार्माण, श्वासोच्छ्वास, वचन, मन आदि वर्गणायें पुद्गल के ही कार्य हैं। शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप, उद्योत भी पुद्गल के ही कार्य हैं (त.सू. ५.२३–२५)। पुद्गल और आत्मा का अनादिकाल से सम्बन्ध है। जैनदर्शन में मन को सूक्ष्म और आभ्यन्तरिक इन्द्रिय माना गया है। सूक्ष्मता के कारण ही उसे अनिन्द्रिय कहा गया है। उसके दो भेद हैं – १) द्रव्यमन जो पौद्गलिक है, और २) भावमन जो लब्धि और उपयोगात्मक (ज्ञान स्वरूप) है।

आधुनिक विज्ञान और परमाणुवाद

आधुनिक विज्ञान में परमाणु द्रव्य पुद्गल का ही रूप है। भौतिकी तथा रसायन शास्त्र के अन्तर्गत परमाणु की अनश्वरता, ध्वनि, श्रवण सीमा, वायु अग्नि, प्रकाश, आयतन, घनत्व, कृत्रिम मेघरचना, संवेदना, इन्द्रियों के विषय, विकार आदि सभी विषय पुद्गल से संबद्ध हैं। प्रोटोन, इलेक्ट्रान, अल्फा–बेटा आदि तरंगें और चुम्बकीय शक्तियां, परमाणुओं का संगलन, विगलन, अणुबम, उद्जनबम सभी पुद्गल के परिणाम हैं। पुद्गलों की परिणमन शक्ति अविनाशिता का सिद्धान्त है।

भौतिक विज्ञान भी पुद्गल की परिणतियों को स्वीकार करता है और मानता है कि प्रकाश, गर्मी, छाया आदि तत्त्व पदार्थों को गतिशील बनाते हैं और उन्हें तदनुरूप परिवर्तित कर देते हैं। जैनधर्म इन सभी को पुद्गल मानता है। बिजली, उल्कापात, टेलिस्को, टेलीविजन आदि पुद्गलों का ही परिणमन है। जैन दर्शन में परमाणु की गति अनियत होती है और आधुनिक विज्ञान उसे Quenta कहता है। विज्ञान का परमाणु सूक्ष्म स्कन्ध का ही प्रतिरूप है। उसके भेद–प्रभेद परमाणु इलेक्ट्रांस, न्यूट्रांस हैं। विज्ञान की बन्ध और स्कन्ध प्रक्रिया जैनधर्म के परमाणुवाद से मेल खाती है।

विज्ञान के अनुसार पदार्थ की नयी उत्पत्ति नहीं होती है, उसका मात्र रूप परिवर्तित होता रहता है। विज्ञान का यह परिणमनवाद जैन सिद्धान्त की मान्यता का समर्थन करता है। इसी तरह वैज्ञानिकों के 'चक्रीय विश्व सिद्धान्त' तथा 'द्रव्यशक्ति की सुरक्षा का नियम' भी जैनदर्शन के क्रमशः कालचक्र और परिणामी नित्यत्ववाद से मिलते–जुलते हैं।

आधुनिक विज्ञान भी ईश्वर कर्तृत्ववाद के स्थान पर प्रकृति के नियमों को प्रतिष्ठित करता है। जैनदर्शन के समान वह भी सापेक्ष सत्य को स्वीकार करता है। निरपेक्ष सत्य मिथ्या नहीं है। पंचास्तिकाय निरपेक्ष सत्य है। वस्तु में अनादि परिणमन भी निरपेक्ष सत्य है। पर सादि परिणमन में कार्यकारण भाव को खोजा जा सकता है। मकान आदि परिणमन है। सादि परिणमन है सादि सत्य और अनादि परिणमन है निरपेक्ष सत्य। यही जैनदर्शन का नित्यानित्यत्ववाद है।

पुद्गल अनित्य, सक्रिय और अनन्त शक्ति संपन्न होता है। उसकी सक्रियता को परिस्पन्द कहा जाता है। वह सक्रियता अप्रतिहत होती है। उनमें परस्पर मिलन और टकराव भी होते रहते हैं। इलेक्ट्रोन्स का गमनागमन होता रहता है। उसे Fusion और Fision कहा जाता है। विज्ञान प्रकाश की गति को एक लाख छियासी हजार मील प्रति सेकण्ड मानता है पर जैनदर्शन के अनुसार पुद्गल की गति इससे भी अधिक होती है। वह सूक्ष्मतम काल में लोक के एक भाग से दूसरे भाग तक पहुंच सकती है। पुद्गलों में सूक्ष्म परिणमन और अवगाहन शक्ति भी होती है एक ही आकाश प्रदेश में अनन्तानन्त पुद्गल रह सकते हैं। विज्ञान भी इस तथ्य को स्वीकार करता है।

आत्मा और कर्म

जैन दर्शन पुनर्जन्मवादी है। उसके अनुसार कर्मलिप्त आत्मा जन्म और मृत्यु के चक्कर लगाता रहता है। क्रोधादि कषायों के कारण वह जन्म–मृत्यु की परम्परा से आबद्ध है। नव–शिशु के हर्ष, भय, शोक आदि भाव उसकी पूर्वजन्म की स्मृति है। उसका स्तनपान पूर्वजन्म के लिये हुए आहार का अभ्यास है। वर्तमान सुख–दुःख का अनुभव, मोह–मृत्यु, पुनर्जन्म स्मृति आदि जैसे कारण भी पुनर्जन्म को सिद्ध करते हैं। यह जन्मान्तरण एक प्रकार का परिवर्तन है जो

एक स्थान से दूसरे स्थान में होता रहता है। यह परिवर्तन कराने वाला आत्मा है जो अतीत और भविष्य की कडियों को जोड देता है।

जन्म और मृत्यु के बीच के काल को जैनदर्शन में 'अन्तरकाल' कहा जाता है। इस अन्तरकाल में स्थूल रहित आत्मा की गति दो प्रकार की होती है। ऋजु और वक्र। ऋजुगति में एक समय लगता है पर वक्रगति में उसे घुमावदार पथ से गुजरना पडता है इसलिए कई समय जन्म ग्रहण में लग जाता है। यह जन्मग्रहण वह आत्मा ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् लोक में लेती रहती है सूक्ष्म शरीर रूप कर्म के माध्यम से। उसकी यह अवस्था 'संक्रान्तिकाल' के नाम से जानी जाती है। इस काल में नेत्रादि इन्द्रियां अवश्य नहीं रहतीं पर ज्ञानेन्द्रिय शक्ति बनी रहती है जिससे स्वसंवेदन का अनुभव होता रहता है। स्थूल शरीर रचना के बाद सहायक इन्द्रियों की रचना शरीराकार के अनुसार होती है और यह शरीराकार उसके कर्म के अनुसार मिलता है।

कर्म के अनुसार ही जीवों में भाव व्यक्त होते हैं। जीव का अनादि अनन्त शुद्ध चैतन्य भाव है जिसे पारिणामिक भाव कहा जाता है। कर्म–मल के कारण जीव का यह स्वभाव धूमिल हो जाता है और संसरण की ओर झुक जाता है। इसी को औदयिक भाव कहते हैं। संसार में रमण करने पर भी उसका विवेक जब जागृत होता है तब वह अपने पुरुषार्थ से कषायादि को वश में कर लेता है और भेदविज्ञान पा लेता है। इस अवस्था को यहां औपशमिक कहा गया है। इस स्थिति तक आते–आते जीव अपने विकार भावों को नष्ट करता जाता है और विशुद्ध अवस्था की ओर बढता जाता है। उसके कर्मों का आंशिक क्षय और आंशिक उपशम होता है। इसी को क्षायोपशमिक कहा जाता है। इसी अवस्था में उसे केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। ये भाव मोक्ष की ओर जाने वाले जीवों की अवस्था के सूचक हैं । इसे हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जीव की तीन अवस्थायें होती हैं – बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। बहिरात्मा में जीव शरीर को ही आत्मा समझता है और उसके नष्ट होने पर अपने को नष्ट मानता है। पंचेन्द्रियों में आसक्त रहकर वह संसार में जन्म–मरण करता रहता है। अन्तरात्मा अवस्था में जीव निरासक्त होकर भव–बन्धन को काटने में संनद्ध हो जाता है। परमात्मा जीव की चरम विशुद्धावस्था है। जिसमें उसके विकारभाव नष्ट हो

जाते हैं और अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति हो जाती है। प्रत्येक जीव में यह क्षमता

होती है कि वह अपने मूल स्वभावरूप पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख और बल को प्राप्त कर सके।

गति का अर्थ ही है एक जन्म से दूसरे जन्म को ग्रहण करना। जैनधर्म में चार गतियां मानी जाती हैं – नरक गति, तिर्यंच गति, देव गति और मनुष्य गति। निकृष्टतम कर्म करने वाले जीव नरकगति में जाते हैं। नरकों की संख्या सात है – रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा आदि। ये नरक अधोलोक में अवस्थित हैं। मनुष्य के अतिरिक्त सारा दृश्यमान प्राणि जगत तिर्यंच गति में समाहित है। एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के पशु, पक्षी, वनस्पति आदि जगत के प्राणी तिर्यंच माने जाते हैं।

दिव्यलोक में विहार करनेवाले जीव देव कहलाते हैं। उनका शरीर वैक्रियक रहता है। वे विविध रूप धारण कर सकते हैं। लोक के ऊपरी भागों में प्रायः उनका निवास रहता है। ये देव चार प्रकार के हैं – भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक। असुर नागकुमार आदि देव निम्न लोक में रहते हैं। पिशाच, भूत आदि व्यन्तर मध्यलोक में रहते हैं। वैमानिक देवों में बारह लौकान्तिक देव कल्पोपपन्न हैं। वहां स्वामी–सेवक आदि के आधार पर व्यवस्था होती है। उनके ऊपर नव ग्रैवेयक और पांच अनुत्तर विमान के देव कल्पातीत होते हैं जो स्वतः संचालित हैं। वहां के प्रत्येक देव अहमिन्द्र हैं। स्वर्गों की संख्या सोलह है जो लोक में ऊपरी भाग में अवस्थित है।

मनुष्य सर्वाधिक विकसित चेतना वाला प्राणी है। अध्यात्मसाधना के द्वारा वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है और परमात्मा बन सकता है और हीन कर्म करने पर सातवें नरक में भी जा सकता है। देव और नारकी जीव मरने पर पुनः देव और नारकी नहीं होते, पर मनुष्य और तिर्यंच चारों गतियों में उत्पन्न हो सकते हैं। मोक्ष की प्राप्ति मात्र मनुष्य गति से ही हो सकती है। मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं – १) कर्मभूमिज जो कर्मक्षेत्र में उत्पन्न होते हैं और पुरुषार्थ प्रधान होते हैं, २) अकर्मभूमिज जो भौगलिक कहलाते हैं। जिनके यापन के साधन कल्पवृक्ष होते हैं, और ३) संमूर्छिन् जो मनुष्य हैं पर जिनमें मनुष्यता जैसा कोई भी तत्त्व नहीं हैं। मानव शरीर से विसर्जित मल–मूत्र आदि चौदह स्थानकों में उनकी उत्पत्ति होती है। वे पंचेन्द्रिय होते हैं पर असंज्ञी होते हैं। अल्पायुष्य होने के कारण अपर्याप्त दशा में ही मर जाते हैं।

कर्मवाद : पुद्गल मीमांसा

कर्म का सम्बन्ध मन की विभिन्न अवस्थाओं से है और फिर ये दोनों अध्यात्म से जुडे हुए हैं। अध्यात्म का सम्बन्ध आचरण से है और आचरण का कार्य–कारणात्मक जुडाव कर्म से है। आचरण में काम करने की प्रवृत्ति में बाह्य कारण तो समझ में आ जाता है पर भीतरी कारण समझ में नहीं आता। आग से पैर खींचना तो स्पष्ट है पर क्रोधादि आने का कारण क्या है इस पर ढंग से विचार करने के लिए कर्मशास्त्र की गहराइयों में जाना अत्यावश्यक है।

संसार में शक्ति, प्रतिभा, सम्पत्ति, सुख–दुःख आदि की दृष्टि से बडी विभिन्नतायें हैं। ये किसी के पास कम हैं तो किसी के पास ज्यादा। इसका कोई न कोई कारण होना चाहिए। वर्तमान युग में हम उसे मानसिक, शारीरिक या परिस्थितिजन्य जैसे बाह्य कारण कह सकते हैं पर इनके अतिरिक्त भीतरी कारण भी होना चाहिए जो अदृश्य रहता है। जैनाचार्यो ने इसी को कर्म कहा है जिसका विवेचन उन्होंने धर्मध्यान के अपायविचय और विपाक विचय नाम के भेदों में किया है। अपायविचय का तात्पर्य है दुःख के कारणों की खोज और विपाक विचय का अर्थ है परिणाम की खोज। विपाक (परिणाम) का सम्बन्ध वर्तमान के साथ–साथ अतीतकाल से है। बीज का वपन हुआ तो उसी से अंकुर फूटेगा।

वर्तमान के साथ अतीत जुडा हुआ है। आज की सूक्ष्म फोटोग्राफी से भविष्य की बीमारी का पता चल जाता है और उसकी चिकित्सा शुरू कर दी जाती है। यही है अध्यात्म क्षेत्र में कर्मशास्त्र। वह अनादि है पर सान्त है। अन्धकार अनादि होता है पर उसे दूर किया जा सकता है। मिथ्यादर्शन अनादि है पर उसका अन्त किया जा सकता है। कुछ वस्तुएं सादि होती हैं पर अन्त हीन होती हैं। सम्यग्दर्शन अर्थात् सम्बोधि रूप सूर्य के उदित होने के बाद फिर उसका अन्त नहीं होता। आध्यात्मिक साधना में अनादि कारण को खोजना और उसका अन्त करना लक्ष्य होता है। यही है कर्मशास्त्र की भूमिका।

कर्म का मूल स्रोत

आधुनिक मानसशास्त्रियों ने आचरण के मूल स्रोतों की खोज में दो कारण बताये हैं – सहजात (स्वाभाविक) और अर्जित। फ्रायड जैसे कुछ मानस शास्त्रियों ने काम को ही मूल प्रवृत्ति माना है और किसी ने जिजीविषा, वुभुक्षा और सामाजिकता को। तीर्थंकर महावीर ने ऐसी दस संज्ञाओं का परिगणन किया है– आहार, भय, मैथुन परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, ओघ (समुदाय) और लोक (वैयक्तिक चेतना)। संज्ञा का अर्थ है एक प्रकार की चित्तवृत्ति। इनसे दस प्रकार की प्रवृत्तियां प्राणियों में होती हैं जो हमारे आचरण को प्रभावित करती हैं। ये प्रवृत्तियां मूल स्रोत नहीं हैं।

आधुनिक विज्ञान में पृथ्वी, आग, तेजस, वायु और आकाश को ही मूल भौतिक तत्त्व नहीं मानते। उनसे भी आगे बढकर हार्मोन ग्रन्थियों के स्राव तक उनका ध्यान गया है जो शरीर और मन दोनों को प्रभावित करते हैं। उदाहरणतः थायराड ग्रन्थि हमारे समूचे शारीरिक विकास को प्रभावित करती है। उससे मिलनेवाला थायरेक्सिन स्राव शरीर की पुष्टि में कारण बनता है। भय और क्रोध की स्थिति में यह स्राव समुचित नहीं हो पाता। इसी तरह **Pineal** के स्राव के बिना व्यक्ति की प्रतिभा का विकास नहीं हो पाता। **Admenal** का स्राव न होने पर भय, चिन्तन और क्रोध उत्पन्न होता है और उससे निकलनेवाले स्राव **Adrenalin** शारीरिक स्फूर्ति का कारण होती है। गोनैड (**Gonads**) ग्रन्थि यौन उत्तेजना का कारण बनती है। इसे हम कर्मशास्त्र की भाषा में 'वेद' कहते हैं। लिंग परिवर्तन इसी ग्रंथि के स्राव पर निर्भर करता है।

लोगों की विभिन्नता के पीछे इन ग्रंथियों का स्राव ही मूल कारण नहीं है। इसका मूल कारण है हमारा कर्म जो अदृश्य और अमूर्त है। सूक्ष्मतम उपकरण भी उसे नहीं देख सकते और न उनका कोई वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श ही है। आइन्स्टीन ने काल की अवधारणा देकर अतीत की ओर सोचने के लिये एक नया आयाम दिया है जो जैनधर्म की मान्यता को पुष्ट करता है।

पूर्वोक्त ग्रन्थियां शरीर के अवयव हैं जिनसे शरीर और मन प्रभावित होते हैं। इनका स्राव आठ स्पर्श वाला होता है– शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, गुरु, लघु, मृदु और कठोर। परन्तु कर्म का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर से है जो चार स्पर्श

वाला होता है – शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष। ये चतुःस्पर्शी सूक्ष्म परमाणु ही कर्म बनते हैं, स्थूल परमाणु नहीं। इन सूक्ष्म कर्म परमाणुओं की फोटो ली गई हैं। मृत्यु के समय आत्मा अकेली ही नहीं होती, उसके साथ सूक्ष्म शरीर भी होते हैं। यह वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है। वैज्ञानिक जानते हैं कि आत्मा का फोटो नहीं लिया जा सकता पर जब वह शरीर से निकलती है तो उसके स्पर्श और सूक्ष्म शरीर अवश्य होते हैं। ये सूक्ष्म शरीर दो हैं– तेजस और कार्माण। इनके बिना नया जन्म नहीं लिया जा सकता।

कर्म का सम्बन्ध वर्तमान से न होकर अतीत से है। महावीर ने कर्म को पौद्गलिक माना है। उसे वासना या संस्कार नहीं कहा जा सकता है। वासना या संस्कार धारणा का ही दूसरा नाम है, जो स्मृति में कारण बनती है। मनोविज्ञान इसी को 'स्मृति–चित्र' कहता है। इसका सम्बन्ध उस स्मृति की अच्छाई या बुराई से नहीं है। इस अच्छाई या बुराई का सम्बन्ध है आत्मा के साथ लगा हुआ कर्म। कर्म का सम्बन्ध है रागात्मक या द्वेषात्मक अनुभूति से। क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, शोक, घृणा, हास्य, वासना आदि सभी विकार भाव या अनुभूतियां इन्हीं दो अनुभूतियों में समाहित हो जाती हैं। कर्म पुद्गलों को आकृष्ट करने वाले मूलतः ये दो ही तत्त्व हैं – राग और द्वेष।

विपाक की व्याख्या करने के लिए राग–द्वेष बीज के कारण रूप सिद्ध होते हैं जिनका सम्बन्ध अतीत काल से है। यह अतीत काल वर्तमान जीवन के भी परे है। संसार में दो प्रकार के पदार्थ होते हैं – शाश्वत (नित्य) और अशाश्वत (अनित्य)। नित्य को ही विज्ञान की भाषा में 'ऊर्जा' कह सकते हैं। ऊर्जा अर्थात् द्रव्य कभी नष्ट नहीं होता। पर्याय के रूप में उसका मात्र परिवर्तन होता रहता है। यह पर्याय रूप परिवर्तन भी आकाश में जाकर स्थित हो जाते हैं। भाषा के पुद्गल आकाश में फैल जाते हैं और वे हजारों वर्षों तक स्थिर रहते हैं। इसी आधार पर वैज्ञानिक यह प्रयत्न कर रहे हैं कि वे महावीर, बुद्ध आदि प्राचीन महात्माओं के शब्द अधिग्रहीत कर सकें और इन महात्माओं को हम देख सकें। भले ही उनकी आत्मायें हमें न दिख सकें।

इसी तरह कर्म परमाणु भी विपाक (फल देना) के बाद आकाश में फैल जाते हैं। अतीन्द्रियज्ञानी उन्हें देखकर – जानकर परिणाम बताते हैं। जन्म–

मरण भी ऐसी ही क्रिया है। परिणाम, प्रवृत्ति, प्रवृत्ति और परिणाम इनका यह एक वर्तुल रहता है जिस पर कर्म रूप प्रवृत्तियां घूमती रहती हैं। इनसे वर्तमान, भूत और भविष्य तीनों काल जुडे रहते हैं। कार्य कारण के रूप में ये कर्म सहज नहीं है। सहज का सम्बन्ध आत्मा (चेतना) और उसके स्वाभाविक अनन्त गुण, अनन्त आनन्द, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य रूप चतुष्टय शक्ति से है।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध

सहज ही एक प्रश्न उभरता है कि अमूर्त आत्मा और मूर्त कर्म के साथ सम्बन्ध कैसे स्थापित हो सकते हैं? पर इसमें कोई विरोध नहीं दिखता। आकाश अमूर्त है पर उसका सम्बन्ध मूर्त पदार्थ से होता ही है। घटाकाश, पटाकाश आदि प्रसिद्ध ही हैं। अमूर्त का मूर्त के प्रति उपकार है और मूर्त के द्वारा अमूर्त का परिणाम भी होता है। यहां यह ध्यान देना होगा कि चेतना और कर्म में तादात्म्य सम्बन्ध नहीं बल्कि संयोग सम्बन्ध होता है। तादात्म्य सम्बन्ध दो विरोधी द्रव्यों में नहीं होता, संयोग दो विरोधी द्रव्यों में होता है। चेतना के उपादान परिवर्तन में कर्म निमित्त हो सकते हैं और कर्म के उपादान परिवर्तन में चेतना निमित्त बन सकती हैं। आत्मा और कर्म के उपादान अलग–अलग हैं। आत्मा के उपादान हैं– ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति। पुद्गल के निमित्त हैं – वर्ण, गंध, रस और स्पर्श।

जहां तक आत्मा और कर्म का सम्बन्ध है, वह निमित्त और नैमित्तिक है। अस्तित्व कभी बदलता नहीं। बदलाव होता है केवल उसकी परिधि में। कर्म का निमित्त मिलने पर अमूर्त आत्मा भी मूर्त रूप में व्यवहृत होने लगती है। इसलिए आत्मा को पुद्गल (मूर्त) भी कहा जाता है। आत्मा अमूर्त होती है। समस्त कर्मों से विमुक्त हो जाने पर संसारी आत्मा तो अमूर्त नहीं है। कर्म का दैहिक सम्बन्ध उसके साथ जुडा हुआ है इसलिए वह मूर्तवत् दिखाई देती है।

चेतना पर कर्म का घना आवरण चढ़ जाने के बाद वह आत्मा एकेन्द्रिय जीव हो जाती है। वैज्ञानिकों की मान्यता में एकेन्द्रिय जीव की संरचना उसके गुणसूत्र के अनुसार हुई। पर कर्मशास्त्र के अनुसार इस संरचना का मूल कारण है राग, द्वेष की प्रबलता जिससे चेतना सघन नींद में चली गयी। इसे स्त्यानर्द्धि निद्रा

कहा जाता है। उसमें चेतना का कुछ अंश शेष रहा अवचित्त में। उस अवचित्त

ने पुद्गलों को प्रभावित किया तो सूक्ष्म शरीर पौद्गलिक चित्त और कर्मचित्त भी वैसा ही बन गया। फलतः एक स्पर्शन इन्द्रिय ही मिली। बाकी इन्द्रियों का बोध अस्पर्श रहा।

भावकर्म के अनुसार ही पौद्गलिक कर्म होता है। भावकर्म पांच हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। ये पांच भाव चित्त कर्मों का अनुभव करते हैं। कर्मों के अनुभव का मूल कारण है राग और द्वेष। ये भावकर्म द्रव्य कर्मों को प्रभावित करते हैं और द्रव्य कर्म भावकर्म को प्रभावित करते हैं। भावकर्म है जैविक रासायनिक प्रक्रिया और द्रव्यकर्म है सूक्ष्म शरीर की पौद्गलिक रासायनिक प्रक्रिया। ये दोनों कर्म एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। यही बन्ध है। कर्म परमाणुओं का जब संग्रह हो जाता है तो इस अवस्था को प्रदेश बंध कहते हैं।

समूचे आकाश मण्डल में कर्म की वर्गणाएं व्याप्त हैं। जैसे ही हमारे भाव चित्त का निर्माण हुआ, ये कर्म परमाणु हमारी आत्मा से बंधने लगते हैं। जब तक ये कर्म परमाणु किसी प्राणी के द्वारा स्वीकृत नहीं होते, तब तक ये कर्म प्रायोग्य कहे जाते हैं, कर्म बनने की योग्यता उनमें होती है। जैसे ही हमारे राग–द्वेष से वे आकृष्ट होते हैं, उनके स्वभाव के आधार पर व्यवस्था शुरू हो जाती है। इसे प्रकृति बंध कहा जाता है, उनमें जब फल देने की क्षमता आ जाती है तब उसे अनुभाव कहा जाता है। यही अनुभाव बंध है, जिसमें फल देने की शक्ति राग–द्वेष परिणामों की तीव्रता और मंदता पर आधारित है।

कर्मबन्ध प्रक्रिया

व्यक्ति जब कर्म करता है, प्रवृत्ति करता है तो तत्काल कर्मबंध हो जाता है, पर उसका फल तत्काल नहीं मिलता। कुछ काल तक वे कर्म परमाणु सत्ता में रहेंगे, उदय में नही आयेंगे। यह सत्ताकाल अबाधाकाल कहलाता है। अबाधाकाल की समाप्ति के बाद ही वह कर्म विपाक की स्थिति में आता है और अपना फल देने लगता है। इसी को स्थितिकाल कहा जाता है।

इन चारों अवस्थाओं के घटक दो तत्त्व हैं– राग और द्वेष। मन, वचन और काय की चंचलता के कारण यह राग – द्वेष प्रवृत्ति कर्म परमाणुओं को

आकर्षित करती है। कषाय के कारण ये परमाणु आत्मा के साथ चिपके रहते हैं। और कर्मों का आश्रव तथा बंध हो जाता है। कर्म बंध की प्रक्रिया में मुख्य कारणों में सर्वप्रथम नाम लिया जाता है मिथ्यात्व का जिसका तात्पर्य है मिथ्या दृष्टिकोण। मिथ्यादृष्टि जीव सही को गलत और गलत को सही मानता है। दर्शन मोह के उदय के कारण यह मिथ्यात्व जागता है। अविरति का तात्पर्य है छिपी हुई चाह, आकांक्षा, आशा। यह चंचलता का सबसे बडा स्रोत है जिसे हम उदास मन (आय.डी.) कहते हैं। मिथ्यात्व से ये आकांक्षायें बढती रहती हैं। प्रमाद और कषाय तत्त्व भी चारों और घूमते रहते हैं। योग का अर्थ है चंचलता जो इन चारों कारणों से बनी रहती है। चंचलता से प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति से कर्मबन्ध होता है। प्रवृत्ति का यह परिणाम है जो तत्काल मिलता है पर उसका उपभोग लंबे समय तक चलता रहता है। अपनी स्थिति और शक्ति के अनुसार ये कर्म फल देते रहते हैं।

इस प्रसंग में यह तथ्य विचारणीय है कि क्या कोई कर्म का फल देने वाला है, उसका नियामक है? व्यक्ति अच्छे कर्म का फल तो भोगना चाहता है पर बुरे कर्म के फल से बचना चाहता है। इसके लिए कोई न कोई न्यायाधीश या प्रशासक होना चाहिए यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से मन में उठता है पर इसको स्वीकार करने पर अनेक विकट प्रश्न खडे हो जाते हैं। भोक्तृत्व के साथ कर्तृत्व भी जुडा रहता है। यदि कर्म का फल देने वाला है तो कर्म को कराने वाला भी होना चाहिए। सांसारिक असमानताएं, क्रूरताएं, अत्याचार और विसंगतियां दिखाई देती ही हैं। इन्हें करानेवाले का सम्बन्ध यदि किसी परम सत्ता से जोडा जाये तो यह बात मन को भाती नहीं। परम शुद्ध ईश्वर को इन सभी कार्यों से क्या मतलब? इसलिए इसे यदि स्वतः संचालित मान लिया जाये तो सारे प्रश्न अपने आप समाप्त हो जाते हैं। व्यक्ति आहार करता है और उसकी पाचनक्रिया स्वतः होती रहती है। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आहार के प्रकारों पर प्रोटीन, विटामिन आदि की दृष्टि से ध्यान देते हैं और अस्वस्थ होने पर उसकी चिकित्सा करते हैं। यही बात कर्म के साथ भी लागू होती है। कर्म पुद्गलों का ग्रहण भी एक आहार है। हम उन्हें खींचते हैं, अपनी ओर आकर्षित करते हैं और फिर वे पुद्गल आकर हमसे चिपक जाते हैं। उनके स्वभाव का निर्माण, विभाजन, अवस्थिति, निर्जरा आदि सभी कुछ उसी तरह से होता है। अतः उसे किसी नियामक की

आवश्यकता नहीं रहती। उसमें स्वतः फल देने की क्षमता रहती है। यदि हम अपनी आसक्ति और कषाय प्रवृत्ति को रोक लें तो कर्मबन्ध की प्रक्रिया शुरू ही नहीं होगी। नाडी–ग्रन्थियां भी इस कार्य में सहायक सिद्ध होती हैं।

नाडी ग्रन्थियों का सम्बन्ध शरीर से है। अवचेतन मन पर परिस्थितियों का असर होता है। वे निमित्त बन जाती हैं और निमित्त को नकारा नहीं जा सकता। पर जो घटनायें घटती हैं उनके पीछे यदि हम निमित्त की खोज करें तो लगता है उनके पीछे कोई न कोई कर्म प्रेरक के रूप में खडा रहता है।

हर व्यक्ति में दो प्रकार की क्षमता होती हैं – योग्यात्मक क्षमता जिसे 'लब्धिवीर्य' कहा जाता है और क्रियात्मक क्षमता जिसे 'करणवीर्य' कहा जाता है। योग्यात्मक क्षमता आत्मा में रहती है और क्रियात्मक क्षमता आत्मा और शरीर में रहती है। योग्यात्मक क्षमता के अभाव में विकास हो ही नहीं पाता। उसके होने पर भी यदि क्रियात्मक क्षमता नहीं है तो भी विकास गति नहीं पकड पाता। दोनों के होने पर ही विकास प्रक्रिया शुरू हो पाती है।

इन क्षमताओं के सन्दर्भ में हमें आत्मा, शरीर और मन इन तीनों के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करना पडेगा। आत्मा के गुणों की अभिव्यक्ति का माध्यम है शरीर और उसमें रहने वाली इन्द्रियां, मन और बुद्धि। शरीर स्वस्थ हो पर यदि इन्द्रियां वगैरह स्वस्थ और सकुशल न हों तो भी आत्मा के गुणों की अभिव्यक्ति सही ढंग से नहीं हो पाती। शरीर और मन भी परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। परन्तु निमित्त का मूल स्रोत है कर्म। अकारण जब किसी को देखकर क्रोध उठता है तो उसमें परिस्थिति कारण नहीं होती, कारण होता है हमारा कर्म। सब कुछ कर्म से ही नहीं होता, कर्म और परिस्थिति दोनों यथासमय उसमें निमित्त बनते हैं।

काल भी उसे प्रभावित करता है जिसे 'काललब्धि' कहा जाता है। वनस्पति सूक्ष्म कायिक जीवों का भण्डार है जिसे अव्यवहार राशि कहा जाता है। मोक्ष यहां से नहीं होता। यहां से जीव काललब्धि के प्रभाव से व्यवहार राशि में आता है, स्पर्शनेन्द्रिय के साथ ही अन्य इन्द्रियों का वहां विकास होता है। इस व्यवहार राशि में भी जो कृष्ण पक्ष अर्थात तामस वृत्तिओं वाले होते हैं वे आध्यात्मिक विकास नहीं कर पाते पर जो शुक्ल पक्ष या प्रशस्त वृत्ति वाले होते

हैं वे आध्यात्मिक विकास कर लेते हैं। इसी तरह स्वभाव भी एक शक्ति है। किसी में आध्यात्मिक विकास का स्वभाव नहीं भी होता।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हर कार्य के पीछे कर्म नहीं होता। उसमें काल, स्वभाव आदि भी निमित्त कारण बनते हैं। पुरुषार्थ भी एक शक्ति है जिसके बल पर हम अपने कर्म को बदल सकते हैं। इस में भी काललब्धि का प्रभाव होता है। अर्थात् कर्म का एक छत्र साम्राज्य नहीं होता। उसकी व्यूह रचना को हम नष्ट–भ्रष्ट कर सकते हैं। सबसे प्रबलकर्म होता है मोह कर्म। अहं और ममकार उसी के अंग हैं। उनको नष्ट किये बिना मोक्ष नहीं पाया जा सकता।

आवेग और कर्म

कर्मशास्त्र के अनुसार मोहनीय कर्म के चार मुख्य अवेग हैं – क्रोध, मान, माया और लोभ। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। ये नोकषाय उप–आवेग हैं जो मुख्य आवेगों के कारण उत्पन्न होते हैं। मनोविज्ञान में छह आवेग माने जाते हैं – भय, क्रोध, हर्ष, शोक, प्रेम और घृणा । ईर्ष्या आदि आवेग मूल आवेग न होकर मिश्रित आवेग माने जाते हैं।

मोह की तीव्रता के कारण बौद्धिक चेतना का भले ही विकास हो जाये पर आध्यात्मिक चेतना का विकास नहीं हो पाता। मोह के उपशान्त और क्षीण हो जाने से ही आध्यात्मिकता विकसित हो पाती है। बौद्धिक चेतना का विकास तो ज्ञानावरण कर्म के उपशान्त और क्षय होने से होता है। मोह का कारण राग–द्वेष और कषाय है। कषाय का पहला प्रकार है **अनन्तानुबन्धी**। वह इतने तीव्रतम और दृढतम अनुबन्ध (सन्तति) पैदा करता है कि जिसका अन्त नहीं हो पाता। वह चट्टान में खिंची दरार के समान होती है जो कभी कट नहीं पाती। राग–द्वेष की वह ऐसी कठोर गांठ होती है कि जो कभी खुल नहीं पाती। उसके प्रभाव से न सम्यक्दृष्टि मिल पाती है और न मूर्च्छा जा पाती है। वह आवेग जब क्षीण होता है तो वह मिट्टी पर खिंची रेखा के समान कम शक्तिशाली होता है, तीव्रतर होता है जिसे **अप्रत्याख्यानी** कषाय कहते हैं। इस अवस्था में दृष्टिकोण सम्यक् हो जाता है, सत्य उपलब्ध हो जाता है। पर उसके बावजूद उस मार्ग पर व्यक्ति चल नहीं पाता। आध्यात्मिक चेतना का उदय तो हुआ पर अनन्त आकांक्षाओं

के कारण उसकी प्यास बुझ नहीं पाती। वह प्यास जैसे–जैसे शान्त होती है साधक वैसे–वैसे आध्यात्मिकता की ओर बढने लगता है। इसे हम साधना की प्रथम सीढी कह सकते हैं। इसमें भेद–विज्ञान हो जाता है और आत्मा और शरीर को पृथक्–पृथक् मानने का बोध जागृत हो जाता है। यह सम्यक् दृष्टि गुणस्थान है। यह अवस्था गृहस्थ साधकों की होती है जो देश विरति नामक पांचवें गुणस्थान तक चलती है।

आवेग की यह दूसरी अवस्था **अप्रत्याख्यानावरण** जब उपशान्त और क्षीण हो जाती है तो राग–द्वेष के भाव मन्द पड जाते हैं, वे बालू पर खिंची रेखा के समान मन्द हो जाते हैं। इसे प्रत्याख्यानावरण कहा जाता है। यह तृतीय अवस्था है। इस अवस्था में त्याग का मार्ग अच्छा लगने लगता है, प्यास बुझने लगती है। इसे छठा गुणस्थान कहा जाता है जो आध्यात्मिक विकास की छठी भूमिका है। यह अवस्था मुनि साधकों की है। इसमें साधक आध्यात्मिक साधना के प्रति पूर्ण समर्पित हो जाता है और आजीवन इस अवस्था को धारण किये रहने का संकल्प लेता है।

चतुर्थ अवस्था में आवेग मन्दतर हो जाते हैं, पानी पर खिंची रेखा के समान क्षणिक होते हैं जिसे **संज्वलन कषाय** कहा जाता है। इसके समाप्त होते ही साधक वीतराग बन जाता है, यथाख्यात चारित्र को प्राप्त कर लेता है। यहां मोह का संपूर्ण रूप से विलय हो जाता है।

कर्मशास्त्र की भाषा में आवेग नियन्त्रण की तीन पद्धतियां हैं –उपशमन, क्षयोपशमन और क्षयीकरण। उपशमन को हम दमन कह सकते हैं जिससे साधक ११ वें गुणस्थान उपशान्त मोह (आध्यात्मिक विकास की भूमिका) तक पहुंच सकता है। दमन होने के कारण मनोवेगों में उथल–पुथल बनी रहती है और साधक अपनी आध्यात्मिक ऊंचाई से नीचे–ऊपर गिरता रहता है। पर जब वह क्षयोपशमन के माध्यम से वीतराग वाले पथ पर आगे बढने का प्रयत्न करता है तो उसके कुछ कर्मो का उपशमन होता है और कुछ का क्षय होता है। इसे हम उदात्तीकरण अथवा मार्गान्तरीकरण कह सकते हैं। क्षयीकरण में कर्मो या आवेगों का पूर्णक्षय हो जाता है।

मनोविज्ञान की दृष्टि में भी आवेगों पर नियन्त्रण किया जाना चाहिए। कैसे किया जाये, इस प्रश्न के उत्तर में अध्यात्मशास्त्र साधनापक्ष प्रस्तुत करता है। कर्मशास्त्र और मनोविज्ञान में आवेग कैसे उत्पन्न होते हैं और उसका परिणाम क्या होता है इसपर प्रकाश डालने और उसके बाद उन आवेगों का क्षय कैसे किया जाये इसकी भूमिका में अध्यात्मशास्त्र की अहम् भूमिका रहती है।

कषाय और लेश्या

कर्माश्रव का मूल कारण मोहनीय कर्म है जिसके अन्तर्गत क्रोधादि कषाय आती हैं। उनके स्वभाव, तरतमता और स्थायित्व के आधार पर आचार्यो ने उपमाओं के साथ – उनको चार भागों में क्रमशः विभाजित किया है – अनन्तानुबन्धी, प्रत्याख्यानावरण, अप्रत्याख्यानावरण, और संज्वलन –

१. क्रोध – क्रमशः पाषाण, पंक, धूलि और जल रेखा के समान।
२. मान – क्रमशः पाषाण, अस्थि, लकडी और बेंत के समान।
३. माया – क्रमशः बांस की जड, भैंस के सींग, गोमूत्र की धारा और बांस के छिलके के समान।
४. लोभ – क्रमशः मंजीठिया रंग, ओंगन, कीचड और हल्दी के समान।

कषायों के समान ही मानसिक वृत्तिओं का भी वर्गीकरण किया गया है जिन्हें 'लेश्या' की संज्ञा दी गई है। ये जीव के परिणाम या अध्यवसाय हैं जिन्हें पौद्गलिक माना गया है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग से ये लेश्यायें पनपती हैं। इनकी छः श्रेणियां रंग के आधार पर की गई हैं –

१. **कृष्णलेश्या** – तीव्रकषायी, दुराग्रही, हिंसक, कलहप्रिय आदि २. **नीललेश्या** – विषयासक्त, मन्द, आलसी, परवंचन में दक्ष आदि ३. **कापोत लेश्या** – मात्सर्य, पैशून्य, परनिन्दा, युद्ध आदि करने वाला ४. **पीतलेश्या** – दृढता, मित्रता, दयालुता, सत्यवादिता, दानशीलता आदि ५. **पद्मलेश्या** – सत्यवाक्, क्षमा, सात्त्विकदान, पाण्डित्य आदि ६. **शुक्ल लेश्या** – निर्वैर, वीतरागता, गुण, दृष्टि आदि।

प्रथम तीन अप्रशस्त लेश्यायें हैं और शेष तीन प्रशस्त हैं। अप्रशस्त लेश्याओं के मोहादि कारण हैं। उन कारणों पर तर-तमता जैसे-जैसे कम होती जाती है लेश्याएं भी वैसी होती जाती हैं।

जैनेतर दर्शनों में भी लेश्याओं का वर्णन किसी न किसी रूप में मिलता है। पातंजल योग में कर्म के सन्दर्भ में कृष्ण, शुक्ल–कृष्ण, शुक्ल और अशुक्ल अकृष्ण इन चार अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। सांख्यदर्शन में रज, सत् और तम का वर्णन आया है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में इनका विशेष महत्त्व है। आभामण्डल कषाय और लेश्या को स्पष्ट करता है और मनोविज्ञान संवेगों को। जैन मनोविज्ञान आधुनिक मनोविज्ञान से भी कहीं अधिक ऊपर है।

कर्म मुक्ति प्रक्रिया

कर्मों के आवेगों से मुक्ति पाने के लिए एक कुशल चिकित्सक जैसे साधक बनने की आवश्यकता होती है। जब तक हम आवेगों या कर्मों के उत्पन्न होने के कारणों पर गहराई से विचार नहीं करेगे तब तक उनसे मुक्त होने के मार्ग पर भी हमारी सोच आगे नहीं बढ पायेगी। इस दृष्टि से जीव (आत्मा) अजीव (पौद्गलिक कर्म), आश्रव–बन्ध, संवर–निर्जरा और मोक्ष तत्त्वों की प्रकृति को समझ लेना आवश्यक है। कर्म या आवेग के बीज पर हम पीछे विचार कर चुके हैं।

कर्म के आवेगों और उनके बीजों–कारणों को कर्मशास्त्र की भाषा में आश्रव कहा जाता है। इनका उत्पत्ति केन्द्र है मस्तिष्क। इन्हें शान्त करने के विभिन्न उपाय है। मस्तिष्क में अल्फा, बीटा, गामा आदि विविध तरंगें पैदा होती रहती हैं जो हमारी प्रवृत्तियों को जन्म देती हैं। आज भी चिकित्सा पद्धति ने भी इन्हें शान्त करने की पद्धतियां निकाली हैं। मद्रास की 'ब्रेन इन्स्टीट्यूट' में मस्तिष्क के ऐसे केन्द्रों की पहचान की गई है जो मादक पदार्थ आदि की ओर आकृष्ट होते हैं। उन केन्द्रों का आपरेशन कर लोग मद्यपान, क्रोध आदि आवेगों से किसी सीमा तक मुक्ति पा सकते हैं।

अध्यात्मशास्त्र इसके लिए सबसे पहला साधन देता है आत्मतत्त्व की पहचान। हमें यह तथ्य अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि हमारा स्वतन्त्र अस्तित्व है और वह मूल रूप से परम विशुद्ध, परम ज्ञानमयी, परम सुखमयी तथा परम शक्तिमयी है। हमारे इस रूप को कर्म या आवेग पूर्णतः विनष्ट नहीं कर सकते, उसे प्रच्छन्न भले ही कर लें। मूल स्वरूप को प्रच्छन्न करने वाले

कारणों को ही कर्मशास्त्र की भाषा में कर्म कहा जाता है जो संख्या में आठ हैं –

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इन कर्मों का विपाक होने पर उनकी फलदान प्रक्रिया चालू हो जाती है।

ज्ञानावरणीय कर्म इन्द्रिय तथा मन की ज्ञान शक्ति को ढक देता है। प्रतिभा की तरतमता का मूलकारण यही कर्म है। **दर्शनावरणीय** कर्म हमारी देखने की शक्ति को आवृत करता है। निद्रा और आलस्य इसी का परिणाम है। वेदनीय कर्म से सुख–दुःख की अनुभूति होती है और उनके कारण सामने आते हैं। **मोह** का तात्पर्य है आसक्ति, राग–द्वेषात्मक प्रवृत्ति। यही प्रवृत्ति सर्वाधिक दुःख का कारण है। **अन्तराय** कर्म का अर्थ है विघ्न–बाधा उपस्थित होना/करना। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये कर्म **घातिया** कर्म कहलाते हैं जो अधिक घातक माने जाते हैं। शेष कर्म **अघातिया** होते हैं जो घातिया कर्मों के विनष्ट हो जाने पर शक्तिहीन हो जाते हैं।

आत्मज्ञान होने पर सम्यक्दृष्टि जागृत हो जाती है, भेदविज्ञान हो जाता है और यहीं से व्यक्तित्व में आमूलचूल परिवर्तन दिखाई देने लगता है। आवेगों के तत्त्व अहंकार और ममकार शक्तिहीन हो जाते हैं। साधक इस समय कर्मों के विपाक पर भी चिन्तन करता है जो उसकी मानसिक स्थिति में बदलाव लाता है। विपाकों के निमित्तों पर ध्यान देने से इस प्रक्रिया में और भी तेजी आ जाती है और फिर यदि साधक कष्ट–सहिष्णु है तो वीतरागता की ओर बढने में और भी सुविधा होती है। इसमें आवेगों के प्रतिपक्षी तत्त्वों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। क्रोध का प्रतिपक्ष है क्षमा। मान–माया, लोभ के प्रतिपक्षी हैं क्रमशः मृदुता, ऋजुता और सन्तोष भाव। इनके माध्यम से आवेगों के उपशमन होने में अधिक सहायता मिलती है।

आवेग वस्तुतः स्वभाव नहीं हैं, विभाव हैं, विकृतियां हैं जिन्हें साधना के माध्यम से दूर किया जा सकता है। चेतना या आत्मा का अनुभव होने पर आवेगों का रुकना बन्द हो जाता है और साधना के माध्यम से उनकी निर्जरा हो जाती है इसी को अयोग कहा जाता है। कर्मों के आश्रव को, आवेगों को जैन दर्शन में **योग** कहा जाता है और उन योगों से मुक्त होने की साधना को **अयोग** साधना कहा जाता है। बाह्य निमित्तों से सम्बन्ध विच्छेद करना ही अयोग संवर है। योग या आवेगों की चपेट में हम परतन्त्र हो जाते हैं और तदनुसार हमारा

आचरण बदल जाता है, मिथ्यात्व आदि निमित्तों में वृद्धि हो जाती है। उनके वश में होकर हम अपनी स्वतन्त्रता पर परदा डाल देते हैं।

हम अपने कर्तृत्व में स्वतन्त्र हैं पर परिणाम भोगने में परतन्त्र हैं। इसलिए स्वतन्त्र और परतन्त्र ये सापेक्ष शब्द हैं। कर्म निमित्त हैं परतन्त्र करने में। चेतन आत्मा उपादान है। ज्ञान, सुख, आनन्द, शक्ति उसकी औपादानिक शक्तियां हैं जो निमित्तों के कारण आवृत हो जाती हैं। मिट्टी उपादान है घड़े के निर्माण में, और कुम्हार, चाक, हवा पानी आदि निमित्त और सहकारी कारण हैं। निमित्त कारण कभी उपादान को उत्पन्न नहीं कर सकते। वे उसे उठाने–गिराने में सहायक अवश्य हो सकते हैं।

आत्मा के साथ राग–द्वेष का परिणाम जुडा हुआ है जो उसे प्रभावित करते हैं। आत्मा के साथ शरीर का योग है जो हमारी परतन्त्रता का कारण हैं। शरीर को आहारादि के माध्यम से स्वस्थ रखना, उसकी कामवासना आदि से संघर्ष करना हमारी परतन्त्रता का कारण है। इस परतन्त्रता में हमारा राग–द्वेष मूल कारण होता है। उसीसे दुःखों की उत्पत्ति होती है। यहां यह समझ लेना आवश्यक है कि सभी दुःखों का कारण हमारा कर्म ही नहीं है उसके अतिरिक्त और भी अनेक कारण है जिनसे व्यक्ति दुःखी या रोगी होता है। अधिक या प्रतिकूल भोजन करने से पेचिस हो गई या अधिक जागरण से शिरदर्द हो गया तो इसमें कर्म को कारण कैसे माना जा सकता है? यह तो एक संयोग है जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर घटित होता रहता है। रोग होना असातावेदनीय कर्म का उदय है। पर असाता वेदनीय कर्म के कारण अहितकर भोजन किया गया हो, यह नहीं कहा जा सकता। यह कहा जा सकता है कि अहितकर भोजन के कारण आयुष्य कर्म का विपाक हुआ। यदि हम ऐसा नहीं माने और सब कुछ कर्म पर छोड दें तो फिर ईश्वर और कर्म में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा और हमारी स्वतन्त्रता भी नहीं रहेगी। कर्म की अपनी सीमा है। वह उसी आत्मा पर प्रभाव डालता है जो राग–द्वेष युक्त है। इन राग–द्वेषों को शान्त करने की हमारी मनोवृत्ति है इसलिए हम स्वतन्त्र हैं। बस, हमें जागरण का सूत्र मिल जाये तो आत्मा को अपने मूल स्वरूप में पहुंचाया जा सकता है।

जागरण का सूत्र है – संयम, चारित्र, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान का पालन कर राग–द्वेष की ग्रन्थि को भेदना। इसे अपूर्वकरण कहा जाता है क्योंकि यहां से पहली बार राग–द्वेष का भेदन प्रारम्भ होता है। इसे हम संवर की प्रक्रिया कह सकते हैं। इसमें हम राग–द्वेष के अनुभव से वापिस आ जाते हैं आत्मानुभव में और भविष्य में राग–द्वेष में न जाने का दृढ संकल्प ले लेते हैं। इससे मूर्च्छा और मोह विगलित होने लगता है और समतामयी आचरण की प्रतिष्ठा हो जाती है। सम्यक् तपानुष्ठान से कर्मों की संवर–निर्जरा भी होने लगती है, इन्द्रियां अन्तर्मुखी हो जाती हैं (प्रतिसंलीनता), उनका मार्गन्तरीकरण हो जाता है, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग आदि के द्वारा कर्म से विनिर्मुक्त होने की प्रक्रिया आगे बढने लगती है।

इस सन्दर्भ में ध्यान रखना आवश्यक है कि कर्म की सार्वभौम सत्ता नहीं है। वह सर्वशक्तिसंपन्न नहीं है। उस पर हम अंकुश लगा सकते हैं। आत्मा के चैतन्य स्वभाव का स्वतन्त्र अस्तित्व मानकर साधक उससे विनिर्मुक्त हो सकता है। अतः तप के माध्यम से कर्म को बदला जा सकता है, नष्ट किया जा सकता है। कर्म का विपाक देश, काल, भाव आदि के माध्यम से होता है। कर्म निमित्तों को दूरकर कर्म के विपाक को भी दूर किया जा सकता है।

उद्दीपक कारणों के रूप में बाह्य वातावरण और परिस्थिति आन्तरिक वातावरण और नाडी संस्थान में परिवर्तन लाता है और व्यक्ति उनके वश में होकर अनचाहा कार्य कर डालता है। किसी ने गाली दी और हाथ उठ गया पर साधक के लिए इतना प्रयत्न करना चाहिए कि उस पर किसी प्रतिक्रिया का असर न हो। इस स्थिति तक पहुंचने के लिए ही अहिंसादिक व्रतों की परिपालना की जाती है। वर्तमान मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में ऐसे रसायनों और इन्जेक्शनों की खोज हो गई है कि एक के लगाने से व्यक्ति चिन्ताग्रस्त हो जाता है तो दूसरे के लगाने से वह चिन्तामुक्त हो जाता है। कर्मशास्त्र में इन रसायनों को 'रसविपाक' कहा जाता है। तदनुसार प्रवृत्ति, भाव या अध्यवसाय से कर्मशरीर में एक स्पन्दन होता है जो तैजस शरीर के माध्यम से स्थूल शरीर तक पहुंचता है जहां वह रसायन पैदा करता है विभिन्न केन्द्रों में और वे रसायन हमारे आचरण को प्रभावित करते हैं। पिच्युटरी का स्राव ठीक से न होने के कारण हमारी अन्तर्दृष्टि

नहीं जागती। साधना की गहराई के साथ इन रसायनों का प्रभाव कम हो जाता है।

यही कारण था कि चण्डकौशिक सर्प का प्रभाव महावीर पर नहीं पडा। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि हम इन रसायनों से स्वतन्त्र भी हैं और परतन्त्र भी।

इस स्वतन्त्रता और परतन्त्रता के सन्दर्भ में पांच मुख्य दार्शनिक धारणायें हैं – कालवाद, स्वभाववाद, ईश्वरवाद, नियतिवाद और कर्मवाद। इनमें कर्मवाद का क्षेत्र अधिक व्यापक और सार्वभौमिक है। व्यक्ति में कुछ विशेषताएं होती हैं – ज्ञान, दर्शन, चारित्र, शक्ति, क्षमता, कर्तृत्व। उसमें इन गुणों की हीनाधिकता का पाया जाना बहुत कुछ उसके पूर्वकृत कर्मो पर निर्भर करता है। सुख–दुःख का चक्र भी उसके जीवन के साथ अतीत कर्मो के कारण जुडा रहता है। शरीर की सारी रचना कोशिकाओं, क्रोमोसाम, जीन आदि का निर्माण नामकर्म के कारण होता है। जीवन में यश की प्राप्ति, उच्चकुल का मिलना आदि जैसे पक्ष गोत्रकर्म के अधीन है। फल की प्राप्ति में जो विघ्न–बाधायें आती हैं वह अन्तराय कर्म पर निर्भर करती हैं। कर्मवादी इन सबके कारणों के पीछे कर्म के अस्तित्व को मानता है। कालवादी, स्वभाववादी या ईश्वरवादी काल, नियति, स्वभाव या ईश्वर को सामने ले आता है। काल, स्वभाव आदि सब इस स्थिति में प्रधान बन गये और व्यक्ति गौण बन गया, मनुष्य पीछे खिसक गया। क्या हम इसे स्वीकारकर हाथ पर हाथ रखे बैठे रहें और पुरुषार्थ हीन हो जायें? धर्म का फिर अस्तित्व ही क्या रह जायेगा? समग्रता की दृष्टि अपनाये बिना सत्य को नहीं पकडा जा सकता। आधुनिक मनोविज्ञान जिसे एनीमल माइण्ड और ह्यूमन माइन्ड, अचेतन और सचेतन, अविशुद्ध और विशुद्ध मन कहते हैं उसे ही कर्मशास्त्र की भाषा में क्रमशः औदयिक और क्षायोपशमिक मन कहा जाता है। एक कषाय से बंधा रहता है और दूसरा उससे निर्मुक्त रहता है।

समग्रता की दृष्टि से यदि हम इस तथ्य पर विचार करें तो हम कर्म आदि की दृष्टि से परतन्त्र हैं और उनसे मुक्त होने की हमारी शक्ति हमारे पास है, इस दृष्टि से स्वतन्त्र हैं। यह सापेक्षवाद हमारी समस्याओं का समाधान कर देता है। आइन्स्टीन ने सापेक्षवाद का प्रतिपादन कर इसी तथ्य को प्रस्थापित किया है।

कर्म, नियति आदि तत्त्व शक्ति सम्पन्न हैं पर इनकी अपनी मर्यादाएं हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सीमा से वे बंधे हैं। प्रत्येक कर्म का विपाक होता

है और तदनुसार फल मिलता है। पर यह भी ध्यान रखना होगा की सब कुछ कर्म पर ही निर्भर नहीं है। कर्म इन कारणों में एक है। क्रिया होगी तो प्रतिक्रिया होगी ही। पुरुषार्थ भी अकेला नहीं होता। वह कर्म के साथ रहता है। आज का पुरुषार्थ कल का कर्म या नियति बन जाता है। इसलिए काल, स्वभाव, नियति, कर्म पुरुषार्थ में सभी सापेक्ष हैं। सभी की शक्तियां सीमित हैं।

कर्म की शक्ति सीमित होने के बावजूद उसे शक्तिसंपन्न माना जाता है और कृत कर्म को भुगतना पडेगा यह भी समझा जाता है। पर यह भी समझ लेना चाहिए कि कर्म की शक्ति को कमजोर किया जा सकता है और समय के पूर्व भी उसकी निर्जरा की जा सकती हैं तथा उसे बदला जा सकता है। इसको 'संक्रमण' कहा जाता है। आधुनिक जीन विज्ञान के अनुसार भी जीव को बदला जा सकता है। पुरुषार्थ से अशुभ को शुभ में बदला जा सकता है और प्रमाद के कारण शुभ भी अशुभ रूप में परिणत हो जाता है। यह उत्तरदायित्व हमारा है कि हम अपने शुभाशुभ कर्म को किस रूप में बदलना चाहते हैं।

हमारा शरीर स्थूल है। इसमें अनन्त कोशिकाएं जिनमें जीन और क्रोमोसोम होते हैं। हमारी चेतना और पुरुषार्थ तत्त्व यहीं रहते हैं। सबका पुरुषार्थ और चेतना तत्त्व एक जैसा नहीं होता, उनमें तरतमता होती है। इसलिए सभी में असमानता भी दिखाई देती है और यही कर्म है। इसी जीन को हम संस्कार सूत्र कह सकते हैं। इस शक्ति का मूल स्रोत है आत्मा जिसमें ज्ञान–दर्शन रूप गुण भरा रहता है। रूस के वैज्ञानिक तारासोव के अनुसार हमारा प्रत्येक सेल एक ज्योतिपुंज है जो निरन्तर जलता रहता है। उसी का प्रकाश हमें त्याग की ओर खींच ले जाता है। त्याग की ओर ले जाने में प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त सहयोगी होते हैं। प्रतिक्रमण का तात्पर्य है अतीत का स्मरण करके पीछे मूल स्वभाव की ओर लौट जाना और भूल पर प्रायश्चित्त करना। इन उपायों से अपायों का विनाश किया जाता है।

कर्मवाद की उपयोगिता

कर्मवाद वस्तुतः व्यक्ति को बुराई से बचाकर अच्छाई की ओर ले जाता है। जब वह मान लेता है कि बुरे कर्म का फल बुरा होता है तो फिर वह बुरा कर्म करने से दूर भागता है। परन्तु व्यक्ति इससे निराशावादी और पलायनवादी

अधिक बन गया है। वह अपनी पुरुषार्थवृत्ति को भूल–सा जाता है। पर यह ठीक नहीं है। कर्म तो पुरुषार्थ को जागृत करता है और वर्तमान को सुनहरा बनाने की ओर प्रेरित करता है। आनुवंशिकता, परिस्थिति, वातावरण आदि से व्यक्ति प्रभावित होता अवश्य है पर कर्म की अपनी शक्ति है, वह निरन्तर गतिशील रहता है, उसका संस्कार (वासना) एक धूमिल रेखा खींच देता है जो परदे के पीछे काम करता है – एक सूक्ष्म शरीर के रूप में। वही सूक्ष्म शरीर रूप कर्म हमारे स्थूलशरीर को संचालित करता है। जब तक ये कर्म रूप संस्कार नष्ट नहीं होते, संसारी जीव दुःखों से मुक्त नहीं हो पाते।

कर्मवाद हमारी नैतिकता की अवधारणा का आधार है। जो कर्मवादी होगा वह भ्रष्टाचारी, अप्रामाणिक नहीं हो सकता। वर्तमान जीवन को सुखी बनाने के लिए कर्मवादी होना नितान्त आवश्यक है। सद्–असद् वृत्तियों की पहचान जागरूक होकर ही की जा सकती है और तभी व्यक्ति सुखी हो सकता है। इन वृत्तियों का परिपाक देश, काल, और परिस्थिति के अनुसार होता है। यह हमारा अज्ञान है कि हम उसकी उपयोगिता को नहीं समझ पाते। हम उसकी वासना की व्याख्या नहीं कर पाते, मात्र घटना ही सामने रहती है।

व्यक्ति–व्यक्ति में जो भेद दिखाई देता है वह कर्म का ही फल है – **कम्मओणं विभत्ति भावं जणमई**। इसी को आधुनिक वैज्ञानिक भाषा में जीन कहा जाता है। जीन स्थूल शरीर का ही अवयव है पर कर्म सूक्ष्मशरीर से संबद्ध है।

कर्म दो प्रकार के हैं – पौद्गलिक या पारमाणविक कर्म जिन्हें द्रव्यकर्म कहा जाता है और दूसरा चैतसिक कर्म जो भावकर्म हैं। भावकर्म से ही द्रव्यकर्म अर्जित किया जाता है। राग–द्वेष से ही कर्मों का संबन्ध है। राग–द्वेष से जुडा चित्त चैतसिक कर्म बन जाता है। वही संस्कार का रूप धारण करता है जिसे बन्ध कहा जाता है। निमित्तों के सहयोग से वह संस्कार यथासमय जागृत हो जाता है।

साधारण तौर पर देखा जाता है और प्रश्न किया जाता है कि धर्म और नैतिकता का पालन करने वाला व्यक्ति आपत्तियों को अधिक आमन्त्रित करता

है जबकि अनैतिक व्यक्ति विविध भौतिक सुखों को पा जाता है। पर यह प्रश्न

ही सही नहीं है। धर्म का काम भौतिक सुखों को देना नहीं बल्कि उनका त्याग कराना है। धर्म करने वालों की चेतना का यह रूपान्तरण होना चाहिए और फिर उसके अतीतकालीन कर्म के संस्कार भी तो उसके साथ हैं। इन अतीत संस्कारों के समक्ष धर्म करने वाला व्यक्ति अपने नवीन प्रतिसंस्कार खडेकर उनकी शक्ति को क्षीण करता है।

एक यह भी प्रश्न उठता है कि एक व्यक्ति अच्छा या बुरा काम करता है और उसका फल दूसरे को मिलता है। पिता संपत्ति कमाता है और फल सन्तान को मिलता है। एक गलती करता है और फल सारे समाज या राष्ट्र को मिलता है। ऐसे में ''जो कर्म करता है वही फल का भोक्ता होता है'' यह सिद्धान्त गलत हो जाता है। इस प्रश्न पर यदि गंभीरता पूर्वक विचार करें तो तथ्य समझ में आ जाता है। कर्म में दो प्रकार के कारण होते हैं – उपादान और निमित्त। उपादान वैयक्तिक होता है और निमित्त सामूहिक। संवेदन भी वैक्तिक होता है और परिणाम सामूहिक। निमित्त ही परिस्थिति को पैदा करता है। जब कर्मविपाक सामूहिक होता है तो उसे कर्म की परिभाषा में उदीरितावस्था कहा जाता है। उपादान ठीक हो जाये तो परिस्थिति पैदा भी न हो और सामूहिक फल का प्रसंग न आये।

कर्मसिद्धान्त है – **सव्वजोणिमा खलु जीवा** अर्थात् जीव सार्वयोनिक होते हैं, कोई भी जीव किसी भी योनि में जा सकता है। कर्म की इस शक्ति को कम भी किया जा सकता है और बढाया भी जा सकता है। दूसरा सिद्धान्त है **जातिपरिवर्तन** अर्थात् पुण्य का पाप और पाप का पुण्य रूप में परिवर्तन। कर्म के द्वारा संचालित भावों से कर्म और कर्म से निषेधक भाव उत्पन्न होते रहते हैं। यह व्यूह चलता रहता है ध्यान से यह भावपरिवर्तन किया जा सकता है। भेद–विज्ञान से यह चक्रव्यूह भेदा जा सकता है।

समाजवाद के आधारभूत सिद्धान्त हैं – कर्मवाद, समता और नैतिकता। जगत का आधार अचेतन है, मात्र वर्तमान है, परिस्थितिवाद, तथा अर्थ ही सब कुछ है। कर्मवाद को यह सब मान्य नहीं। कर्म व्यक्ति की आन्तरिक अवस्था में परिवर्तन का प्रतीक है पर समाजवाद में बाहरी परिवर्तन होता रहता है। भ्रष्टाचार रागद्वेष का परिणाम है और कर्मबन्धन का जबर्दस्त कारण है।

धर्म की साधना से काम की भावना समाप्त हो, और परिग्रह का अन्त हो तभी उसकी उपयोगिता समझ में आ सकती है। शुद्ध, कर्मवाद, भाग्यवाद और पुण्यवाद ने भारत में पुरुषार्थ के महत्त्व को कम कर दिया है। कर्मवाद के अनुसार कृतकर्म का फल मिलता ही है। उसका विकास होता ही है। विपाक का सम्बंध है क्षेत्र, काल पुद्गल और जीव से। सुख का अनुभव भी जीव को होता है, उसका परिपाक जीव में होता है, पदार्थ में नहीं। परन्तु हमारी यह भ्रान्ति बन गई है कि पदार्थ का होना सुख है और न होना दुःख है। सच यह है कि पदार्थ के द्वारा व्यक्ति को ऐकान्तिक रूप से सुख या दुःख नहीं होता। पानी का पहला गिलास प्यास की शान्ति के लिए आवश्यक है पर बाद के गिलास उतने आवश्यक नहीं। इसी तरह धनी को सुखी माना ही जाये यह आवश्यक नहीं। धन सुविधायें पाने का निमित्त भले ही हो सकता है पर उससे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। कर्म की व्यवस्था आन्तरिक व्यक्तित्व के निर्माण करने या बिगाडने में है, पदार्थ को जुटाने में नहीं। महावीर ने अपरिग्रह पर बहुत बल दिया। उन्होंने परिग्रह को एक संज्ञा माना जो मोहनीय कर्म का फल है, पुण्य का नहीं। केन्द्रित अर्थव्यवस्था में हिंसा अनिवार्य है, वहां वैचारिक स्वतन्त्रता भी नहीं हो सकती। विकेन्द्रित अर्थ व्यवस्था में सुखमय जीवन होता है यदि धर्म और नैतिकता उसका आधार रहे, अल्पारंभ या अल्पपरिग्रह रहे।

कर्मवाद की दृष्टि से प्रत्येक आत्मा स्वरूपतः स्वतन्त्र है, सभी आत्माएं समान हैं पर यह भी अनुभव किया जाता है कि कुछ आत्माएं कम विकसित होती हैं और कुछ अधिक प्रतिभा संपन्न होती हैं, विकसित होती हैं। समान परिस्थितियां मिलने पर भी एक भाई आगे बढ जाता है और दूसरा भाई पीछे रह जाता है। एक स्वस्थ और सुन्दर रहता है तो दूसरा अस्वस्थ और कुरूप रहता है। कर्मवाद इसी की कारण मीमांसा प्रस्तुत करता है। मनोविज्ञान से भी आगे कर्मवाद की परिधि है। आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने इस तरह कर्मवाद का सुन्दर विश्लेषण 'कर्मवाद' में किया है।

लोक सृष्टि प्रक्रिया

जीव और अजीव जहां एक साथ रह रहे हों वह लोक है। यह लोक दो प्रकार का है – लोक और अलोक। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय जहां

व्याप्त हों वह लोक है, शेष भाग अलोक है। ये जहां तक अपनी गति–स्थिति बनाये रखते हैं वहीं तक जीव और पुद्गल की गति, स्थिति रहती है। उससे आगे वे नहीं जा सकें ऐसे उस प्रदेश को अलोक कहते हैं।

लोक को चौदह राजू प्रमाण माना जाता है। लोकाकाश असंख्यप्रदेशी है और अलोकाकाश अनन्तप्रदेशी है। लोक का आकार कमर पर दोनों हाथ रख कर पैर फैलाये हुए पुरुष के आकार के समान है। इसे सुप्रतिष्ठक संस्थान या त्रिशरावसंपुट संस्थान भी कहा जाता है। वह नीचे विस्तृत है, मध्य में संकरा और ऊपर मृंदगाकार है। उसके तीन भाग हैं – ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक। अलोकाकाश का कोई विभाग नहीं है। वह बीच में पोलवाले गोले के समान हैं। अधोलोक का आकार औंधे हुए शराव जैसा बनता है। मध्यलोक बिना किनारीवाली झालर के समान आकार वाला है और ऊर्ध्वलोक ऊर्ध्वमुख मृदंग जैसा है। लोक सान्त–अनन्त है। जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और पुष्करार्ध द्वीप को अढाई द्वीप कहते हैं। मनुष्य यहीं तक पहुंच सकता है। जन्म–मरण भी यहीं होता है।

पृथ्वी, जल, वायु और आकाश लोक के आधारभूत अंग हैं। लोकस्थिति में जीव और पुद्गल का संग्राह्य–संग्राहक भाव है। वह द्रव्य की अपेक्षा अनादि अनन्त है और पर्याय की अपेक्षा सादि–सान्त है। यहां रहने वाले चेतन–अचेतन द्रव्य भी अनादि अनन्त हैं। उनमें कोई पौर्वापर्य संबन्ध नहीं है। परिणमन की दृष्टि से यह जगत् परिवर्तनशील है, स्वाभाविक और वैभाविक दोनों हैं। स्वाभाविक परिवर्तन प्रतिक्षण सभी पदार्थों में होता रहता है पर वैभाविक परिवर्तन कर्मबद्ध जीव और पुद्गल स्कन्धों में ही होता है।

दार्शनिकों के बीच सृष्टि के विषय में दो मत प्रचलित हैं – अद्वैतवाद और द्वैतवाद। अद्वैतवाद में चेतन या अचेतन में से किसी एक के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है। उसकी जडाद्वैतवादी परम्परा अचेतन से चेतन की उत्पत्ति मानती है। चार्वाक्दर्शन इसका उदाहरण है। चैतन्याद्वैतवादी ब्रह्म को सृष्टि का आदिकारण मानते हैं। जडचैतन्य द्वैतवाद में सृष्टि प्रक्रिया चेतन–अचेतन पदार्थों के मिश्रित रूप से होती है। इसके विपरीत द्वैतवादी दर्शन जड और चैतन्य दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करता है और सृष्टि भी दोनों से होती है।

नैयायिक–वैशेषिक आरम्भवादी हैं। उनके अनुसार परमात्मा परमाणुओं के संयोग से सृष्टि करता है। सांख्य–योग परिणामवादी हैं उनके अनुसार सृष्टि का कारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति है जो ईश्वर द्वारा संचालित है। अनीश्वरवादी सांख्य परिणाम को प्रकृति का स्वभाव मानते हैं। बौद्धदर्शन प्रतीत्यसमुत्पादवादी है, सन्ततिवादी है।

जैन दर्शन के अनुसार जगत का परिवर्तन जीव और पुद्गल के संयोग से होता है। यह परिवर्तन उपादान और निमित्त के आधार पर होता है। काल के निमित्त से होनेवाला परिवर्तन स्वभावपरिवर्तन कहलाता है। जीव के निमित्तसे पुद्गल में और पुद्गल के निमित्त से जीव में होनेवाला परिवर्तन विभाव परिवर्तन कहलाता है। आत्मा और पुद्गल के संयोग से जीव का आधारभूत शरीर बनता है। खनिज पदार्थ पृथ्वीकायिक जीवों का शरीर है, अग्नि तैजसकायिक, हवा वायुकायिक, तृण–लता–वृक्ष आदि वनस्पतिकायिक और शेष सभी त्रसकायिक जीवों के शरीर हैं। जगत्सृष्टि पर विचार करते हुए जैनाचार्यो ने कहा है कि यदि सृष्टि को ईश्वरकृत कहा जाये तो ईश्वर भी एक कार्य हो जायेगा, वह भी अल्पज्ञ और असर्वज्ञ सिद्ध होगा, कार्य के निमित्त भी अनेक और एक हो जायेंगे, कुम्भकार के समान वह भी दृश्य हो जायेगा, परतन्त्र हो जायेगा। स्वयंकृत कर्म का फल विपाक होने पर स्वतः मिल जाता है फिर कर्मफलदाता के रूप में ईश्वर की आवश्यकता भी क्या है? वीतरागी न होने के कारण उसमें और संसारी जीव में अन्तर भी क्या रहेगा?

जीव और शरीर का सम्बन्ध अनादिकालीन है। जीव पर प्रभाव डालनेवाला कार्माण शरीर है जो सूक्ष्म कार्माण वर्गणा से बनता है। ऐसी वर्गणायें (पुद्गल स्कन्ध) आठ मानी गई हैं – औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्माण, श्वासोच्छ्वास, भाषा एवं मनोवर्गणा। प्राणी इन कार्माण वर्गणाओं से आवेष्ठित है। उसका निम्नतम विकसित रूप 'निगोद' है। वह अनन्तानन्त जीवों का आगार वनस्पतिकायिक है। एकेन्द्रियक है। निगोद से जो जीव बाहर निकल जाते हैं वे 'व्यवहार राशि' कहलाते हैं और जिनमें यह विकास नहीं होता वे उससे बाहर नहीं निकल पाते। ऐसे जीवों को 'अव्यवहार–राशि' कहा जाता है।

आत्मा में उठने वाली कषायजन्य प्रवृत्तियां आत्मा में चिपक जाती हैं और परिपक्क हो जाने पर फल देती हैं। ये प्रवृत्तियां सत् और असत् दोनों प्रकार

की होती हैं और इनका संगठित रूप जन्म मृत्यु का कारण बनता है। आत्मा की यह विकृत दशा है। तप त्यागादि के माध्यम से जब यह विकृत दशा छूट जाती है तो आत्मा की विशुद्ध दशा प्रगट हो जाती है और उसमें अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य आदि गुण प्रगट हो जाते हैं। इस स्थिति का प्रारम्भ सम्यक्त्व के जागरण से होता है और सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के परिपालन से पुरानी कर्म वर्गणायें शिथिल हो जाती हैं और नई कर्मवर्गणाओं का बंधना बन्द हो जाता है। फलतः आत्मा पर पदार्थों से पूर्णतः विमुक्त हो जाती है और वह विशुद्ध वीतरागता को प्राप्त हो जाती है। वह लोक के अग्रभाग में अवस्थित हो जाती है।

लोक या आत्मा शाश्वत है या अशाश्वत? जीव शरीर से भिन्न है या अभिन्न? कर्म का कर्ता–भोक्ता जीव स्वयं है या अन्य कोई? आदि प्रश्नों का उत्तर जैन दार्शनिकों ने अनेकान्त दृष्टि के आधार पर दिये हैं। द्रव्य और पर्याय आदि दृष्टियों से वह कथंचित् शाश्वत है तो कथंचित् अशाश्वत, कथंचित् भिन्न है तो कथंचित् अभिन्न, कथंचित् स्वयं है तो कथंचित् पर। मुक्त आत्मायें कर्म की कर्ता भोक्ता नहीं होतीं। बद्ध आत्मायें ही कर्ता–भोक्ता होती हैं। इसे हम आत्मा की विकास की कहानी कह सकते हैं जो पूर्णतः वैज्ञानिक है।

यह विकास परिणामी नित्य द्रव्य में ही हो सकता है, एकान्त–नित्य–स्थिति रूप द्रव्य में नहीं। विकास के साथ ऱ्हास जुडा हुआ है। जीव का चरम विकास निर्माण है और ऱ्हास निगोद अवस्था है। पुद्गल के साथ विकास और ऱ्हास की कोई सीमा नहीं होती। वह अनन्तप्रदेशी स्कन्ध बन जाता है और बिखरकर परमाणु हो जाता है। जीव के विकास में और ऱ्हास में बाह्य और आन्तरिक प्रेरणा काम करती है क्योंकि वह चैतन्यमयी होता है पर पुद्गल में अचेतन होने के कारण उसका विकास और ऱ्हास चैतन्य–प्रेरित नहीं होता।

लोक का स्वरूप

जैनदर्शन के अनुसार यह लोक अथवा विश्व षड् द्रव्यों से बना हुआ है। वह अनादि अनन्त है। उसका न कोई निर्माता है और न विध्वंसक है। वह तो स्वयं परिवर्तनशील है। उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य तत्त्व उसमें विद्यमान हैं।

अधोलोक में सात भूमियां (नरक) अवस्थित हैं – रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुका, पंक, धूम, तम और महातमप्रभा। मध्यलोक में असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। उनमें जम्बूद्वीप थाली के आकार का है। उसमें हैमवत आदि सात क्षेत्र हैं। उनका विभाजन करने वाले हिमवान आदि छह पर्वत हैं। मेरू पर्वत से ऊपर ऊर्ध्वलोक है जिसमें सोलह स्वर्ग हैं – सौधर्म, ईशान आदि। उनके ऊपर नव कल्पातीत विमान अर्थात् ग्रैवेयक हैं। उनके ऊपर विजय आदि पांच कल्पातीत (अनुत्तर) विमान हैं। सर्वार्थ सिद्धि के ऊपर ईशत्प्रभार पृथ्वी है जिसे सिद्धशिला कहा गया है। मुक्त आत्मायें यहीं अनन्तकाल तक रहती हैं। इसके बाद अलोकाकाश प्रारम्भ होता है।

नासा सेन्टर, ह्यूसटन (अमेरिका) में काम करनेवाले वैज्ञानिकों ने लोक अथवा ब्रह्माण्ड का गंभीर अध्ययन किया है। वहां लगातार परीक्षण होते रहते हैं। रूस, फ्रान्स, जर्मनी, भारत, ब्रिटेन आदि देशों में भी ऐसे केन्द्र स्थापित हुए हैं और तरह–तरह के परीक्षणों से ब्रह्माण्ड की स्थिति का पता चलता रहता है। अभी हाल जनवरी २००३ में वाशिंगटन से एक समाचार प्रकाशित हुआ है जो यहां विशेष उल्लेखनीय है।

नासा के वैज्ञानिकों ने ब्रह्मांड की उम्र का पता लगाया है। तदनुसार वैज्ञानिकों के नए निष्कर्ष के अनुसार ब्रह्मांड की आयु १३ अरब सात करोड़ वर्ष है जबकि दो वर्ष पहले इसकी आयु साढ़े १२ अरब वर्ष निर्धारित की गई थी। वैज्ञानिकों ने यह भी पता लगाया है कि महाविस्फोट बिग बैंग के मात्र २० करोड़ वर्ष बाद ही तारों का उदय हुआ था। अमेरिकी अंतरिक्ष एजेंसी नासा के वैज्ञानिकों ने बताया कि इस समय पृथ्वी से लगभग १० लाख साठ हजार किलोमीटर दूर स्थित रोबोटयान ने ब्रह्मांड की आयु से जुड़े अनेक सवालों के जवाब ढूंढ निकाले हैं।

वैज्ञानिकों ने विलकिंसन माइक्रोवेव एनीसोटोफी प्रोव अभियान के तहत की गई अपनी इस खोज का खुलासा करते हुए यह घोषणा कर दी। इस अभियान के माध्यम से उस काल का पता लगाया गया जब न तो तारे थे और न ही आकाशगंगा। वैज्ञानिकों ने अनुमान लगाया है कि तापक्रम में फर्क के कारण ब्रह्मांड की उत्पत्ति हुई। डब्ल्यू.एम.ए.पी. अध्ययन के जरिए महाविस्फोट से

तीन लाख अस्सी हजार वर्ष बाद की स्थिति का आकलन किया जा सकता है। इस अध्ययन के जरिए हब्बल अंतरिक्ष दूरबीन से भी ज्यादा पीछे का समय देखा जा सका है। डब्ल्यू.एम.ए.पी. द्वारा भेजे गए चित्रों में समूचे आकाश का चित्र है जो अंडाकार और धब्बेदार है जिसमें गर्म और शीत क्षेत्र हैं। यह चित्र एक साल तक पूरे ब्रह्मांड का अध्यन करने के बाद लिया गया है जिसमें सभी ग्रह नक्षत्रों की गतिविधियों का आकलन किया गया है। नासा ने १९९२ में भी इसी तरह रंगीन अंडाकार चित्र लिया था लेकिन वह अस्पष्ट तथा धुंधला था। इस बार के चित्र अपेक्षाकृत स्पष्ट हैं।

इस खोज के बाद नासा के मौजूदा अभियान के प्रमुख खोजी चार्ल्स बेनेट ने संवाददाताओं से कहा कि डब्ल्यू.एम.ए.पी. से नए निष्कर्षों का सुनहरा भंडार मिल गया है। हमने शिशु ब्रह्मांड की पूरी तस्वीर का नया ब्यौरा उतार लिया है। इससे ब्रह्मांड की असली तस्वीर उभर कर आ गई है। प्रिंस्टन विश्वविद्यालय के एडवांस्ड स्टडी इंस्टीट्यूट के जॉन बाकौल ने कहा कि आज की घोषणा ने ब्रह्मांड के बारे में अनुमान से निष्कर्ष पर पहुंचने की वैज्ञानिक प्रक्रिया मुहैया कराई है। उन्होंने इसकी व्याख्या एक उदाहरण देकर की। उन्होंने कहा कि आज का ब्रह्मांड ५० वर्षीय मनुष्य के बराबर है। मौजूदा अभियान से अतीत में जाकर यह पता लगाया गया है कि १२ घंटे की आयु में उसकी क्या स्थिति थी। अभियान के निष्कर्ष की घोषणा पिछले हफ्ते की जानी थी लेकिन १ फरवरी को कोलंबिया अंतरिक्ष यान की दुर्घटना के कारण यह स्थगित कर दी गई थी। ब्रह्माण्ड का यह अध्ययन जैन सम्मत लोक के स्वरूप को पुष्ट करने वाला लगता है। विश्वास है, आगामी अध्ययन इस दिशा में और भी उपयोगी सिद्ध होगा।

प्रतीक प्रयोग

एक साधारण धार्मिक व्यक्ति के लिए आकाश का कोई विशेष महत्त्व भले ही न हो पर गहराई से विचार करने पर उसका महत्त्व उसे समझ में आ सकता है। सारे धार्मिक कार्य आकाश में ही होते हैं। सर्वत्र आकाश विद्यमान है। ध्यान के लिए भी आकाश का अपना महत्त्व है। इसलिए उसे पवित्र बनाये रखना भी हमारा कर्तव्य है। शुद्ध और अशुद्ध आकाश को पृथक् करने के लिए

घरों और मन्दिरों में देहली बनाई जाती है और देहली को छूकर शिर नमाया जाता है। देहली ही भूत–पिशाचों को अन्दर आने से रोकती है। मन्दिर का गर्भगृह पवित्र आकाश का प्रतीक है जहां परमात्मा के दर्शन होते हैं। लगभग सभी दर्शन इसे स्वीकार करते हैं। इसमें पुरोहित की आवश्यकता नहीं होती।

आकाश की अनन्तता और साधक व्यक्ति या समाज की शक्ति की सान्त सीमा के बीच किसी सीमा रेखा खींचने का मन होता है। उसके सामने दृश्य आकाश की पवित्रता और अदृश्य आकाश की अपवित्रता का भाव आता है। अदृश्य आकाश में देवों का वास माना जाता है। दृश्य आकाश में पवित्रता लाने और उसे विप्लव मुक्त रखने के लिए स्थान को पवित्र किया जाता है। यज्ञ और अग्नि की स्थापना के पीछे यही दर्शन है। उसके माध्यम से उसमें देवों की प्राणप्रतिष्ठा की जाती है। स्तम्भ देवों से सम्बन्ध स्थापित करने का एक माध्यम है जिसे हम स्वर्गपथ कह सकते हैं। उसे हम आकाशगंगा का भी प्रतीक मान सकते हैं।

ब्रह्माण्ड के तीन भाग हैं – ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, और अधोलोक। ऊर्ध्वलोक में देवों का वास है, मध्यलोक में मानवों और पशु–पक्षियों का तथा अधोलोक में मृत अपराधियों की दुःखी आत्मायें रहती हैं जिन्हें नारकी कहा जाता है। इन सभी से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए मेरुदण्ड को केन्द्र में संस्थापित किया जाता है। इसे कहीं कहीं **Axis mundi** कहा जाता है। उनके संस्थापन के लिए एक पर्वत की कल्पना की जाती है जिसे मेरू की संज्ञा दी गई। यह मेरू पर्वत देवों और मुक्तात्माओं से सम्बन्ध स्थापित कराता है। उस पर मन्दिरों और मूर्तियों की स्थापना के पीछे भी यही उद्देश्य सन्निहित है। सभी संस्कृतियों में इसी प्रकार की कल्पना कर प्रतीकात्मक मन्दिरों का निर्माण किया गया है। इनमें केन्द्र स्थान के रूप में मध्यलोक माना जाता है। मन्दिर का छत और दीवालें दिशाओं को और निम्न भाग पृथ्वी को संकेतित करते हैं। मेरू आध्यात्मिक विकास का और सर्प विप्लव का प्रतीक है। इसका अंकन प्राचीन भारतीय मुद्राओं पर बहुत हुआ है।

वस्तुतः प्रतीक अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है। आचार्यों ने प्रतीकों का प्रयोग आकाश, काल आदि को समझाने के लिए किया है। काल के

मापन के लिए भी प्राचीन काल में प्रतीकों का प्रयोग किया जाता रहा है। उदाहरण के लिए शत्पथ ब्राह्मण में कहा गया है कि ३६० यज्ञ ईटों को एक वर्ष बराबर माना गया है। दो प्रकार के समय की कल्पना की जाती है – क्षणिक और स्थायी। १२,००० वर्षो का एक महायुग होता है, एक महाप्रलय १,००० महायुगों के बाद आता है। ४,३२०,००० वर्षों का एक युग होता है। कल्प सागर धनुष आदि को भी इसी प्रतीकात्मक सन्दर्भ में देखा जा सकता है।

प्रकृति का प्रयोग भी प्रतीकों में किया गया है। उदाहरणतः ऊंचाई को पवित्रता का प्रतीक माना जाता है। पर्वतों और वृक्षों पर देवों का आवास माना जाता है। सागर, सरिता, जल को भी प्रतीक बनाया गया है। वृक्षों को भी पवित्र प्रतीक समझा गया है। धर्मो के इतिहास में ये प्रतीक देखे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ मेसोपोटामिया में वृक्षों को जीवन और युवावस्था का, Old Testament में अविनश्वरता और ज्ञान का प्रतीक माना जाता है। लगता है, ब्रह्माण्ड (Cosmos) धार्मिक परिप्रेक्ष्य में एक गूढलिपि है जिसमें चिन्तकों ने जीवन के विविध पक्ष देखे हैं। इसलिए समूची भारतीय परम्परा में वृक्षों को धार्मिक क्षेत्र में भी बहुत महत्त्व दिया गया है। महावीर और बुद्ध ने वृक्षों के नीचे बैठकर ही बोधि प्राप्त की है। जैन परम्परा में ऐसे वृक्षों को चैत्यवृक्ष कहा जाता है। ताओ धर्म में भी उनकी अच्छी मान्यता है। चैत्यवृक्षों का अंकन प्राचीन भारतीय मुद्राओं पर बहुत मिलता है।

वृक्षों के अतिरिक्त पाषाण आदि प्राकृतिक पदार्थो का भी उपयोग धार्मिक क्षेत्र में प्रतीक बनाकर किया जाता रहा है। पाषाण व्यक्ति की अनित्यता आदि का सूचक है। चन्द्र उसके जन्म–मरण परम्परा को, सूर्य ज्ञान को तथा अज्ञान अन्धकार को व्यक्त करता है। चौबीस तीर्थंकरों के चिन्हों को भी हम प्रतीकात्मक पद्धति से समझ सकते हैं। तीर्थंकरों ने अपनी जीवन–पद्धति प्रकृति से जोडी थी इसलिए उनके चिन्हों को भी प्रकृति में से खोजा गया है। पशु–पक्षी और जीव प्रकृति के ही अन्यतम अंग हैं। वृषभ, गज, अश्व, बानर, गैंडा, महिस, शूकर, सेही, किरण, बकरा, सर्प और सिंह पशुओं में से चिन्हों के लिए चुने गये हैं, चक्रवाक्, मगर, कच्छप और मत्स्य जलचर जीव हैं, कमल, कल्पवृक्ष, वनस्पति जगत के प्रतिनिधि हैं। स्वस्तिक, वज्रदण्ड, कलश, शंख

और अर्धचन्द्र मानव कल्याण की कामना के प्रतीक हैं। ये सभी चिन्ह पर्यावरण

को विशुद्ध रखने में सहयोगी कारण हैं। इन सभी प्रतीकों का अंकन प्राचीन भारतीय मुद्राओं पर देखने में बहुत आता है। संभवतः उन्हीं के आधार पर तीर्थंकरों के चिन्ह निश्चित किये गये होंगे।

इसी तरह मृग, पृथ्वी, दोगुंछी, अग्नि, दीप्ति, निर्वाण, भारुण्डपक्षी, चैत्यवृक्ष, कुमुद, कोष्ठागार, जम्बूवृक्ष, मन्दार पर्वत, तम, शिर, कापोत, दुष्टाश्व, किंपाकफल, सारथि, सर्प आदि सैकडों शब्द हैं जो जैन दर्शन को अभिव्यक्त करने के लिए प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इन सभी कलात्मक प्रतीकों का विश्लेषण अपने आप में एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की अपेक्षा रखते हैं।

मानवीय अस्तित्व के सन्दर्भ में भी प्राकृतिक प्रतीकों का महत्त्व आंका जा सकता है। कृषि का महत्त्व सर्वत्र रहा है। भूमि की उर्वरा शक्ति को नारी से जोडा गया है। नारी ही प्रकृति या शक्ति का अंग है और पुरुष शिव का। दोनों के सम्बन्ध से तान्त्रिक परम्परा के अनुसार सर्वोच्च शक्ति प्राप्त होती है। शिव और शक्ति के संभोग (मैथुन) से कालचक्रतन्त्र में मुक्ति प्राप्त करने का एक साधन माना गया है। पर जैन परम्परा ने इसे बिलकुल भी स्वीकार नहीं किया है।

त्रिलोक के स्वरूप से यह समझ में आता है कि धार्मिक व्यक्ति या पुरुष एक खुले संसार में रहता है। वह परमात्मा और देवों से सम्बन्ध स्थापित करता है और संसार की पवित्रता को भी वह बनाये रखता है। वैदिक परम्परा के समान जैन परम्परा में प्राप्त त्रिलोक का स्वरूप भी पुरुष के शरीर के आकार का है। उदाहरण स्वरूप उसका मेरुदण्ड (Special colum) मेरुपर्वत है। श्वास हवा है, हृदय लोक का मध्यभाग है।

इसी तरह **मन्दिर** की भी सदृशता शरीर से की जाती है। शिखर को ब्रह्मरन्ध्र कहना इसी का प्रतीक है। सिद्धालय की व्यवस्था, निर्वाण की स्थिति और स्तूप के आकार की परिकल्पना भी पुरुष के शरीर से की गई है। सृष्टि का वह निदर्शन भी है। कर्मकाण्ड और यज्ञीय व्यवस्था में भी शरीराकार का उपयोग किया गया है। जैन परम्परा में तो आगम ग्रन्थों को भी शरीरांग की उपमा दी गई है।

संसार को अशुद्ध मानकर संस्कारों के माध्यम से उसे पवित्र किया जाता है। संस्कारों का भी निर्धारण इसी एक विशेष उद्देश्य से किया गया है। बालक का जन्म एक नये संसार में होता है। जन्म संस्कार उसे समाज और परिवार का अंग बना लेता है। विवाह संस्कार उसे गृहस्थावस्था से जोड़ता है और मृत्यु उसे दूसरे संसार में पहुंचाती है। अन्य सभी संस्कारों का भी अपना-अपना मूल्य है। मुनि दीक्षा होनेपर नाम परिवर्तन का भी ही आशय है कि अब उसने नये धार्मिक संस्कार में प्रवेश किया है। प्राचीन परम्परायें जो संस्थापित की गई हैं उनका सही अर्थ खोजे बिना उन्हें नकारा नहीं जाना चाहिए। नवाहो सिद्धान्त **Cosmology** पर आधारित है जिसके अनुसार संसार का हर कार्य मनुष्य और उसकी गतिविधियों से संबद्ध है। इसमें धर्म का सम्बन्ध अनुष्ठान से जोडा गया है और हर अनुष्ठान की अपनी-अपनी अनुश्रुतियां हैं। उसी से साधक ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करता है। ये अनुश्रुतियां हेतुवादी और उद्देश्यवादी होती हैं। विश्व की उत्पत्ति का सिद्धान्त भी सोद्देश्य होता है। जबतक उसका विरोधाभास न समझा जाये, संसृति-विज्ञान को नहीं समझा जा सकता। उदाहरणार्थ काल और क्षेत्र के विषय में पौराणिक विचारधारा है। यहां यदि जीवन है तो अन्यत्र भी जीवन होना चाहिए। संसार का हर तत्त्व परस्पर अनुस्यूत है। उसकी दिशायें प्राकृतिक प्रतीकों से अपूर हैं। उनका अपना रंग है और रंगों के पीछे कोई उद्देश्य छिपा है। जैनधर्म के साथ इसकी हम समीक्षा कर सकते हैं। नवाहो और जैन सिद्धान्त में काफी समानता दिखाई देती है।

सर्वप्रथम युगल पैदा हुआ जिसके साथ मानवीय लक्षण भी दिखाई दिये। उसने अज्ञानता को दूर करने का प्रयत्न किया। यहीं से प्रतीकों का जन्म हुआ। बैल को यहां शक्ति और कृषि का प्रतीक बताया। ऋषभदेव और उनके चिन्ह को हम इस श्रेणी में रख सकते हैं। वे स्वतन्त्र और सर्व सक्षम देव हैं। उनकी सहायता के लिए अन्य देव देवियों की स्थापना हुई। कुछ देव प्रतीति पैदा करने वाले होते हैं जो स्वभावतः शुभ हैं और कुछ अप्रतीति पैदा करने वाले होते हैं जो हानिकारक होते हैं। तीर्थंकर वगैरह शुद्ध और शुभ देव हैं पर भूत पिशाच आदि हानिकारक देव हैं।

नैतिक तत्त्व सामाजिक और धार्मिक दोनों प्रकार के होते हैं। मानव के

साथ ही पौधों और पशु-पक्षियों के कल्याण का भी नैतिक तत्त्व जुडा हुआ है।

प्रतीक भी उनसे संबद्ध हैं। पर्वतों, नदियों और अन्य प्राकृतिक तत्त्वों को भी प्रतीक बनाकर अपने सिद्धान्तों और अनुश्रुतियों के उद्देश्य को प्रस्तुत किया जाता है। जैन साहित्य के दोहन से यह प्रतीक परम्परा और अधिक स्पष्ट हो जाती है।

धर्म और अधर्म

द्रव्य के सन्दर्भ में जैनदर्शन में धर्म–अधर्म का प्रयोग क्रमशः गति और स्थिति तत्त्व के अर्थ के रूप में हुआ है। दोनों सापेक्ष हैं। एक के होने पर दूसरा होता ही है। ये दोनों द्रव्य जीव और पुद्गल की गति और स्थिति में निमित्तकारण बनते हैं। ये दोनों तत्त्व सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं। द्रव्य भी लोक में ही रहते हैं, अलोक में नहीं, क्योंकि वहां धर्म–अधर्म द्रव्य का अस्तित्व नहीं रहता। जैनेतर दर्शनों में इन दोनों तत्त्वों का कोई स्थान नहीं है।

वैज्ञानिक क्षेत्र में प्रचलित ईथर तत्त्व की तुलना धर्मतत्त्व से की जा सकती है। न्यूटन और आइन्स्टीन ने इस गति तत्त्व को स्वीकार किया है।

आकाश

जैनदर्शन में आकाश एक स्वतन्त्र द्रव्य है और दिक् उसी का एक भाग है। वह अमूर्तिक, अखण्ड, नित्य, सर्वव्यापक और अनन्तप्रदेशी द्रव्य है। उसका गुण अवगाहन है। आकाश के दो भेद हैं – लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश में पांच द्रव्यों का अस्तित्व है पर अलोकाकाश द्रव्यहीन है। एक असंख्यात प्रदेशी है तो दूसरा अनन्तप्रदेशी।

जैनेतर दर्शनों में आकाश और दिक् को प्रायःपृथक्–पृथक् माना गया है। कणाद ने दिक् को नौ द्रव्यों में संमिलित किया है। न्याय–वैशेषिक शब्द को आकाश का गुण मानते हैं। सांख्य आकाश को प्रधान का विकार मानते हैं। बौद्धदर्शन आकाश को असंस्कृत पदार्थ मानता है जिसमें उत्पादादि नहीं होते। पाश्चात्य दर्शन में न्यूटन, देकार्त आदि आकाश को बाह्यगत मानते हैं और बर्कले, ह्यूम आदि दार्शनिक उसे विषयीगत मानते हैं। विज्ञान भी आकाश के इन दो रूपों को मानता दिखाई देता है।

काल

श्वेताम्बर परम्परा की दृष्टि से औपचारिक और दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से वास्तविक काल द्रव्य पदार्थ के वर्तना, परिणाम, क्रिया और परत्वापरत्व व्यवहार में उपकारक है। पदार्थ के परिवर्तन में काल द्रव्य सहायक होता है। पदार्थ में स्वाभाविक या प्रायोगिक परिवर्तन को परिणाम कहा जाता है। उनमें होनेवाला परिस्पन्दात्मक परिणमन क्रिया है। परत्व–अपरत्व का सम्बन्ध क्षेत्र और काल से है। ये सभी परिणमन काल से संबद्ध हैं। प्रत्येक लोकाकाश के प्रदेश पर एक कालाणु द्रव्य अवस्थित है। उनका कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं।

काल भी अमूर्तिक और निष्क्रिय है। घडी, घण्टा, पल, दिन, रात आदि के रूप में उसका अस्तित्व प्रमाणित होता है। वे भूत, वर्तमान और भविष्यकाल के ही प्रतिरूप हैं। द्रव्यों के परत्व–अपरत्व (प्राचीनता और नवीनता) जानने का माध्यम भी काल है। अतः ऐसा काल मात्र व्यवहार के लिए माना जाता है। वह तो एक स्वाभाविक सिद्ध पदार्थ है जो सदा बदलता रहता है। नैश्चयिक काल समग्र विश्व में है।

काल के अनेक भेद होते हैं। मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, रात, दिन, मास, ऋतु आदि उसी के भेद हैं। पल्योपम, सागरोपम आदि भेद भी काल के ही हैं। उसका क्षेत्र अढाई द्वीप है।

पाश्चात्य दार्शनिकों में न्यूटन, देकार्त आदि विद्वान अन्तर्निरीक्षणवादी तथा यथार्थवादी हैं। वर्कले, ह्यूम मिल आदि दार्शनिक काल की बाह्यगत सत्ता को अस्वीकार करते हैं तथा उसे अमूर्त विचार मात्र मानते हैं। कान्ट ने काल को बुद्धिनिहित, अनुभव से पूर्व प्रत्यय माना है। हीगेल ने द्वयात्मक दृष्टिकोण से उपर्युक्त मतों को समन्वित करने का प्रयत्न किया है। एलेक्जेण्डर, आयन्स्टीन, ब्राड आदि दार्शनिक दिक् और काल को अभिन्न मानते हैं।

जैनधर्म के धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य एक दूसरे से जुडे हुए हैं । धर्म को ही न्यूटन ने 'ईथर' नाम दिया। आइन्स्टीन ने उस पर और विचार कर उसे अभौतिक, सर्वव्याप्य, अदृश्य और अखण्ड कहा। न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त ने भी इन सभी द्रव्यों को सिद्ध कर दिया। आइन्स्टीन ने Theory of

Relativity के माध्यम से सापेक्षता के सिद्धान्त को पुष्ट किया और आकाश–काल की अवधारणा को सत्य सिद्ध कर दिया।

******

परिवर्त – २

२. ज्ञानमीमांसा

ज्ञान दर्शन का ही अंग है। इसमें ज्ञाता–ज्ञेय का सम्बन्ध, ज्ञान की प्रक्रिया, भेद–प्रभेद, प्रामाणिकता, स्रोत आदि विषयों पर विचार किया जाता है। अनुभववाद और बुद्धिवाद का भी ज्ञानमीमांसा से सम्बन्ध है। ज्ञान के लिए दोनों की आवश्यकता होती है। दोनों की परीक्षा और समीक्षा की जाती है। महावीर परीक्षावादी और अनुभववादी रहे हैं। इसलिए जैन दर्शन में तत्त्व का गहन चिन्तन, मनन और परीक्षण किया जाता है स्वानुभूति के आधार पर। प्रमाण की भी यही परिसीमा रही है। स्वानुभूति और रत्नत्रय–परिपालन में अविनाभाव सम्बन्ध है।

प्रमाण : प्रत्यक्ष और परोक्ष

प्रमाण लक्षण और उसके भेद

आगम युग के ज्ञान शब्द ने दार्शनिक युग में प्रमाण का स्थान ले लिया। प्रमाण का तात्पर्य है पदार्थ का निस्संदिग्ध ज्ञान हो जाना – प्रमीयतेऽनेनेति प्रमा। जैन दर्शन में ज्ञान को स्व–पर प्रकाशक माना जाता है। अकलंक ने उसमें 'अविसंवादिकता' पद जोड़कर संशयादि दोषों का व्यवच्छेद किया और विद्यानन्द ने उसमें 'स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं' शब्द जोड़कर उसे और स्पष्ट कर दिया। बाद में माणिक्यनन्दि ने धारावाहिक ज्ञान को अप्रामाणिक सिद्ध करने की दृष्टि से उसमें 'अपूर्व' पद संयुक्त कर दिया और उसका अर्थ निश्चित– कर दिया। (स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्–परीक्षामुख. १.१)। उत्तरकालीन आचार्यो ने प्रमाण के निर्धारण में प्रायः आचार्य अकलंक या विद्यानन्द का अनुगमन किया है। यहां प्रमाण (प्र+मा+आण) का अर्थ यह भी है कि जिनके सर्वोत्कृष्ट अन्तरंग–बहिरंग लक्ष्मी और दिव्यध्वनि रूप वचन पाये जाते है ऐसे अरहन्त भगवान् प्रमाण है।

इस सन्दर्भ में यह भी विचारणीय है कि ठाणांग में श्रुतनिःसृत के मात्र दो भेद गिनाये गये – व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह। उत्तरकाल में उमास्वामी के समय तक अश्रुतनिःसृत में ईहा, अवाय और घारणा को भी जोड दिया गया। इसका वर्णन भगवती सूत्र (८८.२.३१७) में मिलता है। कुन्दकुन्दाचार्य के प्रवचनसार में उनका वर्णन आया है। (१.४०)। उनके पूर्ववर्ती पुष्पदन्त–भूतबली ने भी घवला में उसका वर्णन किया है जिसका समय ई.पू.ल. द्वितीय शती है। अतः भगवती सूत्र (८८.२.३१७) का यह विभाजन घवला का पूर्ववर्ती माना जा सकता है। सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष का विभाजन भी घवला में दृष्टव्य है। (९.४.१.४५.१४२) अतः इसे भी हम आगमकाल में समाहित कर सकते हैं। बाद में दार्शनिक काल में भी उसे स्वीकार कर लिया गया। प्रमाण नय तत्त्वालोक (२.२०) में इसका उदाहरण है। ठाणांग में यह विभाजन नहीं मिलता। अतः उसका समय घवला से पूर्ववर्ती होना चाहिए। अश्रुतनिःसृत के भेदों के विषय में कालक्रम का निर्णय सरल नहीं लग रहा है।

३) तृतीय विकासक्रम नन्दी सूत्र गत ज्ञान चर्चा में दृष्टव्य है जिसमें यह सब कुछ समाहित हो गया है –
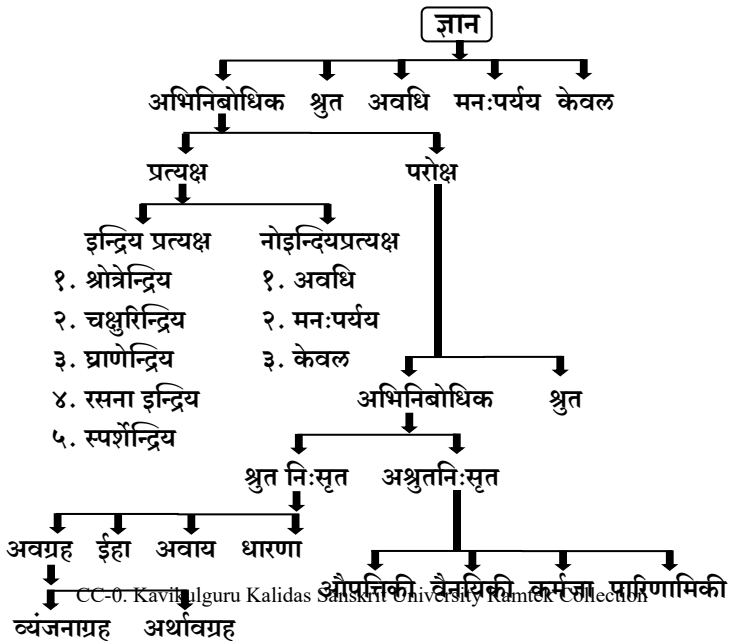
यहां ज्ञान को पांच भेदों में विभक्त कर उन्हें फिर प्रत्यक्ष और परोक्ष में विभाजित कर दिया गया है। ठाणांग की धारणा का यहां विकास हुआ है और फलतः उसे इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष को सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष और आत्मजन्य प्रत्यक्ष को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा गया है। आचार्य अकलंक और जिनचन्द्रने यह विभाजन देकर लौकिक प्रत्यक्ष के साथ समानता स्थापित कर दी। प्रत्यक्ष की परिभाषा का यह एक नया विकासक्रम है। तदनुसार अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान आत्मसापेक्ष होने के कारण पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं। श्रुतज्ञान तदनुसार परोक्ष है और इन्द्रियजन्य मतिज्ञान पारमार्थिक दृष्टि से परोक्ष है और व्यावहारिक दृष्टि से प्रत्यक्ष है। वैसे मनोजन्य मतिज्ञान परोक्ष के ही अन्तर्गत है।

अकलंक की यह समन्वय प्रक्रिया उनके व्यवसायात्मकता की प्रतिश्रुति है जिसे प्रमाण लक्षण की परिधि में संयोजित किया गया है। सांख्यकारिका में व्यवसाय के स्थान पर अध्यवसाय शब्द का प्रयोग हुआ है और न्यायसूत्र में प्रत्यक्ष को व्यवसायात्मक माना है। ठाणांग में भी व्यवसाय शब्द मिलता है और उसे तीन प्रकार का बताया है – **तिविहे ववसाए पण्णत्ते तं जहा – पच्चक्खे पच्चतिते आणुगमिए** – (सू.१८५)। आचार्य अभयदेव ने ठांणांग की टीका में प्रत्यक्ष शब्द से सांव्यावहारिक और पारमार्थिक प्रत्यक्ष, प्रत्ययित शब्द से अनुमान और आनुगमिक शब्द से आगम प्रमाण को अभिप्रेत माना है। अकलंक का समय सातवीं शती और अभयदेव का समय है ग्यारहवीं शती। अतः यह निश्चित है कि अभयदेव के समय तक अकलंकदेव का चिन्तन विश्रुत हो चुका था। अधिक संभव है, अकलंक ने ठाणांग से यह शब्द ग्रहण किया हो। ठाणांग में जो तीन प्रकार के व्यवसाय का कथन किया गया है, संभव है, वहां सांख्य परम्परा सम्मत तीन प्रमाणों की ओर संकेत किया हो – प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। आगम के लिए ऐतिह्य शब्द का भी प्रयोग होता है। चरक में इसे मिलाकर चार प्रमाणों का उल्लेख आता है। पंच ज्ञानों के आधार पर पंच प्रमाणों पर भी जैनागमों में चिन्तन हुआ होगा। ठाणांग में प्रमाण के चार भेद भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से किये गये हैं। (सू.१३२)। जैनागम में प्रमाण भेदों के उल्लेख इस प्रकार से अनेक रूप से मिलते हैं जिनसे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि जैनागम प्रमाण भेदों से भलीभांति परिचित थे। तदनुसार मूल प्रमाण दो हैं – प्रत्यक्ष और परोक्ष।

प्रमाणों का अन्तर्भाव हो जाता है। स्मृति, तर्क, अनुमान, आगम और प्रत्यभिज्ञान प्रमाणों का अन्तर्भाव परोक्ष में हो जाता है। अर्थापत्ति अनुमान का ही विषय है। मीमांसक अभाव प्रमाण को मानते हैं। जैन और सांख्य इसे स्वीकार नहीं करते क्योंकि वह भाव स्वरूप ही है। घट रहित भूतल का ही नाम घटाभाव है।

प्रमाण लक्षण का विकासक्रम

प्रमाण का तात्पर्य है वस्तु तत्त्व का यथार्थ ज्ञान जिसमें किसी भी प्रकार का संशय, विपर्यय आदि दोष नहीं होते। **'प्रमायाः करणं प्रमाणम्'** अर्थात् प्रमा का करण ही प्रमाण है। प्रमा का तात्पर्य है जो वस्तु जैसी हो उसका वैसा ही ज्ञान होना। और करण का तात्पर्य है साधकतम करण अर्थात् फलकी सिद्धि में सर्वाधिक उपयोगी तत्त्व। जैसे कागज के काटने में चाकू साधकतम कारण है और हाथ साधक है।

प्रमाण का सर्वप्रथम लक्षण आचार्य समन्तभद्र ने किया – **स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्, वृहत् स्वयंभू स्तोत्र** ६३१ अर्थात् स्वपरावभासी ज्ञान प्रमाण है। इसमें आचार्य अकलंक ने "अनधिगतार्थक अविसंवादी" शब्द जोडकर प्रमाण का लक्षण इस प्रकार प्रस्थापित किया – प्रमाणमविसंवादी ज्ञानमनधिगतार्थ **लक्षणत्वात्, अष्टशती अष्टसहस्री**, पृ.१७४। इसके पूर्व आचार्य समन्तभद्र द्वारा प्रस्थापित प्रमाण के लक्षण में आचार्य सिद्धसेन ने 'वाधवर्जितम्'(न्यायावतार)। अकिलंकने इसी को और अधिक स्पष्ट करने के लिए व्यवसायात्मक विशेषण भी लगा दिया–**व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्**–लघीयस्त्रय, ६०। इस लक्षण की पृष्ठभूमि में अकलंक ने ही अपना प्रमाण लक्षण बनाने की प्रेरणा ली – **'प्रमाणमविसंवादि ज्ञातमनधिगतार्थलक्षणत्वात्'**। प्रमाण के इस लक्षण में आचार्य समन्तभद्र और अकलंक ने सन्निकर्ष और संशय आदि को प्रमाण की कोटि से बाहर कर दिया। विद्यानन्द ने सम्यग्ज्ञान को और माणिक्यनन्दी ने **स्वापूर्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण** कहा।

प्रश्न है, साधकतम करण क्या है? बौद्ध दर्शन सारूप्य और योग्यता को 'करण' मानता है। (न्यायबिन्दु, १.१९.२०)। नैयायिक सन्निकर्ष और ज्ञान इन दोनों को करण मानते हैं। जैनाचार्य इसका खण्डनकर मात्र ज्ञान को ही करण के रूप में स्थापित करते हैं (न्याय भाष्य, १.१.३) और सन्निकर्ष और योग्यता आदि अर्थबोध को सहायक सामग्री के रूप में स्वीकार करते हैं।

अकलंक ने नैयायिक आदि दर्शनों में मात्र सन्निकर्ष की प्रामाणिकता को अस्वीकार करते हुए कहा है, प्रत्येक ज्ञान को प्रमाण नहीं माना जा सकता अन्यथा संशय, विपरीत और अकिंचित्कर ज्ञान को भी प्रमाण स्वीकार करना पडेगा। अतः ज्ञान को ही प्रमाण कहा जाना चाहिए। बौद्ध भी ज्ञान को ही प्रमाण की कोटि में रखते हैं। हां, उपचार से भले ही सन्निकर्ष आदि को प्रमाण कहा जा सकता है।

वैदिक आदि अन्य जैनेतर दार्शनिक ज्ञान को प्रमाण न मानकर ज्ञान के कारणों को प्रमाण मानते हैं और ज्ञान को प्रमाण का फल स्वीकार करते हैं। उनमें पारस्परिक मतभेद भी दिखाई देते हैं। उदाहरणार्थ –

१. वात्सायन – उपलब्धि के साधन ही प्रमाण हैं (ल.का.३) (न्याय. मा.वृ.१८)
२. उद्योतकर–सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं (न्याय मं.पृ.८)
३. जयन्त – कारकसाकल्य को प्रमाण मानते हैं (सांख्य का. २८)
४. सांख्य – इन्द्रियों की विषयाकार रूपवृत्ति को प्रमाण मानते हैं।
५. भाट्टप्रभाकर – ज्ञातृव्यापार को प्रमाण मानते हैं (न्याय मंजरी, पृ.१७)
६. बौद्ध दर्शन – निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमाण मानते हैं।

आगे ज्ञान के विषय में चिन्तन हुआ। कोई उसे परोक्ष मानता है तो कोई अचेतन कहता है। जैसे –
१. मीमांसक – ज्ञान को परोक्ष मानते हैं। (शावरभाष्य १.११.१५)
२. नैयायिक – ज्ञानन्तर से वेद्य है (प्रश.व्योम.पृ. ५२९)
३. सांख्य – ज्ञान अचेतन है (सांख्यकारिका)

इन सारी मान्यताओं का समीक्षण करते हुए जैनाचार्य विद्यानन्द (७३५–८४० ई.) ने उस ज्ञान को प्रमाण माना जो अपना और पदार्थ का निश्चयात्मक

ज्ञान दे – **स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्** (तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, १.१०, का. ७७)। माणिक्यनन्दि (९९३–१०५३ ई.) ने इस लक्षण में अपूर्व पद और जोड दिया – **स्वापूर्वार्थ व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्** (परीक्षामुख, १)। प्रभाचन्द्र ने इस अपूर्व विशेषण को स्वीकार किया पर धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण नहीं माना। इस पर भाट्ट दार्शनिकों ने कहा कि इसमें प्रमाणसम्प्लव का विरोध होगा। प्रभाचन्द्र ने इसका समाधान करते हुए कहा कि यदि ज्ञान अर्थ को पुनः विशेष रूप से कोई ज्ञान कराये तो उसे भी प्रमाण ही कहा जायेगा और वह भी अपूर्व कोटि में आयेगा। यहां तक प्रमाण का लक्षण लगभग स्थिर हो गया।

इस तरह जैन परम्परा में प्रमाण के लक्षण का विकास हुआ। इसमें प्रमाण का मूल तत्त्व है – निर्णायक ज्ञान। अन्य तत्त्व इसी तथ्य के पोषक होते हैं जैसा आचार्य विद्यानन्द ने कहा है – **तत्त्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञानं मानमितीयत्ता** (तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, १.१०.७७)। समन्तभद्र का स्वपरावभासी ज्ञान भी यही अर्थ द्योतित करता है। परन्तु दार्शनिक क्षेत्र में जैसे–जैसे तर्क–वितर्क बढने लगे, प्रमाण की परिभाषा में और भी स्पष्टता आती गई। फलतः सिद्धसेन का बाधविवर्जित विशेषण, अकलंक का स्वपरावभासी अविसंवादी ज्ञान, विद्यानन्द का सम्यग्ज्ञान, माणिक्यनन्दि का स्वापूर्वार्थ–व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण की परिभाषा में उत्तरोत्तर स्पष्टता व्यक्त करते रहे। इसी सन्दर्भ में ग्रहीतग्राही धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण माना जाये या नहीं? इस प्रश्न पर जैन परम्परा विभक्ति हो गई। दिगम्बर आचार्यों ने ग्रहीतग्राही धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण नहीं माना। विद्यानन्द ने तो स्पष्ट कह दिया कि स्व–पर का निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है। चाहे वह ग्रहीतग्राही हो या अग्रहीत ग्राही। दूसरी ओर प्रभाचन्द्र ने 'अर्पूव' विशेषण देकर इसी विचारधारा की पुष्टि की है।

प्रमाण का अन्तिम लक्षण आचार्य हेमचन्द्र से स्थिर हो गया। उन्होंने लक्षण दिया – **सम्यगर्थ–निर्णयः प्रमाणम्** अर्थात् अर्थ का सम्यक् निर्णय ही प्रमाण है (प्रमाणमीमांसा, १.३)। इसी लक्षण को आचार्य तुलसी ने 'यथार्थ ज्ञानं प्रमाणम्' कहकर अनुमोदित किया है।

प्रमाण का तात्पर्य है अर्थबोध में अविसंवादित्व होना। आचार्य विद्यानन्द ने इसी को अबाधित तत्त्वबाधक प्रमाण का अभाव कहा है। यही अनधिगतार्थ ग्राही है।

सविकल्पक ज्ञान

१) जैन परम्परा में सविकल्पक ज्ञान को प्रमाण माना गया है जबकि बौद्ध परम्परा में निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमाण की कोटि में रखा गया है। इस का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य अकलंक ने किया। उन्होंने कहा कि बौद्ध सविकल्पक ज्ञान को यदि प्रमाण नहीं मानते तो फिर अनुमान को भी अपमाण कहना पडेगा क्योंकि वह भी अनधिगतार्थ ग्राही नहीं है। इस तथ्य को भी स्वीकार किया जाना चाहिए कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा अनिर्णीत नीलादि का निर्णय सविकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा ही होता है।

२) दूसरी बात, बौद्ध का यह कहना भी सही नहीं होगा कि पदार्थ की स्मृति प्रमिति विशेष को उत्पन्न नहीं करती क्योंकि अर्थ मात्र की स्मृति भी जाने हुए अर्थ को ही जानने के कारण प्रमाण नहीं है। जैन परम्परा का इस सन्दर्भ में यह मत है यदि वह स्मृति पूर्व निश्चित अर्थ मात्र का स्मरण न करके उसके विषय में विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न कराती है तो वह प्रमाण है। इसलिए प्रमाण के लक्षण में 'अनधिगतार्थ ग्राही और अपूर्वार्थ' विशेषण सविकल्पक ज्ञान को प्रमाण कोटि में संयोजित कर देते हैं।

प्रमाण का अर्थ है निर्दोष ज्ञान। यह निर्दोष ज्ञान संवादज्ञान से होता है जो उस अर्थ के ज्ञान के पश्चात् होता है जो ग्रहीत अर्थ को ही ग्रहण करता है। ऐसी स्थिति में प्रमाण अनधिगतार्थ ग्राही कैसे हो सकता है क्योंकि उसका ज्ञान पूर्व ज्ञान से ही संबद्ध है। इस ज्ञान का विकासक्रम यह है कि प्रथम ज्ञान तो वस्तु मात्र का निश्चायक होता है। उसके बाद वह अपने अनुकूल कहां तक है यह ज्ञान होता है अनुमानादि प्रमाणों से। अतः कथंचित् अपूर्वार्थ ग्राही ज्ञान को ही प्रमाण माना जाना चाहिए अन्यथा तैमरिक रोगी का आकाश में दो चन्द्रमा का ज्ञान भी प्रमाण माना जायेगा। अतः सर्वथा अपूर्वार्थ ग्राही ज्ञान के स्थान पर कथंचित् अपूर्वार्थग्राही ज्ञान को ही प्रमाण कहा जाना चाहिए। यहां अनधिगत और अपूर्व शब्द समानार्थक हैं।

धारावाहिक ज्ञान की प्रामाणिकता

धारावाहिक ज्ञान का तात्पर्य है एक ही घट में प्रथम काल में घट विषयक ज्ञान हो जाने पर भी उत्तर काल में 'यह घट है, यह घट है' इस प्रकार का लगातार ज्ञान का होना धारावाहिक ज्ञान है।

बौद्ध तथा मीमांसक अनधिगतार्थ ग्राही और अपूर्वार्थ ग्राही ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। परन्तु बौद्ध धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण नहीं मानते जबकि मीमांसकों में प्रभाकरीय और कुमारिलीय दोनों शाखाएं धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण तो मानती हैं पर दोनों की विचारधारा में अन्तर है। भाट्ट दार्शनिकों की अवधारणा है कि पूर्वज्ञान में काल भेद होने पर भी प्रामाणिकता होने के कारण उत्तरकालीन ज्ञान में प्रामाणिकता तो है ही। पर प्रभाकरी दार्शनिक इस कालभेद को स्वीकार किये बिना ही उसे प्रमाण मानते हैं। इस वैचारिक मतभेद का कारण यह है भाट्ट दार्शनिक प्रमाण लक्षण में प्रदत्त अपूर्व शब्द को स्वीकार करते हैं जबकि प्रभाकर मतानुयायी अनुभूति मात्र को ही प्रमाण मानते हैं।

जैन परम्परा में धारावाहिक ज्ञान के सन्दर्भ में दो विचारधाराएं उपलब्ध हैं। प्रथम विचारधारा के अनुसार चूंकि अपूर्वार्थग्राही ज्ञान को प्रमाण कहा जाता है अतः वहां धारावाहिक ज्ञान की आवश्यकता ही नहीं रहती। यहां उसे सर्वथा अपूर्वार्थ रूप में स्वीकार नहीं किया गया बल्कि उसे कथंचित् माना गया। अतः उत्तरकालीन ज्ञान में कुछ वैशिष्ट्य होने पर ही वह ज्ञान प्रमाण माना जा सकेगा। दूसरी विचारधारा के अनुसार **"स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्"** अपने आप में परिपूर्ण लक्षण है। उसमें अपूर्व विशेषण की आवश्यकता नहीं है। धारावाहिक ज्ञान यदि स्वार्थ का निश्चायक है तो वह प्रमाण है। यदि ग्रहीतग्राही होने से स्मृति प्रमाण नहीं है तो धारावाहिक ज्ञान भी प्रमाण नहीं माना जा सकता है। इसमें प्रथम विचारधारा अकलंक द्वारा पुरस्कृत हुई जो तत्त्वार्थवार्तिक में मिलती है। दूसरी विचारधारा के पुरस्कर्ता आचार्य विद्यानन्द और माणिक्यनन्दि जैसे आचार्य रहे हैं जिसे तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में देखा जा सकता है। उन्होंने प्रमाण की परिभाषा में अपूर्व विशेषण व्यर्थ माना है। यहां स्मृति प्रमाण का भी सन्दर्भ आ जाता है। बौद्ध और मीमांसक स्मृति को स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार नहीं करते। अतः उनके मत में अनधिगत और अपूर्व पद का संयोजन उपयोगी है

परन्तु जैन परम्परा में स्मृति को स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है। अतः वहां इन दोनों विशेषणों की आवश्यकता नहीं है। अतः माणिक्यनन्दि ने अपने प्रमाण के लक्षण में जो अपूर्व आदि शब्दों को संयोजित किया है वह दिगम्बर परम्परा में धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण मानता है अतः वहां भी इन शब्दों को मान्य नहीं किया गया। हेमचन्द्र सूरि ने अपनी प्रमाण मीमांसा में ग्रहीष्यमाण ग्राही की तरह ही ग्रहीतग्राही को भी प्रमाण माना है। उनका कहना है कि पयार्य की अपेक्षा धारावाहिक ज्ञान ग्रहीतग्राही नहीं है क्योंकि पर्याय क्षणिक होती है। अतः उसका निराकरण करने के लिए प्रमाण के लक्षण में 'अपूर्व' पद देना व्यर्थ है। जैन दर्शन में ग्रहीतग्राही होने पर भी अवग्रह, ईहा आदि को प्रमाण माना गया है।

आचार्य अकलंक ने प्रमाण के लक्षण में 'अनधिगतार्थग्राही' विशेषण लगाकर एक नयी परम्परा प्रारम्भ कर दी (लघीयस्त्रयी, ६०)। इस परम्परा पर बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति का प्रभाव रहा है। न्याय–वैर्शषिक और मीमांसक धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण मानने के पक्षधर रहे हैं और बौद्धों ने उसका विरोध किया है। आचार्य अकलंक ने इसमें बौद्धों का साथ दिया और फलतः धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण की कोटि में नहीं रखा। अकलंक का अविसंवादी विशेषण प्रमाण की परिभाषा को अधिक संपुष्ट करता है। इसमें प्रवृत्ति सामर्थ्य दिखाई देता है और परिणाम फलदायक होते हैं।

बाद में प्रमाण को स्वतः और परतः दोनों के रूप में देखा जाने लगा। परिचित दशा में स्वतः होता है और अपरिचित दशा में परतः होता है। विशेष कारणों की सहायता से होने वाला ज्ञान परतः कहलाता है। ज्ञान के स्वरूप ग्रहण की अपेक्षा ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः होता है। वस्तु का जब सम्यक् निर्णय नहीं होता तब वह ज्ञान अयथार्थ कहलाता है, विपरीत कहलाता है।

विपरीत ज्ञान के सम्बन्ध में विविध दर्शनों में विविध धारणाएं हैं। जैसे–सांख्य, योग और मीमांसक इसे विवेकाख्याति या अख्याति कहते हैं, वेदान्त अनिर्वचनीय ख्याति, बौद्ध (योगाचार) 'आत्मख्याति', कुमारिल भट्ट, 'नैयायिक–वैशेषिक' विपरीत ख्याति और चार्वाक् अख्याति कहते हैं। जैन दृष्टि के अनुसार यह सत्–असत् ख्याति है। यथार्थ ज्ञान संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से मुक्त रहता है। अयथार्थ ज्ञान के निमित्त प्रमाता और बाह्य

सामग्री दोनों हैं। इसमें ज्ञान–मोह या ज्ञानावरणीय कर्म मुख्य कारण होता है। इसे लब्धि प्रमाण का अभाव भी कहा जाता है।

सन्निकर्षवाद

उत्तर काल में अर्थज्ञान के कारणों पर चर्चा प्रारम्भ हुई। नैयायिक सन्निकर्षवादी हैं। सन्निकर्ष का तात्पर्य है अर्थ के साथ इन्द्रिय का संघर्षण होना। जैसे चक्षु का घट के साथ संयोग होने पर ही घट का ज्ञान होता है। यदि ऐसा न माने तो सब को सभी पदार्थों का ज्ञान होने लगेगा। दूसरी बात, इन्द्रिय कारक है और कारक दूर रहकर अपना काम नहीं कर सकता। यह सन्निकर्ष छः प्रकार का होता है – संयोग, संयुक्त–समवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवाय, समवेत–समवाय और विशेषण विशेष्य भाव। प्रत्यक्ष ज्ञान चार, तीन अथवा दो के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। योगियों का आत्मप्रत्यक्ष आत्मा और मन के सन्निकर्ष से होता है। अतः सन्निकर्ष को ही प्रमाण मानना चाहिए।

जैनों के अनुसार वस्तु–ज्ञान में सन्निकर्ष साधकतम कारण नहीं है। जैसे घट की तरह आकाश आदि के साथ भी चक्षु का संयोग रहता है फिर भी आकाश का ज्ञान नहीं होता। उसमें ज्ञानोत्पादन की योग्यता नहीं है। उसे हम ज्ञान में सहकारी कारण कह सकते हैं किसी सीमा तक। आत्मा, मन, काल, दिशा आदि भी सहकारी कारण नहीं हो सकते, क्योंकि सन्निकर्ष के समय वे प्रायः वहां नहीं रहते। अतः सहकारी कारणों की सहायता रूप शक्ति अर्थ का ज्ञान कराने में साधक नहीं है क्योंकि अर्थज्ञान के समय उनकी उपस्थिति नहीं रहती। तथ्य तो यह है कि अर्थ को ग्रहण कर सकने की शक्ति या योग्यता ही वस्तु का ज्ञान कराने में साधकतम कारण है। स्व और अर्थ को ग्रहण करने की शक्ति का नाम योग्यता है। वह योग्यता स्व और अर्थ को जानने वाले ज्ञान रूप प्रमाण की सामग्री होने से प्रमाण की उत्पत्ति में ही साधकतम हैं। अतः ज्ञान ही प्रमाण है।

चक्षु का अप्राप्यकारित्व

इस के बाद सन्निकर्ष के सन्दर्भ में चक्षु प्राप्यकारी है या नहीं? यहां यह प्रश्न उपस्थित हुआ। जैन दर्शन उसे अप्राप्यकारी मानता है। इसमें कारण इस प्रकार हैं –

१. चक्षु अपने विषय को स्पर्श कर नहीं जानती। यदि स्पर्शकर जानती होती तो आंख में लगे अंजन को भी जान लेती। परन्तु दर्पण में देखे बिना अंजन का ज्ञान नहीं होता। अतः वह अप्राप्यकारी है।

२. चक्षु आवृत वस्तु को नहीं देख सकती इसलिए प्राप्यकारी है यह कथन युक्ति संगत नहीं। क्योंकि वह कांच, अभ्रक और स्फटिक से आवृत पदार्थ को भी देख लेती है। इसलिए उसे प्राप्यकारी नहीं माना जा सकता। कांच, अभ्रक आदि से आवृत वस्तु को भी वह देख लेती है।

३. चक्षु अप्राप्यकारी है तो उसे अतिदूरवर्ती या आवृत वस्तु को देख लेना चाहिए ऐसा कहना भी सही नहीं क्योंकि चुम्बक लोहे से दूर रहकर ही लोहे को अपनी ओर खींचता है। चक्षु का भी यही काम है। चक्षु को प्राप्यकारी मानने पर संशय आदि दोषों का कोई स्थान नहीं होगा।

४. चक्षु से किरणें निकलती हैं जो पदार्थ को स्पर्श कर उसे प्रकाशित करती हैं। यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि फिर अन्धकार में भी पदार्थ ग्रहण होना चाहिए।

५. चक्षु तेजस द्रव्य नहीं है क्योंकि उसमें ऐसा रूप और स्पर्श नहीं है। चन्द्रमा का प्रकाश केवल रूप का ही प्रकाशन करता है, किन्तु वह तेजस नहीं है। सुवर्ण भी तेजस नहीं है। चन्द्र प्रकाश भी तेजस नहीं है क्योंकि उसमें उष्णता नहीं है।

६. चक्षु प्राप्यकारी नहीं है क्योंकि न चक्षु पदार्थ के पास जाती है और न पदार्थ चक्षु के पास जाता है।

७. चक्षु को प्राप्यकारी मानने पर सर्वज्ञता का अभाव हो जायेगा। यदि चक्षु सन्निकर्ष के द्वारा ही पदार्थों को जानता है तो उसका ज्ञान या मानसिक होगा या इन्द्रियजन्य होगा जो सर्वज्ञता के सिद्धान्त से मेल नहीं खाता।

पदार्थ का ज्ञान किसी एक कारक से नहीं होता बल्कि कारकसमूह से होता है। इसलिए उसी को प्रमाण माना जाना चाहिए। ज्ञान प्रमाण नहीं है। वह तो फल है और फल को प्रमाण नहीं माना जा सकता। इसी तरह अज्ञान को भी कारक माना गया है। कारकों का यही साफल्य प्रमाण है।

परन्तु यह सही नहीं है। प्रश्न है, कारकसाकल्य मुख्य रूप से प्रमाण है या उपचार रूप से। मुख्य रूप से इसलिए प्रमाण नहीं है क्योंकि कारकसाकल्य अज्ञानरूप है। जो अज्ञान रूप होता है वह स्व–पर प्रमिति में साधकतम नहीं हो सकता। अतः कारकसाकल्य मुख्य रूप से प्रमाण नहीं है। हां, उपचार रूप से उसे प्रमाण माना जा सकता है। ज्ञान के द्वारा ही प्रमाण माना जा सकता है।

जैनो के समान बौद्धों ने भी सन्निकर्ष के प्रामाण्य को प्रमाण माना है, अज्ञान रूप सन्निकर्ष को नहीं। आचार्य दिग्नाग ने कहा है कि यदि प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय सन्निकर्षजन्य हो तब चक्षु से जो विप्रकृष्ट सान्तर वस्तु का ग्रहण होता है, वह नहीं हो सकता। तथा श्रोत्र से दूर देश स्थित शब्द का ग्रहण होता है वह भी नहीं होगा। अतएव चक्षु और श्रोत्रजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष होने पर भी सन्निकर्षजन्य नहीं होने से लक्षण में अव्याहितदोष है (प्रमाण–समुच्चय १.२०.४१)।

उद्योतकर ने दिङ्नाग की इस आपत्ति का उत्तर सभी इन्द्रियों की प्राय्यकारिता सिद्ध करके दिया। उनका कहना है जो करण होगा वह वास्तु आदि की तरह प्राप्यकारी ही होगा (न्यायवा. पृ. ३३,३६)। परन्तु कुमारिल ने सन्निकर्ष का अर्थ ही बदल दिया। उन्होंने कहा कि इन्द्रियों का व्यापार ही संप्रयोग या सन्निकर्ष है। यदि ऐसा माना जाये तब बौद्धों ने सन्निकर्ष के विषय में जो दोष दिया उससे मीमांसकों द्वारा मान्य प्रत्यक्ष लक्षण कैसे दूषित हो सकता है (श्लोक वा. ४.४०)? यहां संप्रयोग शब्द का अर्थ है योग्यता। जैन दर्शन में योग्यता का अर्थ है प्रतिबन्धापाय अर्थात् ज्ञानावरण के हटने से आत्मा में जो शक्ति अविर्भूत होती है वही योग्यता है और उसी के होने पर ही ज्ञान होता है (न्या.कु.च. पृ–३१)

समवाय सम्बन्ध

यहां हम समवाय को भी समझ लें। वैशेषिक और नैयायिक समवाय को एक पृथक् पदार्थ रूप मानते हैं जो नित्य, व्यापक और अमूर्त है। वैशेषिक उसे अतीन्दिय और अनुमानगम्य मानते हैं। बौद्ध उसे प्रत्यक्षगम्य न होने के कारण अस्तित्व हीन मानते हैं। इन सभी के सन्दर्भ में उद्योतकरने विशेषण विशेष्यभाव नामक सन्निकर्ष के बल पर उसका प्रत्यक्ष माना है। बौद्धों ने

समवाय के आश्रयाश्रयिभाव या आधाराधेयभाव को स्वीकार नहीं किया और

उसके अतीन्द्रिय होने से उसे प्रत्यक्षग्राह्य नहीं माना। सांख्यों ने भी समवाय का खण्डन किया है। खण्डन करने का उनका आधार यह है कि उनके मत से प्रकृति का विस्तार प्रकृत्यात्मक ही होगा क्योंकि परिणामी नित्य प्रकृति के परिणाम प्रकृति से भिन्न नहीं। तथा समवाय की आवश्यकता ही नहीं है। इस अभेदवाद के आधार पर उन्होंने समवाय का खण्डन किया है।

जैन दर्शन की दृष्टि से द्रव्य और गुण का भेदाभेद है। उनके मत से समवाय द्रव्य का एक पर्याय मात्र है। अभेद इसलिए कि किसी एक द्रव्य के पर्याय को किसी अन्य द्रव्य में कोई स्थान नहीं हो सकता। भेद इसलिए कि पर्याय के नष्ट होने पर भी द्रव्य विद्यमान रहता है। यदि एकान्त अभेद होता तो पर्याय की तरह द्रव्य भी नष्ट हो जाता। अतः द्रव्य की गुणादि रूप से परिणति ही समवाय कहा जा सकता है (स्याद्वाद रत्नाकर, पृ.९६३)।

इसी प्रसंग में जैन दार्शनिकों ने मीमांसकों के विवेकख्यातिवाद, चार्वाक् के अख्यातिवाद, बौद्धों के असत्ख्यातिवाद, सांख्यों के प्रसिद्धार्थख्यातिवाद, योगाचार बौद्धों के आत्मख्यातिवाद, ब्रह्मद्वैतवादियों के अनिर्वचनीयख्यातिवाद आदि का भी खण्डन किया है।

जैसा ऊपर कहा गया है, ज्ञान 'स्वपरप्रकाशक' होता है, अतः उसे पदार्थ के ज्ञान करने में अन्य ज्ञानों की सहायता नही लेनी पडती। चूँकि वह 'स्व' को जानता है इसलिए 'पर' रूप घट, पट आदि को भी जानता है। यदि 'स्व' को नहीं जानता तो 'पर' को कैसे जान सकता?

मीमांसक ज्ञान को 'स्वसंवेदी' न मानकर परोक्ष रूप मानते हैं। इसका मुख्य कारण उनकी दृष्टि में यह है कि उसकी कर्मरूप से प्रतीति नहीं होती। नैयायिक ज्ञान को 'ज्ञानान्तरवेद्य' मानते हैं और सांख्य ज्ञान को 'अचेतन' स्वीकार करते हैं क्योंकि वह प्रधान का ही परिणाम है। आत्मा चेतन है क्योंकि वह प्रधान का परिणाम नहीं है। जैनदर्शन में इन सभी मतों का खण्डन कर यह व्यवस्थित किया गया है कि ज्ञान चैतन्य स्वरूप है और वह स्वपरप्रकाशक है।

कारकसाकल्य

नैयायिकों ने 'कारकसाकल्य' (समग्रकारक) को ज्ञान की उत्पत्ति में कारण माना है (न्यायमञ्जरी, पृ.१२)। सांख्य 'इन्द्रियवृत्ति' (इन्द्रियों का विषयाकार होना) को प्रमिति में साधकतम मानते हैं (सांख्यकारिका, २८)। प्रभाकरवादी मीमांसक ज्ञातृव्यापार (आत्मा, इन्द्रिय, पदार्थ और मन के सम्मिलित होने पर ज्ञाता का व्यापार) को प्रमाण मानते हैं और बौद्ध जैनों के समान 'ज्ञान' को ही प्रमाण मानते हैं। पर उनकी मान्यता में कुछ अन्तर है। वे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण की कोटि में रखते हैं। जबकि जैन सविकल्पक ज्ञान को प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं।

पदार्थ का ज्ञान किसी एक कारक से नहीं होता बल्कि कारक समूह से होता है। इसलिए उसी को प्रमाण माना जाना चाहिए, ज्ञान प्रमाण नहीं है। वह तो फल है और फल को प्रमाण नहीं माना जा सकता। इसी तरह ज्ञान को भी कारक माना गया है। कारकों का यही साकल्य प्रमाण है।

परन्तु यह सही नहीं है। प्रश्न है, कारकसाकल्य मुख्य रूप से प्रमाण है या उपचार रूप से। मुख्य रूप से इसलिए प्रमाण नहीं है क्योंकि कारकसाकल्य अज्ञानरूप है। जो अज्ञान रूप होता है वह स्व–पर प्रमिति में साधकतम नहीं हो सकता। अतः कारकसाकल्य मुख्य रूप से प्रमाण नहीं है, हां उपचार रूप से उसे प्रमाण माना जा सकता है। अतः ज्ञान के द्वारा ही प्रमाण माना जा सकता है।

इन्द्रियवृत्ति

इसके बाद कारकसाकल्य को प्रमाण न मानने पर इन्द्रियवृत्ति को साधकतम मानकर सांख्यदर्शन ने उसे प्रमाण माना है। जैनाचार्य प्रभाचन्द्र इस सन्दर्भ में कहते हैं कि इन्द्रियवृत्ति अचेतन है और जो अचेतन होता है वह पदार्थ को जानने में साधकतम नहीं हो सकता। इन्द्रियवृत्ति का तात्पर्य है कि इन्द्रियों का पदार्थ के पास आना, पदार्थ की ओर अभिमुख होना अथवा पदार्थ के आकार रूप परिणत होना। सांख्य दर्शन की यह अवधारणा सही नहीं है। क्योंकि

१. इन्द्रियां पदार्थ के समीप नहीं पहुंचतीं।

२. इन्द्रियों का पदार्थ की ओर अभिमुख होना ज्ञान की उत्पत्ति में उपचारतः प्रमाण हो सकता है परन्तु यथार्थ प्रमाण तो ज्ञान ही है।

३. इन्द्रियों का पदार्थ के आकार होना प्रतीति विरुद्ध है। दर्पण के समान वे पदार्थ के आकार को धारण नहीं कर सकतीं।

४. इन्द्रिय वृत्ति अचेतन है और अचेतन पदार्थ ज्ञान में साधकतम नहीं हो सकता।

ज्ञातृव्यापार

प्रभाकर मीमांसक ज्ञातृव्यापार को प्रमाण मानते हैं क्योंकि उसके बिना पदार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञातृव्यापार में आत्मा, इन्द्रिय, मन और पदार्थ कारण होते हैं। सन्निकर्ष कारण नहीं होता। पर यह मान्यता भी सही नहीं। ज्ञातृव्यापार की सत्ता प्रत्यक्ष, अनुमान आदि किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होती। अतः उसे भी प्रमाण नहीं कहा जा सकता।

ज्ञातृव्यापार न इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से होने वाले प्रत्यक्ष से सिद्ध है, न आत्मा और मन के सन्निकर्ष से होने वाले प्रत्यक्ष से और न स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से। इन्द्रियां उसी पदार्थ का ज्ञान कराती हैं जो उनसे सम्बद्ध होता है तथा उनके ग्रहण करने योग्य होता है। न ज्ञातृव्यापार के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध होता है और न अत्यन्त परोक्ष होने के कारण वह इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्य होता है। इन्द्रियां तो रूप, रस आदि नियत विषयों को ही जान सकती हैं, वे ज्ञातृव्यापार को कैसे जाने? अनुमान आदि प्रमाणों से भी उसकी सत्ता सिद्ध नहीं होती। उसके बावजूद यदि ज्ञातृव्यापार को स्वीकार किया जाता है तो प्रश्न होता है कि वह कारकजन्य है या अजन्य। अजन्य हो नहीं सकता क्योंकि वह व्यापार है जो कारकजन्य ही हुआ करता है। यदि कारकजन्य है तो वह क्रिया रूप है या अक्रिया रूप है? दोनों स्थितियों में व्यापक आत्मा हलन–चलन रूप क्रिया का आश्रय नहीं हो सकता। अतः ज्ञातृव्यापार को प्रमाण मानना समुचित नहीं है।

निर्विकल्पक ज्ञान

जैनों की तरह बौद्ध भी ज्ञान को ही प्रमाण रूप मानते हैं परन्तु उनमें ज्ञान के दो भेद होते हैं निर्विकल्पक और सविकल्प। प्रत्यक्ष रूप ज्ञान निर्विकल्पक होता है और अनुमान रूप ज्ञान सविकल्प होता है। यहां निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना गया है। क्योंकि प्रत्यक्ष शब्द विशिष्ट अर्थ को ग्रहण नहीं करता। तदनुसार अर्थ में शब्दों का रहना संभव नहीं है और न अर्थ और शब्द का तादाम्य सम्बन्ध ही है।

निर्विकल्पक ज्ञान में सविकल्प ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति है। उसी से समस्त व्यवहार चलते हैं। यद्यपि प्रत्यक्ष कल्पना रहित है फिर भी वह सजातीय और विजातीय पदार्थो से भिन्न अग्नि आदि को विषय करता हुआ ही उत्पन्न होता है अतः विकल्प का विषय कोई नवीन नहीं होता तथा ज्ञाता भ्रमवश प्रत्यक्ष के विषय दृश्य को और विकल्प के विषय विकल्प को एक मान बैठता है अतः विकल्प को प्रमाण नहीं माना जाता। इसलिए निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रमाण है।

परन्तु जैन दर्शन इसे सयुक्तिक नहीं मानता। धर्मकीर्ति द्वारा प्रस्तावित कल्पना रहित अभ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने की अवधारणा को सर्वप्रथम अकलंक जैनाचार्य ने "कल्पना रहित अभ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष" की परिभाषा की आलोचना करते हुए कहा कि यहां प्रत्यक्ष सर्वथा कल्पना से रहित है या कथंचित् कल्पना से रहित है? यदि सर्वथा कल्पना रहित है तो प्रमाण का स्वरूप भी कल्पना रहित हो जायेगा। यदि कहो कि कल्पना से रहित नहीं है तो भी यह कथन गलत होगा।

अकलंक के बाद आचार्य विद्यानन्द ने अपने श्लोकवार्तिक में तथा आचार्य प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्ड में कल्पना के लक्षण अभिलापवती प्रतीति को लेकर आलोचना की है। उनका कहना है कि बौद्धाचार्य निर्विकल्पक दर्शन को निश्चयात्मक नहीं मानते। जो ज्ञान स्वयं निश्चयात्मक नहीं है वह प्रमाण कैसे हो सकता है? दूसरी बात, निर्विकल्पक ज्ञान व्यवहार में उपयोगी नहीं है। क्योंकि वह न अपना निश्चय कर पाता है और न अर्थ का निश्चय कर पाता है।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष दूसरे की अपेक्षा न करके अपने स्वरूप का प्रदर्शन नहीं करता। सन्निकर्ष और निर्विकल्पक में कुछ भेद मानना है तो उसे निश्चयात्मक मानना होगा। यदि सविकल्पक बुद्धि को उत्पन्न करने पर ही निर्विकल्पक प्रमाण अभीष्ट है तो सविकल्पक को ही प्रमाण क्यों नहीं मान लेते? क्योंकि वह अर्थज्ञान में साधकतम है। निर्विकल्पक में यह बात नहीं है अतः वह सन्निकर्ष की तरह प्रमाण नहीं है। ज्ञान रूप होने मात्र से उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता क्योंकि व्यवहार में वह अनुपयोगी है।

मिथ्याज्ञान

अकलंक ने तत्त्वार्थवार्तिक (पृ.४४) में मिथ्याज्ञान के तीन भेद किये हैं – संशयज्ञान, विपर्ययज्ञान और अनध्यवसाय। इनमें विपर्ययज्ञान को लेकर दार्शनिक क्षेत्र में विविध मतभेद हैं। प्रभाचन्द्रादि आचार्यों ने उनकी अच्छी समीक्षा की है जो इस प्रकार है –

विपर्ययज्ञान

स्थाणु को पुरुष समझ लेना और सीप को चांदी या चांदी को सीप समझ लेना विपर्यय ज्ञान है। मीमांसकों का विवेकाख्यातिवाद बौद्धदर्शन के सौत्रान्तिक और माध्यमिक शाखाओं का असत्कार्यवाद, बौद्धदर्शन की योगाचार शाखा का आत्मख्यातिवाद, ब्रह्माद्वैतवादियों का अनिर्वचनीय ख्यातिवाद तथा अन्य दार्शनिकों के अलौकिकार्थख्यातिवाद और विपरीतार्थख्यातिवाद आदि सिद्धान्त विपर्ययज्ञान में समाहित होते हैं। उनकी मीमांसा इस प्रकार है –

१. विवेकाख्यातिवाद

प्रभाकर मीमांसकों का विपर्ययज्ञान विवेकाख्यातिवाद माना जाता है। उनके अनुसार सीप में चांदी का ज्ञान होने में प्रत्यक्ष ज्ञान और स्मरण ज्ञान दोनों समाहित हैं। आचार्य प्रभाचन्द्र ने कहा कि ये दो ज्ञान नहीं है बल्कि एक ही ज्ञान है। इसमें विषय एक ही है सीप का टुकडा। काच–कामल आदि कारणों से ऐसा विपर्ययज्ञान होता है। प्रश्न होता है 'यह चांदी है' इस ज्ञान में सीप किस रूप से काम करती है, कारण रूप से अथवा विषय रूप से? प्रभाचन्द्र ने इनका उत्तर

देते हुए कहा कि जैसे वास्तविक चांदी का ज्ञान वास्तविक चांदी में प्रवृत्ति कराता है अतः उसका विषय वही है। उसी तरह सीप में होने वाला 'यह चांदी है' यह ज्ञान सामने विद्यमान सीप में ही प्रवृत्ति कराता है। अतः उसका विषय वही ही, अतीत चांदी नहीं।

स्मृति के तिरोभाव को स्मृतिप्रमोश कहा जाता है। यह तिरोभाव भी ज्ञान का यौगपद्य सिद्ध होने पर ही सिद्ध हो सकता है। किन्तु मीमांसक ऐसा मानते नहीं हैं कि एक साथ दो ज्ञान हो सकते हैं। तब तिरोभाव की बात भी नहीं बनती। अतः स्मृतिप्रमोष के आग्रह को छोडकर विपरीत ख्याति ही मानना चाहिए।

२. अख्यातिवाद

चार्वाक् मतानुयायी विपर्ययज्ञान को अख्याति के रूप में मानते हैं। उनका कहना है कि सीप में ''यह चांदी है'' इस ज्ञान का विषय चांदी तो नहीं है अन्यथा फिर इस ज्ञान को भ्रान्त कैसे कहा जा सकता है? चांदी के रूप में सीप ही इस ज्ञान का आलम्बन है ऐसा मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि अन्य का अन्य रूप से अन्य का ग्रहण देखा नहीं जाता। क्या कहीं घटरूप से पट का ग्रहण देखा जाता है? इसलिए इस ज्ञान में कुछ भी प्रतिभासमान नहीं होता। इसीलिए इसे अख्याति कहते हैं।

अख्यातिवादियों का यह कथन भी सही नहीं है क्योंकि यदि इस ज्ञान में कुछ भी प्रतिभासमान नहीं होता तो यह चांदी है इस रूप उसका कथन कैसे किया जा सकता है? प्रभाचन्द्र ने अनेक तर्कों से इस सिद्धान्त का खण्डन किया है। अतः अख्याति पक्ष भी समुचित नहीं है।

३. असत्ख्यातिवाद

बौद्ध दर्शन की सौत्रान्तिक और माध्यमिक शाखा के अनुयायी विपर्यय ज्ञान को असत्ख्यातिवाद कहते हैं। उनकी मान्यता है कि 'यह चांदी है' इस ज्ञान में असत् का ही प्रतिभास होता है। वह न ज्ञान का धर्म है और न अर्थ का। उसकी प्रतीति इस रूप से होती है। उत्तर काल में होने वाले बाधक ज्ञान से उस वस्तु रूप अर्थ का धर्म बाधित हो जाता है।

जैन दर्शन इसे भी सही नहीं मानता। क्योंकि आकाश कुसुम की तरह असत् का प्रतिभास होना ही संभव नहीं है। असत् हो और उसका प्रतिभास हो ये दोनों बातें एक साथ संभव नहीं है। इसके साथ ही उसमें अर्थक्रिया कारित्व भी नहीं पाया जाता चाहे वह ज्ञानसाध्य हो या ज्ञेय साध्य हो पर इतना अवश्य है कि वस्तु का सर्वथा असत्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। अर्थक्रिया का सम्बन्ध स्नान, पानादि से विशेष रहता है। अतः यह माना जाता है कि जो ज्ञान इस प्रकार की अर्थक्रिया को कर सकने में समर्थ अर्थ को ग्रहण करता है, वही ज्ञान अभ्रान्त होता है। इसलिए असत्ख्याति पक्ष भी मान्य नहीं हो पाता।

४. प्रसिद्धार्थख्यातिवाद

प्रसिद्धार्थख्यातिवाद का तात्पर्य है – विपर्ययज्ञान में प्रतीतिसिद्ध अर्थ का ही प्रतिभास होना। यह सांख्य दर्शन का मत है। पर यह ठीक नहीं। जो अर्थ प्रतीति सिद्ध हो उसका विचार करना ही अयुक्त है। इस मान्यता में भ्रान्त और अभ्रान्त प्रतीति का व्यवहार ही नष्ट हो जायेगा। यह सब बिना हेतु के कैसे हो सकता है? मरीचिका में प्रतिभासकाल में जल का अस्तित्व रहता है तो उत्तरकाल में जल के न रहने पर भी जमीन में गीलापन तो होना ही चाहिए जो नहीं मिलता। अतः यह मत भी सही नहीं है।

५. आत्मख्यातिवाद

बौद्धदर्शन की योगाचार के अनुयायी विपरीत ज्ञान को आत्मख्याति कहते हैं। उनके अनुसार सीप में "यह चांदी है" इस प्रकार का प्रतिभास बाधक प्रत्यय के कारण सही नहीं है। यह चांदी है यह ज्ञान का ही आकार है जो अनादिकालीन अविद्या के वासना के बल से बाहर में प्रतिभासित होता है।

परन्तु योगाचारवादियों का यह मत भी सही नहीं है क्योंकि यदि सभी ज्ञान अपने आकार मात्र को ग्रहण करते हैं तो उनमें भ्रान्त–अभ्रान्त का भेद तथा वाध्य–वाधकपना नहीं बनता। उस स्थिति में कोई भी ज्ञान व्यभिचारी नहीं हो सकता। यदि अनादि अविद्या वासना के कारण स्वात्मनिष्ठ ज्ञानाकार का प्रतिभास बहिःस्थित रूप से हुआ मानता है तब तो वह विपरीत ख्याति का ही रूप हुआ। अन्य रूप में यह असत् ख्यातिवाद भी सिद्ध होता है।

६. अनिर्वचनीयार्थख्यातिवाद

ब्रह्माद्वैतवादियों के अनुसार सीप आदि में जो चांदी आदि का आकार प्रतिभासमान होता है वह न सत् है, न असत् है और न उभयरूप है। इसलिए वह अनिर्वचनीय है। पर यह भी ठीक नहीं है क्योंकि जो प्रतिभासमान है वह अनिर्वचनीय कैसे कहा जा सकता है? यदि होता है तो यह चांदी है इस प्रकार का ज्ञान और शब्द–व्यवहार हो नहीं सकता फिर उसे अनिर्वचनीय कैसे हो सकता है? समानता के कारण सीप में चांदी का प्रतिभास होता है। उसका उल्लेख करना वचनीयता है, अनिर्वचनीय कैसे होगा?

७. अलौकिकार्थख्यातिवाद

अलौकिक अर्थात् अन्तः अथवा बाह्य रूप से जिसका स्वरूप निरूपण नहीं किया जा सकता ऐसे अर्थ की ख्याति का नाम अलौकिकार्थख्यातिवाद है। जैन दर्शन इसे भी सही नहीं मानता। प्रभाचन्द्र ने अनेक विकल्प उठाकर इस कथन का खण्डन किरते हुए कहा कि अलौकिक का अर्थ न अन्य रूप है, न अन्य क्रिया करना है न अन्य कारण से उत्पन्न होना अथवा बिना कारण के उत्पन्न होने का नाम अलौकिकतार्थख्याति है। यह तो वस्तुतः विपरीतख्याति ही माना जाना चाहिए।

८. जैनदर्शन का पक्ष विपरीतार्थख्यातिवाद

आचार्य प्रभाचन्द्र ने मिथ्याज्ञान के सन्दर्भ में अनेक वादों का खण्डन कर उनमें विपरीतार्थख्यातिवाद की स्थापना की है। तदनुसार सीप को चांदी के रूप में जाननेवालों का संकेत "यह चांदी है" इस तरह सामने पडी हुई सीप की ओर ही होता है। विना सीप के ऐसा विपरीत ज्ञान नहीं हो सकता। अतः इसे विपरीतार्थ ख्याति ही कहना उचित होगा। इसे असत्ख्याति नहीं कहा जा सकता।

इस तरह जैनदर्शन ने अज्ञानरूप सन्निकर्ष तथा उसी के समकक्ष निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमाण नहीं माना। उन्हें यदि प्रमाण माना जा सकता है तो वह उपचार से ही हो सकता है क्योंकि परम्परा से ये सभी मत सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति में कारण होते हैं। अतः मुख्यरूप से तो ज्ञान ही प्रमाण है।

साकार ज्ञानवाद

ज्ञान सम्बद्ध अर्थ का ही ग्राहक होता है। इस सम्बन्ध में जैन और बौद्ध दर्शन दोनों की यही मान्यता है। परन्तु उसकी प्रकृति को लेकर दोनों में मतभेद है। बौद्धों ने इस पर प्रश्न उठाये और फिर जैनाचार्यों ने उनका उत्तर देकर अपने मत की स्थापना की। इसका विवेचन न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्ड में उपलब्ध है।

सौत्रान्तिक बौद्ध इस सन्दर्भ में प्रश्न उठाते हैं कि यह ज्ञान संबद्ध अर्थ का ग्राहक है या असम्बद्ध अर्थ का। असम्बद्ध अर्थ का ग्राहक माना जाये तो ज्ञान फिर सभी अर्थों का ग्राहक हो जायेगा। यदि सम्बद्ध अर्थ का ग्राहक है तो यह सम्बन्ध तादात्म्य सम्बन्ध है या तदुत्पत्ति सम्बन्ध है? तादात्म्य सम्बन्ध हो नहीं सकता क्योंकि विज्ञान ही परमार्थ सत्य है और बाह्य पदार्थ स्वप्न के समान हैं ऐसा योगाचार विज्ञानवादी बौद्धों की मान्यता है। तब उनका अनुकरण करना पडेगा। तदुत्पत्ति सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता क्योंकि समान समयवर्ती दो पदार्थों में कार्यकारण व्यवस्था नहीं बन सकती। यदि ज्ञान और अर्थ को भिन्न समयवर्ती माना जाये तो बिना आकार के अर्थ ग्रहण कैसे हो सकता है (प्रमाणवार्तिक, ३.२४)?

भिन्नकालं कथं ग्राह्यमितिचेत् ग्राह्यतां विदुः।
हेतुत्वमेव युक्ति :स्यात् तदा कारार्पणक्षमम्।।

बौद्धदर्शन में प्रत्येक अर्थ क्षणभंगुर है तदनुसार प्रथम क्षण में अर्थापत्ति होती है तो द्वितीय क्षण में ज्ञान उत्पन्न होता है। यहां अर्थ कारण है और ज्ञान कार्य है। चूंकि ज्ञान अर्थ से उत्पन्न होता है इसलिए उसे अर्थ के आकार का मानना चाहिए। तथा यह नियम है कि जो जिसका ग्राहक होता है वह उसके आकार का होता है। नीलादि अर्थ का ग्राहक ज्ञान नीलादि अर्थों के आकार का होता है।

यदि ज्ञान को निराकार माना जायेगा तो स्वरूप का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। इन आकारों के अभाव में ज्ञान का प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? तथा निराकार मानने पर ज्ञानों के बीच भेद की भी पहचान नहीं हो सकेगी। इसलिए यदि अर्थाकारता को नहीं माना जायेगा तो “नील का यह ज्ञान है” इस प्रकार

ज्ञान का अर्थ के साथ सम्बन्ध घटित नहीं हो सकता। और उसके न होने से सब पदार्थों के प्रति समान होने के कारण निराकार ज्ञान में यह व्यवस्था कैसे बनेगी कि अमुक ज्ञान का अमुक ही विषय है और निराकार होने से अर्थक्रिया कैसे हो सकती है? अतः ज्ञान की अर्थाकारता ही प्रमाण है।

जैनदर्शन सौत्रान्तिकों की इस मान्यता का खण्डन करते हुए कहता है कि यह बात सही है कि ज्ञान सम्बद्ध अर्थ को ही ग्रहण करता है परन्तु ज्ञान और अर्थ में तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं है, बल्कि योग्यता लक्षण सम्बन्ध है। उसी सम्बन्ध के कारण समकालीन अथवा भिन्नकालीन अर्थ का ग्रहण किया जाता है।

दूसरी बात, जैनदर्शन बौद्धों के निर्विकल्पक ज्ञान को स्वीकार नहीं करता। और सविकल्पक को निराकार सिद्ध करता है जो प्रवृत्ति–निवृत्ति का कारण है। सभी ज्ञान अपने आकार को ही जानते हैं। यही लौकिक प्रवृत्ति भी है। वे अपने से भिन्न पदार्थ के अभिमुख होकर अपने आकार को ही जानते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्यक्ष से निराकार ज्ञान का ही अनुभव होता है, न कि दर्पण की तरह साकार ज्ञान का। अतः जो जिसके द्वारा अपने से भिन्न जाना जाता है वह उसके द्वारा अतदाकार रूप से ही जाना जाता है। अतः ज्ञान निराकार है।

यदि ज्ञान को साकार माना जाये तो उस साकारता का क्या तात्पर्य है? ज्ञान का स्वसंवित् रूप होना उसकी विशदता अथवा 'यह नील है', इस प्रकार का अर्थाकार होना। इन तीनों विकल्पों में कोई समस्या नहीं क्योंकि ज्ञान में ये तीनों रहते ही हैं। पर समस्या यह है कि ज्ञान का अर्थ के आकार को धारण करना जैन दर्शन को मान्य नहीं है क्योंकि नीलादि आकार ज्ञान में संक्रान्त नहीं होते।

एक अन्य प्रश्न उठता है कि यदि ज्ञान साकार है तो अर्थ के साथ ज्ञान का पूर्ण रूप से सारूप्य है अथवा एक देश से? प्रथम विकल्प माने जाने पर चूंकि अर्थ जड है इसलिए ज्ञान भी जड हो जायेगा। दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि अजडाकार ज्ञान के द्वारा अर्थ की जड़ता की प्रतीति नहीं हो सकेगी।

यदि बुद्ध दूसरों के रागादि को जानते समय तदाकार हो जाते हैं तो वह वीतराग और कल्पना जाल से रहित कैसे हो सकेंगे?

यदि आकार ज्ञान से भिन्न है तो ज्ञान निराकार ही कहलायेगा और यदि वह अभिन्न है तो ज्ञान और आकार में से कोई एक होगा।

यह कहना भी सही नहीं होगा कि ज्ञान को निराकार मानने पर स्वरूप का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। क्योंकि ज्ञान का आकार उसका स्व–पर प्रकाशकत्व है, न कि नीलादिपना। नीलादिपना तो अर्थ का धर्म ही है। अतः स्व–पर प्रकाशकत्व रूप आकार के साथ ज्ञान का प्रत्यक्ष होता ही है।

यह कथन भी तथ्य संगत नहीं है कि यदि ज्ञान को निराकार माना जायेगा तो सब ज्ञान सभी पदार्थों के ग्राहक हो जायेंगे। पर यह भी सही नहीं है क्योंकि दीपक की तरह ज्ञान स्वकारणों से सामने विद्यमान अर्थ में ही नियमित रहता है। जैसे दीपक घटादि के अर्थ को धारण करके उनका प्रकाशक नहीं होता फिर घट के भीतर विद्यमान पदार्थों को प्रकाशित करता है। इसी तरह ज्ञान अर्थाकार न होने पर भी प्रतिनियत अर्थ को ही जानता है, सभी को नहीं। अतः ज्ञान की साकारता का सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता। वह तो स्वसंवेदी होता है। जो स्व को नहीं जानता वह अर्थ को भी नहीं जानता। ज्ञान अर्थ का पदार्थ का ग्राहक है अतः वह स्व का भी ग्राहक है।

परोक्षज्ञानवाद

मीमांसक परोक्ष ज्ञानवादी है। वे ज्ञान को स्वसंवेदी नहीं मानते। वे उसे परोक्ष ही मानते हैं क्योंकि उसकी प्रतीति कर्मरूप से नहीं होती। उसकी प्रतीति प्रत्यक्ष रूप से नहीं होती, इसलिए वह नित्य परोक्ष है (मी.श्लो.टी. सूत्र, १.११.१५)। प्रत्यक्ष रूप से उसकी प्रतीति नहीं होती। अर्थापत्ति के आधार पर कहा जाता है कि कोई भी क्रिया निष्फल नहीं होती। अतः ज्ञान से अर्थ प्रकट हो जाता है। वही उसका फल है। हमारा ज्ञान अप्रत्यक्ष है और अर्थ प्रत्यक्ष है। अर्थ का ज्ञान होने पर अनुमान से बुद्धि का ज्ञान होता है। प्रवृत्ति को देखकर ही ज्ञान का अनुमान किया जाता है। अर्थ में प्रवृत्ति का कारण ज्ञान ही है जो परोक्ष है। प्रवृत्ति को देखकर ही ज्ञान का अनुमान किया जा सकता है और ज्ञान ही कारण है।

जैनदर्शन मीमांसकों के इस अभिमत को स्वीकार नहीं करता। (न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. १७६–१८०; प्र.क.मा., पृ. १२१–१२८)। इसके कारण ये हैं :–

जैसे मीमांसक आत्मा और फलज्ञान की कर्म रूप से प्रतीति न होने पर भी उनका प्रत्यक्ष होना मानता है वैसे ही प्रमाण रूप से स्वीकृत रूप ज्ञान को भी प्रत्यक्ष मानना चाहिए क्योंकि ज्ञान की भी प्रतीति करण रूप से होती है।

ज्ञान की कर्म रूप से प्रतीति नहीं होती इसलिए प्रत्यक्ष है। इस मान्यता पर यह प्रश्न उठता है कि यह प्रतीति प्रमाणों की अपेक्षा नहीं होती या स्वरूप की अपेक्षा नहीं होती? प्रथम विकल्प में ज्ञान का अस्तित्व ही नहीं रहेगा क्योंकि वह प्रमाण का विषय नहीं है, जैसे गधे की सींग। दूसरा विकल्प भी सही नहीं है क्योंकि आत्मा की अनुभूति होने पर ज्ञान में कर्मता की सिद्धि होती है, असिद्धि नहीं।

यदि बुद्धि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का विषय नहीं है तो उसकी सत्ता कैसे सिद्ध करते हैं– प्रत्यक्ष से अथवा अनुमान से? दोनों प्रमाणों से उसकी सत्ता सिद्ध नहीं होती।

मीमांसक जब आत्मा का प्रत्यक्ष मानता है तब उसकी क्रिया को परोक्ष कैसे कहा जा सकता है?

ज्ञानान्तरवेद्य ज्ञानवाद

नैयायिक भी ज्ञान को स्वसंविदित नहीं मानते। उनका मानना है कि ज्ञान को तो दूसरा ज्ञान ही जानता है जैसे घट वगैरह प्रमेय होने से ज्ञान के द्वारा ही जाना जाता है (न्या.कु.चन्द्र, पृ–१८१; विधिवि. न्यायकणि, पृ.२६७; प्रशस्त व्योम., पृ.५२९)। यद्यपि ये ज्ञान क्रम से ही होते हैं फिर भी दोनों सौ कमल के पत्तों को ऊपर–नीचे रखकर एक साथ वेधने की तरह इतनी जल्दी होते हैं कि उसमें भेद की प्रतीति नहीं हो पाती। नैयायिकों ने यहां अनवस्था दोष को स्वीकार नहीं किया।

जैन दर्शन नैयायिकों के इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं यदि हम लोगों के ज्ञान को ही ज्ञानान्तर वेद्य मानते हैं, ईश्वर ज्ञान को नहीं तो प्रश्न उठता

है कि ईश्वर का ज्ञान स्वसंविदित है यह किस युक्ति के आधार पर माना जाता है? ईश्वर का ज्ञान स्वसंवित् है अथवा ज्ञान होने से वह स्वसंवित् है। ये दोनों ही बातें हमारे ज्ञान में भी पायी जाती हैं। अतः दोनों को ही स्वसंवित् मानना होगा। या फिर किसी को भी स्वसंवित् नहीं मानना चाहिए। जैसे दीपक सूर्य की तरह स्वपर–प्रकाशक होते हुए भी समस्त पदार्थों का प्रकाशन नहीं करता किन्तु अपने योग्य नियत देशवर्ती पदार्थों का ही प्रकाशन करता है वैसे ही हम लोगों का ज्ञान ईश्वर ज्ञान की तरह स्वपर व्यवसायी होते हुए भी अपने योग्य पदार्थ को ही जानता है। सभी ज्ञानों की योग्यता अपने–अपने ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के अनुसार होती है। उसके बिना ज्ञानों में विषयग्रहण में तारतम्यता नहीं आती।

ज्ञान का अचेतनत्व

सांख्य दर्शन के अनुसार घट–पट की तरह ज्ञान भी अचेतन है क्योंकि वह भी प्रधान का ही परिणाम है। जो चेतन होता है वह प्रधान का परिणाम नहीं होता। जैसे आत्मा। किन्तु ज्ञान प्रधान का परिणाम है।

जैन दर्शन इस मत खण्डन करते हुए कहता है कि ज्ञान जड का धर्म नहीं है, वह तो आत्मा का धर्म है और आत्मा ज्ञान परिणाम वाला है, दृष्टा है। ज्ञान और आत्मा में अभेद होने पर भी आत्मा अनित्य नहीं है क्योंकि वह परिणामी है। यदि आत्मा को अपरिणामी माना जाये तो वह अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकती और अर्थक्रियाकारी न होने पर आत्मा का अभाव हो जायेगा क्योंकि अर्थ क्रियाकारित्व ही वस्तु का लक्षण है। अतः जैन दर्शन में ज्ञान चैतन्यस्वरूप है। वह जैसे बाह्य पदार्थ के उन्मुख होने पर बाह्य अर्थ को ग्रहण करता है वैसे ही अपने उन्मुख होने पर अपने को भी ग्रहण करता है। यदि ऐसा नहीं हो तो ''मैं घट को जानता हूं'' इस प्रकार की प्रतीति नहीं हो सकती। ज्ञान के द्वारा प्रतिभासित पदार्थ का प्रत्यक्ष होने पर ज्ञान को प्रत्यक्ष न माने यह कैसे हो सकता है? जैसे प्रकाश का प्रत्यक्ष हुए बिना उसके द्वारा प्रकाशित अर्थ का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता वैसे ही प्रमाण का प्रत्यक्ष हुए बिना उसके द्वारा प्रतिभासित अर्थ का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अतः जैन दर्शन में स्व–पर प्रकाशक ज्ञान ही प्रमाण है।

प्रामाण्य विचार

प्रमाण किन कारणों से उत्पन्न होता है, यह भी एक विवाद का प्रश्न रहा है। यह विवाद प्रारम्भ में वेद तक सीमित था। बाद में दर्शन के अन्य क्षेत्रों में पहुँच गया। प्रश्न यह था कि प्रमाण को स्वतः माना जाये अथवा परतः ? पदार्थ की यथावत् जानकारी करा देनेवाली शक्ति को प्रामाण्य कहा जाता है। इस दृष्टि से यहाँ दो पक्ष हुए। प्रथम वेद–प्रामाण्यवादी नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक आदि और द्वितीय वेद–अप्रामाण्यवादी जैन, बौद्ध आदि।

न्याय वैशेषिक ईश्वरवादी हैं और वेद को ईश्वर कर्तृक मानते हैं। इसलिए उनकी दृष्टि में प्रामाण्य और अप्रामाण्य परतः ही होता है (तात्पर्यवृत्ति, १.१.१.; न्यायकुमुदचन्द्र, २.१)। मीमांसक ईश्वरवादी नहीं। उनकी मान्यता है कि जिस कारण–सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है उसके अतिरिक्त कारणों को उसे प्रामाण्य की उत्पत्ति में आवश्कता नहीं पड़ती। इसीलिए वे प्रामाण्य को स्वतः मानते हैं और कहते हैं कि शब्द वक्ता के अधीन होते हैं और यदि वक्ता ही न रहे तो शब्द दोष कहाँ रहेंगे? इसलिए उनकी दृष्टि में वेद अपौरुषेय हो गया और उसे वे स्वतः प्रमाण मानने लगे (श्लोकवार्तिक, २.४७)। परन्तु अप्रामाण्य को उन्होंने परतः ही माना (वही, ३.८५)।

अर्थात् मीमांसक स्वतः प्रमाणवादी हैं। उन्हें प्रामाण्य की सामग्री के अतिरिक्त अन्य किसी की आवश्यकता नहीं रहती। अर्थ को ज्यों का त्यों जान लेने की शक्ति का नाम प्रामाण्य है और ये शक्तियां पदार्थों में स्वतः ही प्रगट होती हैं। वे उत्पादक कारणों के अधीन नहीं है। अर्थात् कार्य में वर्तमान जो धर्म कारण में रहता है वह कार्य की तरह कारण से ही उत्पन्न होता है। अतः प्रामाण्य की उत्पत्ति में गुण वगैरह की अपेक्षा नहीं होती। इसी तरह अर्थ को जानने रूप जो प्रमाण का कार्य है उसमें भी प्रमाण ग्रहण की अपेक्षा नहीं है क्योंकि प्रमाण के प्रामाण्य का ग्रहण किये बिना भी उससे अर्थ का बोध हो जाता है। अतः प्रामान्य स्वतः ही होता है और अप्रामाण्य परतः होता है। अप्रमाण के तीन भेद है – संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय। जैसे प्रमाण का कार्य अपने विषय में प्रवृत्ति कराना है वैसे ही अप्रमाण का कार्य अपने विषय से निवृत्ति कराना है। अतः अप्रामाण्य की उत्पत्ति की तरह उसकी दृष्टि भी परतः ही होती है। कहा है

स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
न स्वतोऽसतो शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते।।

मीमांसक के इस विचार को जैन दर्शन सही नहीं मानता। उसका कहना है– अर्थ को जानने की शक्ति का नाम प्रामाण्य है। इस सिद्धान्त पर प्रश्न उठता है कि यह शक्ति अर्थमात्र को जानती है या यथार्थ को जानती है? अर्थमात्र को जानने में संशय, विपर्यय आदि मिथ्याज्ञान भी इस कोटि में आ जायेंगे और यथार्थ को जानने की स्थिति में उसकी सिद्धि परतः होती है क्योंकि यह ज्ञान प्रतीति गुण युक्त सामग्री से ही होती है, सामान्य ज्ञान से नहीं।

इस सिद्धान्त पर यहां जैन दार्शनिकों का विवाद मीमांसकों से होता है। मीमांसक कहते हैं कि गुणों की प्रतीति ही नहीं होती तब प्रामाण्य की उत्पत्ति गुणों से कैसे मान ली जाये? इस पर जैन दार्शनिक कहते हैं कि सभी को गुणों की प्रतीति होती है। इन गुणों में चक्षु की निर्मलता, निकटता, स्थिरता, ज्ञाता की स्वस्थता आदि गुणों का अन्तर्भाव है। मीमांसक निर्मलता आदि को चक्षु का स्वरूप मानते हैं, गुण नहीं। उनके अनुसार गुण नाम की कोई वस्तु ही नहीं है, दोषों के अभाव मात्र को गुण माना जाता है। इस पर जैनों का कहना है कि फिर तो रूपादि को भी घट का गुण न कहकर स्वरूप कहा जायेगा क्योंकि रूपादि के साथ ही घट उत्पन्न होते हैं और उनमें काच, कामल आदि दोष भी साथ ही रहते हैं। हीनाधिकता का भी व्यवहार वहां होता ही है। यदि गुणों की अवस्थिति पर ही प्रश्न खड़ा किया जाये तो दोषों का अस्तित्व भी समाप्त हो जायेगा। यदि प्रामाण्य की उत्पत्ति में उनका कोई योगदान नहीं होता तब तो अप्रामाण्य भी स्वतः हो जायेगा। या फिर दोनों को स्वतः मानना चाहिए या दोनों को परतः मानना चाहिए।

प्रामाण्य की दृष्टि भी स्वतः नहीं होती क्योंकि उसका निश्चय किसी अन्य निमित्त से किया जाता है। प्रतिदिन की वस्तुओं का ज्ञान तो स्वयं ही हो जाता है पर अपरिचित स्थिति में उसका प्रामाण्य या अप्रामाण्य का निश्चय अन्य कारणों से करना पडता है तभी उसमें दृष्टि के बाद प्रवृत्ति होती है। ज्ञान के उत्पादक कारणों में यदि गुण है तो प्रमाण ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः जैसे दोषों से उत्पन्न होने के कारण अप्रामाण्य की उत्पत्ति परतः होती है। वैसे ही गुणों से

उत्पन्न होने के कारण प्रामाण्य की उत्पत्ति भी परतः होती है। जैसे आचार्य देवसूरि ने कहा है – **तदुभयमुत्पत्तौ परत एव ज्ञाप्तो तु स्वतः परतश्चेति** (प्रमाणनय–तत्त्वालोक, १.२१) अर्थात् प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति परतः ही होती है। किन्तु ज्ञप्ति स्वतः और परतः होती है।

साध्यप्राप्ति का मूलमन्त्रः रत्नत्रय

रत्नत्रय का तात्पर्य है – सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र जिनके परिपालन से साध्य रूप निर्वाण या मोक्ष की प्राप्ति होती है – **सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**, त.सू. १.१)। जैनधर्म में साध्य की विशुद्धि साधनों की विशुद्धि पर अवलम्बित रहती है। तत्त्वार्थराजवार्तिक में आचार्य अकलंक ने दर्शन, ज्ञान और चारित्र के अविनाभाव सम्बन्ध पर अच्छा प्रकाश डाला है। इन तीनों का परिपालन उसी तरह आवश्यक है जिस तरह एक रोगी निरोग होने के लिए औषधि का प्रयोग करता है। "**हतं ज्ञानं क्रिया हीनं**" कहकर उन्होंने इसी तथ्य को स्पष्ट किया है। यहां यह दृष्टव्य है कि कहीं–कहीं रत्नत्रय का प्रारम्भ ज्ञान से भी होता है – मूलाचार, ८९८; उत्तराध्ययन, २८.३५)।

तीर्थंकर महावीर ने श्रद्धा की अपेक्षा ज्ञान को प्रणीततर माना था (म.नि. १, पृ. ९२–३)। उनके अनुसार सप्ततत्त्वों का सम्यक्ज्ञान होना सम्यग्दर्शन है (त.सू. १.२)। वस्तुतत्त्व का यथार्थ ज्ञान होना सम्यक्ज्ञान है तथा प्रयत्नों की विशुद्धता को ही दार्शनिक परिभाषा में "सम्यक्चारित्र" कहा जाता है। जैनधर्म के अनुसार आत्मा का स्वभाव उपयोग है और उपयोग का लक्षण ज्ञान और दर्शन है जिन्हें क्रमशः साकार और निराकार उपयोग कह सकते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा, ज्ञान और दर्शन को समानार्थक माना है (नियमसार, १६०)। बाद में आचार्यों ने दर्शन और ज्ञान की परिभाषाएं अलग–अलग दी हैं। उनसे यह स्पष्ट है कि दर्शन का तात्पर्य मूलतः आत्मप्रकाश था। यही कारण है कि मति–श्रुतअवधिज्ञान जब कभी गलत भी हो सकते हैं जबकि उनसे पूर्व होने वाले चक्षु–अचक्षु–अवधिदर्शन गलत नहीं हो सकते। पूज्यपाद ने इसी तथ्य के आधार पर दर्शन को प्रमाण कोटि में रख दिया। दिगम्बर आचार्य एक स्वर में ज्ञान और दर्शन की उत्पत्ति युगपत् मानते हैं (नियम सार १५९; स.सि. २.९)। आचार्य सिद्धसेन ने उनमें "अभेदवाद" की स्थापना की (सन्मति प्रकरण, २.२२)।

जैन दर्शन में विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष माना गया है। उसकी दृष्टि से आत्मा परम ज्ञान दर्शनमयी है। कर्मों के आवरण के कारण उसके ज्ञान–दर्शन गुण आवृत हो जाते हैं। फलतः वह पदार्थ का यथार्थ ज्ञान नहीं कर पाती। पदार्थ का यथार्थ ज्ञान करने के लिए संसारी आत्मा को शारीरिक इन्द्रिय और मन की आवश्यकता पडती है इनसे पदार्थ का सम्बन्ध होने पर पदार्थ जाने जाते हैं। अथवा हमारे पूर्व संस्कार, स्मृति और कल्पना के माध्यम से पदार्थ तक पहुंच जाते हैं। इन सभी माध्यमों की अपनी–अपनी सीमायें होती हैं, इसलिए वे पदार्थों की कुछ पयार्यो का ही ज्ञान कर पाते हैं, अल्पज्ञता के कारण। अतीन्द्रियज्ञानी होने पर ही सर्वज्ञता आती है। इस तरह ज्ञान और ज्ञेय में विषय– विषयी भाव सम्बन्ध है। दोनों स्वतन्त्र हैं पर एक दूसरे पर आधारित भी हैं।

इन्द्रिय और मन

चेतना का कार्य है इन्द्रियों और मन के द्वारा जानना, देखना और अनुभव करना। इन्द्रियां अपने–अपने विषय को जानती हैं और मन उस जानकारी को विस्तार देता है। सुख–दुःख की अनुभूति भी इन्द्रिय और मन दोनों को होती है। आत्मरमण को वेदना में नहीं गिना जाता।

जैनदर्शन में साकार उपयोग में ज्ञान के पांच भेद माने गये हैं – मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल मूर्त पदार्थों का ज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान है और केवलज्ञान में मूर्त–अमूर्त दोनों प्रकार के पदार्थों को जानने की क्षमता होती है। निराकार उपयोग के चार भेद हैं – चक्षु दर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधि दर्शनावरण और केवल दर्शनावरण।

ज्ञान और दर्शन आत्मा के गुण हैं। कुन्दकुन्द के अनुसार वीरसेन ने ज्ञान को पदार्थ के बाह्य तत्त्व का प्रकाशक माना है और दर्शन को अन्तरिकतत्त्व का। सिद्धसेन दिवाकर दर्शन को सामान्य का ग्राहक और ज्ञान को विशेष का ग्राहक कहते हैं। इस समय तक दर्शन का अर्थ पदार्थ के सामान्यतत्त्व का ग्रहण हो गया था। अर्थात् उसका मूलतः अर्थ आत्मप्रकाशक था। पूज्यपाद ने दर्शन को प्रमाणकोटि में रख दिया। पर वादिदेवसूरि ने उसे प्रमाणाभास माना। प्रारम्भ

में दर्शन और ज्ञान को युगपत् माना जाता था। पर बाद में उन्हें क्रमशः प्रगट होना माना गया श्वेताम्बर परम्परा में। दिगम्बर परम्परा प्रारम्भ से ही ज्ञान और दर्शन को युगपत् मानती है। सिद्धसेन दिवाकर ने दर्शन और ज्ञान में अभेदवाद की स्थापना की।

इन्द्रियां पांच हैं – स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। इनका जब मात्र आकार होता है तो उसे द्रव्येन्द्रिय कहा जाता है और जब उन में ज्ञान शक्ति आ जाती है तो उन्हें लब्धि इन्द्रिय कहा जाता है। इसके बाद ही निवृत्ति, उपकरण और उपयोग होता है।

मन का काम मनन करना है। वह भी इन्द्रिय के समान पौद्गलिक है, अजीव है। पुद्गल द्रव्य जब मन रूप में परिणत होता है तो द्रव्यमन कहा जाता है और जब विचार करने लगता है तो उसे भाव मन कहा जाता है। चूंकि मन जीव का गुण है इसलिए उसे आत्मिक मन भी कहा जाता है। इन्द्रियों के द्वारा ग्रहीत विषयों को जानने के कारण मन को नोइन्द्रिय, नियत आकार न होने के कारण अनिन्द्रिय और स्मृति, चिन्तन और कल्पना करने के कारण दीर्घकालिक संज्ञा कहा जाता है।

इन्द्रियां मात्र मूर्तपदार्थ को जान पाती हैं पर मन मूर्त और अमूर्त दोनों पदार्थों को जानता है। इन्द्रिय की गति पदार्थ तक ही है पर मन पदार्थ और इन्द्रिय दोनों तक चला जाता है। अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, तर्क, अनुमान आदि कार्य मन इन्द्रियों की सहायता से करता है पर शब्दज्ञान मन का स्वतन्त्र कार्य है। इन्द्रियों के साथ मन का व्यापार उसकी तीव्र ज्ञान शक्ति के कारण अर्थावग्रह से शुरू होता है।

मन पूरे शरीर में व्याप्त रहता है चैतन्य के साथ कुछ आचार्य उसका स्थान नाभि कमल में मानते हैं। यह शायद योग की प्रधानता के कारण कहा होगा।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान

इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है और श्रुतज्ञान श्रुत से उत्पन्न होता है। ये दोनों ज्ञान प्रत्येक जीव में होते हैं। मतिज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय व्यापार के बाद होता है। वह केवल मूर्त पदार्थों को जानता है, देखता नहीं है पर श्रुतज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय के व्यापार के बिना ही मूर्त–अमूर्त सभी पदार्थों को जान लेता है, देख लेता है। मतिज्ञान वर्तमान पदार्थों तक ही सीमित है पर श्रुतज्ञान का विषय त्रैकालिक पदार्थ हैं। मतिज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान विशुद्धतर है (त.वा. १.९.२६–३०)। मतिज्ञान की उत्पत्ति में अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा कारण होते हैं। मतिज्ञान साभिलाप (शब्द सहित) और अनभिलाप (शब्द रहित) दोनों प्रकार का होता है पर श्रुतज्ञान केवल साभिलाप होता है। इन्द्रियज्ञान अर्थाश्रयी होता है, मन का ज्ञान अर्थाश्रयी और श्रुताश्रयी, दोनों होते हैं पर श्रुतज्ञान मात्र श्रुताश्रयी होता है। श्रुतज्ञान अवग्रहादि मतिज्ञान पूर्वक होता है और अवग्रहादि मतिज्ञान श्रुत निश्रित होता है। मतिज्ञान अर्थज्ञान है और श्रुतज्ञान शब्दार्थज्ञान है। मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान कार्य है। द्रव्यश्रुत मतिज्ञान का कारण है पर भावश्रुत उसका कारण नहीं होता, इसलिए मतिज्ञान को श्रुतपूर्वक नहीं माना जाता। मतिज्ञान के बारह आदि अनेक भेद होते हैं और श्रुतज्ञान के भी।

जैन दृष्टि के अनुसार मन स्वतन्त्र पदार्थ न होकर वह आत्मा का ही एक विशेष गुण है। वह कर्म और नोकर्म (सहायक सामग्री कर्मविपाक की) के आधार पर प्रवृत्ति करता है। कर्म से आवृत चेतना के चार रूप माने जाते हैं – मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय। चेतना का अधिष्ठान शरीर है। दोनों परस्पर निर्भर हैं। मन इनमें चेतन भी है और पौद्गलिक भी। दोनों के सहयोग से ही मानसिक क्रियायें होती हैं। शरीर पर मन का और मन पर शरीर का असर होता है। आत्मा की ज्ञानशक्ति की अभिव्यक्ति का माध्यम भी शरीर ही है। संसारी आत्मा पौद्गलिक मन के द्वारा ही पुद्गलों को ग्रहण करती है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का आधार भी इन्द्रिय और मन हैं। इन्द्रियां प्रतिनियत पदार्थों को ही जानती हैं पर मन सर्वार्थग्राही होता है। इसलिए सापेक्षता की दृष्टि से उसे अनिन्द्रिय कहा गया है। मन श्रुतग्राही है और इन्द्रियी अर्थग्राही

हैं। इन्द्रियों का विषय केवल प्रत्यक्ष पदार्थ होते हैं पर मन प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार के विषयों को जानता है। इन्द्रियां वर्तमान पदार्थ को ही जानती हैं पर मन त्रिकालवर्ती पदार्थों को जानता है। स्मृति, कल्पना उसी का विषय है। जैन दर्शन में मतिज्ञान ३३६ प्रकार का होता है। और श्रुतज्ञान की मीमांसा पदादि के माध्यम से की गई है। तदनुसार सकल श्रुतज्ञान पदों की संख्या है – ११२८३५८००५

चेतना प्राणिमात्र में समान होती है पर उसका विकास समान नहीं होता। कर्मों की हीनाधिकता के अनुसार उसके ज्ञान का विकास होता है। संशय, विभ्रम, विस्मरण, अनभिव्यक्ति आदि का कारण कर्म ही है। आहार, निद्रा, भय आदि संज्ञायें, क्रोधादि कषाय, कषायों को उत्तेजित करने वाले हास्य, रति, अरति आदि नोकषाय भाव कर्मों के कारण ही होते हैं। मानसिक विकास भी सभी प्राणियों में समान नहीं होता। बुद्धि समनस्कों में ही होती है और उसकी तर–तमता का भी आधार कर्म ही है। चेतना का मूल स्रोत आत्मा है। उसकी दो प्रवृत्तियां हैं– इन्द्रिय और मन। इनमें मन त्रैकालिक होता है, इसलिए संकल्प, विकल्प, निदान, लेश्या, स्मृति, कल्पना, ध्यान आदि अनेक अवस्थाओं वाला होता है। स्वप्न भी मानसिक ही माना जाता है ये सभी भाव वैभाविक मोह की परिणतियां हैं।

बौद्धदर्शन में मतिज्ञान का विषय चित्तवीथी के अन्तर्गत संयोजित है। न्याय–वैशेषिक में सन्निकर्ष और सांख्य–योग में प्रत्यक्ष के लिए ज्ञानेन्द्रिय तथा अन्तःकरण की वृत्ति को अनिवार्य माना है। वेदान्त दर्शन में भी इसी को स्वीकारा है और मनोविज्ञान इसी को संवेदना कहता है।

अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान

इन्द्रियादि की सहायता के बिना ही मूर्त द्रव्यों को जाननेवाला ज्ञान अवधिज्ञान है, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उसकी सीमायें हैं। इसी आधार पर उसके छः प्रकार होते हैं – अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अप्रतिपाती और प्रतिपाती। मनःपर्याय ज्ञान दूसरे के मन की पर्यायों को जानता है। कभी वह स्पष्ट रूप से जानता है और कभी कुटिल प्रवृत्तियों को भी जान लेता है। इस

ज्ञान में इन्द्रिय और मन की सहायता की अपेक्षा रहती है पर अनुमान आदि की नहीं। अवधिज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है पर मनःपर्ययज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्षज्ञान है। विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा दोनों ज्ञानों में भेद होता है।

सन्तान की अपेक्षा से अनादि होने पर भी सम्यग्दर्शनादि का परम प्रकर्ष हो जाने पर ज्ञानावरणादि कर्मो का पूर्णरूप से प्रक्षय हो जाता है और आत्मा स्वतन्त्र हो जाती है। जब ज्ञानावरणादि कर्मावरणों का क्षय हो जाने पर सम्यग्दर्शनादि का परम प्रकर्ष हो जाता है तब ज्ञानादि गुणों का भी परम प्रकर्ष हो जाता है।

वैदिक दर्शन में अलौकिक शक्तियों का वर्णन, बौद्धधर्म का षड्भिज्ञाओं का विवेचन, न्याय–वैशेषिक का योगज प्रत्यक्ष अवधिज्ञान के समकक्ष दिखाई देता है। परामनोविज्ञान के क्षेत्र में भी अतीन्द्रियज्ञान पर काम हुआ है। मेकडोगल, रावत आदि विद्वानों का नाम इस संदर्भ में उदाहरणीय है। कुण्डलिनी का जागरण भी इन्हीं ज्ञानों की परिधि में आ जाता है।

केवलज्ञान

त्रिलोक और त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्यों और पर्यायों को युगपत् प्रत्यक्ष करने वाला ज्ञान केवलज्ञान है। केवलज्ञान में इन्द्रिय और मन के सहयोग की अपेक्षा नहीं रहती। वह केवल आत्मज्ञानी होता है। केवल का अर्थ शुद्ध, सम्पूर्ण, असाधारण और अनन्त भी होता है। केवलज्ञान का विषय लोक–अलोक की समस्त द्रव्य और पर्यायें हैं । अतः केवलज्ञानी को सर्वज्ञ कहा जाता है। अतीन्द्रियज्ञानी भी उसे माना जाता है। श्रुतकेवली श्रुत के माध्यम से पदार्थज्ञ होता है (त.सु.१.२५; स.सि. १.१०; जय धवला भाग १ पृ. १९)।

केवली पदार्थ को एक समय में युगपत् जानते हैं तो दूसरे समय में क्या जानेंगे? इसके उत्तर में मल्लवादी ने केवलज्ञान और केवलदर्शन को युगपत् माना और सिद्धसेन दिवाकर ने उनका अभेद स्वीकार किया। दिगम्बर परम्परा युगपत् की पक्षधर रही है पर श्वेताम्बर परम्परा में उसका क्रम, युगपत् और अभेद में तीन धारायें बन गईं। यशोविजयजी ने इसका नय दृष्टि से समन्वय किया है। यहां

यह भी उल्लेखनीय है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार (गाथा १५८) में यह

कहा है कि केवली व्यवहार दृष्टि से सब कुछ जानते–देखते हैं और निश्चय दृष्टि से अपनी आत्मा को ही देखते हैं। इन सारी मान्यताओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

प्रमाण मीमांसा

जैन दर्शन में सम्यग्ज्ञान को प्रमाण माना गया है। उसके दो भेद हैं – प्रत्यक्ष और परोक्ष। आगम काल में स्वतन्त्र जैन दृष्टि से प्रमाण की विशेष चर्चा नहीं हुई। वहां ज्ञान के भेद अवश्य किये गये। आचार्य कुन्दकुन्द ने ज्ञान के ही दो भेद माने – प्रत्यक्ष और परोक्ष। उन्होंने आत्मसापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष और इन्द्रिय सापेक्ष ज्ञान को परोक्ष कहा। इन्द्रियां आत्मा से भिन्न हैं और आत्मा को छोडकर ज्ञान अन्यत्र कहीं रहता नहीं है। इसलिए आत्मा प्रत्येक पदार्थ को जानने की शक्ति रखता है। उमास्वामी ने इन ज्ञानों को प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञानों में विभाजित कर दिया।

समीक्षात्मक दृष्टि से विचार किया जाये तो जैन दर्शन में प्रमाण मीमांसा दो दृष्टियों से की गई है – आध्यात्मिक या निश्चय दृष्टि से और बाह्य या व्यावहारिक दृष्टि से। आचार्य उमास्वामी ने उन्मत्त पुरुष की तरह मिथ्यादृष्टि का ज्ञान चाहे यथार्थ हो या अयथार्थ, अज्ञान ही कहा जायेगा। जिनभद्रगणि ने इस मिथ्यादृष्टि ज्ञान को संसार का कारण माना है क्योंकि उसका चारित्र निष्फल रहता है। (विशेषावश्यक, गाथा ११५, ३३९)। तथा अनेकान्त सिद्धान्त में भी उसे विश्वास नहीं रहता। इसी दृष्टि में उमास्वामी ने सम्यग्दृष्टि के पंचज्ञानों को ही प्रमाण कहा है और मिथ्यादृष्टि के तीन अज्ञानों को प्रमाण की सीमा में नहीं रखा है। (तत्त्वार्थसूत्र, १.१०)। दूसरी और व्यावहारिक दृष्टि से व्यवसाय को प्रमाण माना गया है चाहे वह सम्यग्दृष्टि का हो या मिथ्यादृष्टि का।

अद्वैतवादियों ने प्रमाण का विवेचन दो दृष्टियों से किया है – पारमार्थिक दृष्टि से और व्यावहारिक दृष्टि से। पारमार्थिक दृष्टि से उनके मत में एक अखण्ड, निरंश तत्त्व को ही सत्य माना गया है, चाहे वह ब्रह्म हो या शून्य, ज्ञान हो या शब्द। पारमार्थिक दृष्टि से यह सभी भेदमूलक व्यवहार मिथ्या है, सांवृत है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से ये सभी व्यवहार मूलक व्यवहार सत्य की कोटि

में आ जाते हैं। व्यवहार का मूलाधार ही भेद है। परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से वह स्वयंप्रकाशक है, अनुभवगम्य है, अवाच्य है। भेदप्रतीति वासनामूलक है। वासना समाप्त होने के बाद भेद व्यवहारकृत व्यवस्था का भी अन्त हो जाता है।

नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य और मीमांसा दर्शनों में उपर्युक्त दो दृष्टियों का आधार नहीं लिया गया। उन्होंने लौकिक दर्शन के आधार पर शास्त्रीय दृष्टि से वासितान्तः करण पुरुष के चाक्षुष ज्ञान में और रथ्या पुरुष के चाक्षुष ज्ञान में प्रामाण्य या अप्रामाण्य कृत कोई भेद नहीं माना। जैन परम्परा ने भी इसे स्वीकार किया है। उसकी दृष्टि से आत्मा का ज्ञान यदि मोक्षाभिमुखी नहीं है तो उसका ज्ञान अप्रमाण ही माना जायेगा और मोक्षाभिमुखी आत्मा का संशय भी ज्ञान या प्रमाण माना जायेगा। यहां व्यवसाय को ही प्रमाण कहा गया है।

बौद्धों और मीमांसकों ने ज्ञान या प्रमाण को अपूर्वार्थक माना। वेदों की नित्यता के कारण मीमांसकों को प्रामाण्य का नियामक अपूर्वार्थकत्व मानना पडा और वस्तु की ऐकान्तिक अनित्यता–क्षणिकता की स्वीकृति में बौद्धों को अपूर्वार्थ स्वीकार करना पडा। बाद में जैनों ने भी इसे अपने ढंग से स्वीकार कर लिया। अकलंक ने अप्रसिद्ध अर्थ की ख्याति को प्रमाण कहा तो माणिक्यनन्दी ने अपूर्वार्थ व्यवसाय को प्रमाण माना।

यहां प्रमाण के लक्षण में व्यवसायात्मक ज्ञान विशेषण बहुत ही सार्थक है। जयन्त भट्ट कारक साकल्य अर्थात्, आत्मा, मन, अर्थ, आलोक, इन्द्रिय आदि कारणों को अर्थ की उपलब्धि में साधकतम मानते हैं। परन्तु जैनाचार्य प्रदीपादि के समान उपचार से तो साधकतम मान लेते हैं पर उनकी दृष्टि में स्व–पर–परिच्छित्ति में मुख्य रूप से साधकतम तो ज्ञान ही है – (स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्–परीक्षामुख, १)।

जयन्तभट्ट कारक साकल्य (आत्मा, मन, अर्थ, आलोक, इन्द्रिय आदि) को प्रमाण मानते हैं। पर यह सही नहीं है। स्व–पर–विच्छित्ति में तो मुख्य रूप से साधकतम ज्ञान ही होता है।

नैयायिक–वैशेषिक सन्निकर्ष को साधकतम (करण) प्रमाण मानते हैं। पर जैनाचार्य उसे भी अज्ञान रूप मानते हैं। उनका कहना है कि इन्द्रियां

अचेतन हैं और घटादि पदार्थ भी अचेतन हैं। तब दोनों का सन्निकर्ष रूप सम्बन्ध भी अचेतन ही होगा। घट के समान आकाश के साथ भी चक्षु का संयोग रूप सन्निकर्ष है और फिर सन्निकर्ष को प्रमाण मानने में अव्याप्ति दोष भी है। क्योंकि चक्षु अप्राप्यकारी है, वह अर्थ को प्राप्त करके नहीं जानती, किन्तु दूर से ही जानती है। स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र में चार इन्द्रियां प्राप्यकारी होती हैं। सन्निकर्ष को प्रमाण मानने वालों में सर्वज्ञ भी सिद्ध नहीं हो सकता।

सांख्य इन्द्रिय-वृत्ति को प्रमाण मानते हैं पर जब इन्द्रियां अचेतन हैं तब इन्द्रियों का व्यापार भी अचेतन होगा और स्व-पर का ज्ञान कदापि संभव नहीं है। मीमांसक प्रभाकर का ज्ञातृ व्यापार भी अज्ञान रूप है। अतः वह भी साधकतम नहीं हो सकता। साधकतम हो सकता है हित-अहित को बतानेवाला ज्ञान (हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेवतत् परीक्षामुख २)। प्रमाण हितकारी अर्थ का मात्र प्रदर्शक होता है, वह बल पूर्वक हितकारी अर्थ की प्राप्ति नहीं करा सकता। वह प्रमाण निश्चयात्मक होता है (प्रमाण परीक्षा, ५३; प.मुख १.१)।

बौद्ध प्रत्यक्ष को अनिश्चयात्मक (निर्विकल्पक) और अनुमान को निश्चयात्मक (सविकल्पक) मानते हैं। जिस ज्ञान में शब्द का संसर्ग होता है वह ज्ञान सविकल्पक कहलाता है और जिस ज्ञान में शब्द संसर्ग नहीं होता वह निर्विकल्पक होता है। बौद्ध प्रत्यक्ष को कल्पनापोढ (कल्पना रहित) मानते हैं। उनके ज्ञान में नाम, जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य की योजना रूप कल्पना नहीं होती। पर यह मान्यता ठीक नहीं है। जो अनिश्चयात्मक है वह प्रमाण कैसे हो सकता है? स्व-पर-परिच्छिति में साधकतम कैसे हो सकता है?

भर्तृहरि आदि वैयाकरण शब्दाद्वैतवादी हैं। वे ज्ञान को सविकल्पक मानते हैं और कहते हैं कि शब्द में वाचक और वाच्य दोनों रूप हैं। पर यह सही नहीं है। शब्द और अर्थ में तादात्म्य सिद्ध नहीं होता अन्यथा शब्द का ज्ञान होने पर अर्थ का ज्ञान आवश्यक हो जाता।

तत्त्वोपलववादी संशयादि विपर्यय ज्ञानों को ही नहीं मानते। पर ऐसा कौन है जिसे संशय का अनुभव नहीं होता। चार्वाक विपर्यय ज्ञान को अख्यातिरूप,

सौत्रान्तिक असत्ख्यातिरूप, सांख्य प्रसिद्धार्थ ख्यातिरूप, विज्ञानाद्वैतवादी

आत्मख्यातिरूप, ब्रह्माद्वैतवादी अनिर्वचनीयार्थ ख्यातिरूप, नैयायिक–वैशेषिक विपरीतार्थ ख्याति रूप और प्रभाकर विपर्ययज्ञान को स्मृति प्रमोष रूप मानते हैं। पर ये सब एकान्तवादी हैं और सम्यक् नहीं हैं।

प्रमाण अपूर्व अर्थ का ज्ञान कराता है जो निश्चित है, बाधारहित है पर यह मीमांसकों के समान सर्वथा नहीं, कथंचित् है। अर्थात् कोई भी अर्थ सामान्य रूप से गृहीत होने पर भी विशेष रूप से अगृहीत रहता है। ब्रह्माद्वैतवादी वेदान्ती ब्रह्म को छोडकर बाह्य अर्थ की कोई सत्ता नहीं मानते। पर अभेद (ब्रह्माद्वैत) की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती। विज्ञानाद्वैतवादी योगाचारी बौद्ध विज्ञप्ति मात्र को ही प्रमाण मानते हैं पर ज्ञान की तरह अश्व, गज, घट आदि बाह्य पदार्थो की भी सिद्धि होती है। विज्ञानाद्वैतवादियों के अन्तर्गत चित्राद्वैतवादी हैं जो ज्ञान को नील, पीत आदि अनेकाकारमय मानते हैं। पर नील अर्थ और नील ज्ञान में पृथक्करण देखा ही जाता है। शून्याद्वैतवादी माध्यमिक बौद्ध किसी भी प्रकार की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। पर बाह्य घटादि पदार्थो का स्पष्ट आभास होता है। अचेतनज्ञानवादी सांख्य ज्ञान को स्वव्यवसायात्मक नहीं मानते। वे उसे प्रकृति की पर्याय मानते हैं। पर यह ज्ञान प्रकृति की पर्याय न होकर आत्मा की पर्याय है। यदि ज्ञान अचेतन है तो वह विषय का व्यवस्थापक नहीं हो सकता। साकार ज्ञानवादी बौद्ध अर्थ सारूप्य को प्रमाण मानते हैं पर यह भी ठीक नहीं। हम जानते हैं कि घटादि के आकार से रहित ज्ञान ही घटादि अर्थ का ग्राहक होता है।

भूत–चैतन्यवादी चार्वाक् के अनुसार यदि चैतन्य या ज्ञान को भूतों का परिणमन माना जाये तो दर्पणादि की तरह ज्ञान का बाह्येन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष होना चाहिए। परोक्षज्ञानवादी मीमांसक ज्ञान को परोक्ष मानते हैं और कहते हैं कि वह अपना संवेदन नहीं करता है। पर जैन दर्शन मानता है कि जिस प्रकार ज्ञान घटादि प्रमेय का प्रत्यक्ष करता है, उसी प्रकार वह अपना भी प्रत्यक्ष करता है। ज्ञानान्तर वेद्य ज्ञानवादी न्याय–वैशेषिक ज्ञान का प्रत्यक्ष स्वतः न होकर अन्य ज्ञान से मानते हैं। पर इस अवस्था में अनवस्था दोष होगा। ज्ञान तो वस्तुतः स्व–पर प्रकाशक होता है दीपक की तरह। वह अभ्यासदशा में स्वतः और अनभ्यासदशा में परतः होता है। परोक्ष ज्ञानवादी मीमांसक सब प्रमाणों का

प्रामाण्य स्वतः मानते हैं। पर ज्ञान में प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति अपने-अपने विशिष्ट कारणों से ही होती है।

स्मृति की पृष्ठभूमि में पूर्वदृष्ट पदार्थ के विषय में तत् एवं धारणा रूप संस्कार जागृत होता है और स्मृति का रूप ले लेता है। जैसे यह वही देवदत्त है जिसे हमने पहले देखा था। चार्वाक्, बौद्ध और वैदिक परम्पराएं स्मृति को ग्रहीतग्राही होने के कारण प्रमाण कोटि में नहीं रखतीं।

प्रत्यक्ष प्रमाण

ज्ञान का विकास प्रमाण के रूप में हुआ भारतीय दर्शनों के प्रमाण के भेदों के विषय में भी मतैक्य नहीं है। चार्वाक् मात्र प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता है। वैशेषिक और बौद्ध दो प्रमाण मानते हैं – प्रत्यक्ष और अनुमान। जैन भी दो प्रमाण मानते हैं – पर उनमें नामों का भेद है। वे हैं – प्रत्यक्ष और परोक्ष। सांख्य प्रमाण के तीन भेद मानते हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। नैयायिक चार प्रमाण मानते हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान। और मीमांसक प्रमाण के छह भेद मानते हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द (आगम), उपमान, अर्थापत्ति और अभाव।

ठाणांग में प्रमाण के स्थान पर हेतु शब्द का प्रयोग हुआ है। (सू. ३३८) चरक में भी इसी अर्थ में हेतु शब्द मिलता है (विमानस्थान, अ. ८, सू.३३)। जैन दार्शनिकों ने इसी शब्द से मिलता-जुलता व्यवसाय शब्द का भी प्रयोग किया है। ठाणांग (सु. १८५) में यह व्यवसाय तीन प्रकार का बताया गया है जो (सांख्य द्वारा मान्य) प्रमाण के तीन रूपों की ओर संकेत करता है – प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। हरिभद्र ने भी ये प्रमाण भेद स्वीकार किये हैं (अनेकान्तजयपताका टीका, पृ.१४२)। जैनागमों में भी तीन और चार प्रमाणों की मान्यता का उल्लेख मिलता है। अनुयोग द्वार (सू.५९) की दृष्टि से प्रमाण के भेद इस रूप में दृष्टव्य हैं –
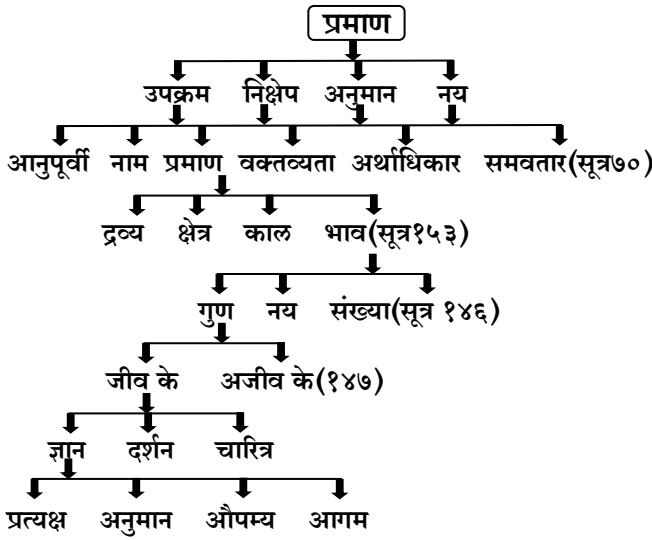
इस तरह जैन दर्शन में प्रमाण के मूलतः दो भेद ही मिलते हैं – प्रत्यक्ष और परोक्ष। आगम युग में प्रमाण के स्थान पर ज्ञान का विवेचन हुआ है। प्रमाण तो दार्शनिक युग की देन है। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में ज्ञान और ज्ञेय का विवेचन करने के बावजूद प्रमाण और प्रमेय शब्दों का प्रयोग नहीं किया। परन्तु उनके बाद हुए आचार्य उमास्वामी ने ज्ञान को ही प्रमाण कहकर उसके दो भेद कर दिये – प्रत्यक्ष और परोक्ष। यहीं से प्रमाण का विवेचन प्रारम्भ हुआ है।

जैन परम्परा में ज्ञान के पांच भेद माने गये हैं – मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान। इसी आधार पर ज्ञानवरण कर्म के भी पांच भेद हो गये। आचार्य उमास्वामी ने ज्ञान को प्रमाण कहकर मति और श्रुतज्ञान को परोक्ष प्रमाण तथा शेष तीनों ज्ञानों को प्रत्यक्ष प्रमाण मान लिया। (तत्त्वार्थ सूत्र, १.९–१२)। यहीं उन्होंने मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध नामक ज्ञानों को अनर्थान्तर बताया (त.सू.१.१३)। इसका तात्पर्य है कि उस समय तक प्रचलित स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान आदि प्रमाणों का अन्तर्भाव मतिज्ञान में कर दार्शनिक प्रमाण पद्धति का प्रचलन प्रारम्भ कर दिया।

अनुयोगद्वार में इन पंच ज्ञानों को प्रमाण रूप में न बताकर नैयायिकों द्वारा मान्य प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान इन चार प्रमाणों को ही ज्ञान प्रमाण के भेद बता दिये। इससे यह तथ्य प्रस्थापित हो गया कि जैन दर्शन में सन्निकर्ष आदि अज्ञान मूलक तत्त्वों को प्रमाण नहीं माना जा सकता। इस समय तक ज्ञान और प्रमाण के बीच समन्वय भी स्थापित नहीं हो सका। परन्तु यह समन्वय आचार्य उमास्वामी ने अवश्य करने का प्रयत्न किया। बौद्धों ने प्रमाण की संख्या दो न मानकर तीन भेदों पर भी बल दिया।

जैसा हम पीछे संकेत कर चुके हैं, जैन परम्परा में तार्किक परम्परा को मतिज्ञान में अन्तर्भूत कर दिया गया और फिर इन्द्रिय सापेक्ष ज्ञान को परोक्ष कह दिया गया। लौकिक परम्परा के विपरीत यह मान्यता थी जिसमें उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है उसे परोक्ष की श्रेणी में रख दिया गया। इस विरोध को स्पष्ट करने के लिए आचार्य अकलंक ने परम्परा द्वारा प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदों को तो यथावत् स्वीकार किया परन्तु प्रत्यक्ष के दो भेद कर दिये – सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष या मुख्य प्रत्यक्ष। इससे लौकिक विरोध समाप्त हो गया। इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले मतिज्ञान को सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष नाम देकर उसे प्रत्यक्ष की परिधि में ला दिया। अकलंक जैसे चिन्तक ने इस विधा से प्रत्यक्ष में दिखाई देने वाले विरोध की इतिश्री कर दी। प्रमाण के भेद प्रत्यक्ष और परोक्ष दो ही हैं। परन्तु उपर्युक्त सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष नाम देने से लौकिक प्रत्यक्ष विरोध भी नहीं रहा और जैन परम्परा पर आघात भी नहीं आया।

इसी तरह अकलंकने सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष के दो भेद कर दिये – इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। इन्द्रिय प्रत्यक्ष में मति को अन्तर्भूत कर दिया गया और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष में स्मृति आदि को परोक्ष के भी अन्तर्गत रखा गया। क्योंकि उनमें मन का ही प्रधान व्यापार होता है।

आचार्य अकलंक के टीकाकारों ने अकलंक द्वारा किये गये इस भेद को स्वीकार नहीं किया। उदाहरणतः अनन्तवीर्य और विद्यानन्द को स्मृति आदि को अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष मानना अनुकूल नहीं लगा। विद्यानन्द ने अपनी प्रमाण परीक्षा में अकलंक द्वारा किये गये प्रत्यक्ष के इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष भेद तो किये परन्तु अवग्रह से लेकर धारणा पर्यन्त ज्ञान

को एक देश स्पष्ट होने के कारण इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष माना तथा स्मृति आदि को परोक्ष ही माना। उत्तर कालीन जैन तार्किकों ने भी इन्द्रियजन्य ज्ञान को तो एक मत से सांख्यावहारिक प्रत्यक्ष मानना स्वीकार किया परन्तु स्मृति आदि को किसी ने भी अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं माना। जो भी हो, अकलंक की तार्किक प्रमाण पद्धति बेहद प्रभावक थी। परोक्ष के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम प्रमाणों को किसी न किसी रूप में परोक्ष में गर्भित कर दिया गया।

जैसा हम पीछे लिख चुके हैं, जैन दर्शन में ज्ञान को आत्मा का गुण माना गया है और उसे स्व–पर प्रकाशक बताया गया है। रागद्वेषादिक परिणामों के कारण यह ज्ञान गुण प्रच्छन्न हो जाता है। कर्मों के आवरण जैसे–जैसे दूर होते चले जाते हैं आत्मा के स्वरूप की परतें वैसे–वैसे उद्घाटित होती जाती हैं। इसे हम 'ज्ञान' कह सकते हैं।

जैन दर्शन में ज्ञान के पांच भेद माने गये हैं– मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान (मतिश्रुतावधिमनःपर्यय केवलानि ज्ञानम्–तत्त्वार्थसूत्र, १.८)। 'मति–ज्ञान' इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है। 'श्रुतज्ञान' श्रुत (शास्त्रों अथवा श्रवण) से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान है। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही मर्यादापूर्वक रूप पदार्थों को स्पष्ट जाननेवाला ज्ञान 'अवधिज्ञान' है। दूसरे के मनोगत अर्थ को जानने वाला ज्ञान 'मनःपर्ययज्ञान' है और समस्त द्रव्यों, पर्यायों और गुणों को स्वतः जानने वाला ज्ञान 'केवलज्ञान' है।

इस तरह जैन दर्शन में प्रमाण के भेद निम्न प्रकार से स्वीकृत हो गये –
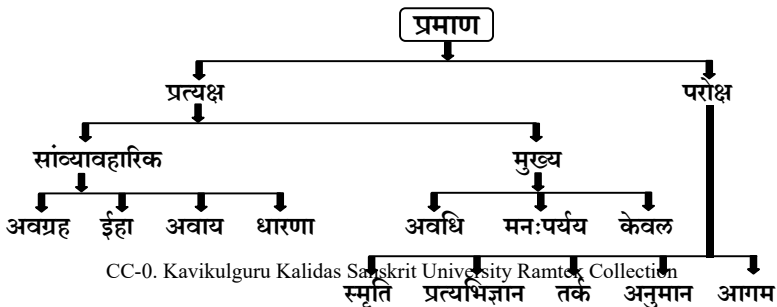
जैनदर्शन के अनुसार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों ज्ञान प्रत्येक जीव में होते हैं। श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। मति और श्रुत, दोनों नारद–पर्वत की तरह एकसाथ रहने वाले हैं। दोनों के विषय समान होते हुए भी उनमें अन्तर दृष्टव्य है। मतिज्ञान "यह गो शब्द है" ऐसा सुनकर ही निश्चय करता है किन्तु श्रुतज्ञान मन और इन्द्रिय के द्वारा गृहीत या अगृहीत पर्यायवाले शब्द या उसके वाच्यार्थ को श्रोत्रेन्द्रिय के व्यापार के बिना ही नयादि योजना द्वारा विभिन्न विशेषों के साथ जानता है। (तत्त्वार्थवार्तिक, १.९.२६–२९)। श्रुतज्ञान के बीस प्रकारों का भी उल्लेख मिलता है (षट्खण्डागम, पुस्तक ६, पृ.२१.)। श्रुतज्ञान दो प्रकार का होता है – अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य।

उमास्वामी, अकलंक आदि आचार्यो के द्वारा प्रस्तुत लक्षणों से यह स्पष्ट है कि श्रुतज्ञान का अन्तरंग कारण श्रुत–ज्ञानावरण का क्षयोपशम है और मतिज्ञान, शब्दबोध, परोपदेश, संकेत आदि उसके कारण हैं। तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में श्रुत शब्द के सात पर्यायवाची शब्द दिये हैं –आप्तवचन, आगम, उपदेश, ऐतिह्य, आम्नाय, प्रवचन और जिनवचन जो षट्खण्डागम में दिये गये ४१ पर्यायवादी शब्दों का ही संक्षिप्तीकरण है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के बीच अन्तर यह है कि मतिज्ञान वर्तमानिक अर्थ पर अवलम्बित रहता है जबकि श्रुतज्ञान का विषय त्रैकालिक पदार्थ है। मतिज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान विशुद्धतर है। चूंकि श्रुतज्ञान शब्द पर आधारित है इसलिए जितने वचन पथ हैं उतने ही श्रुतज्ञान के भेद–प्रभेद हो सकते हैं। यहां अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत दोनों हैं। श्रुतज्ञान क्षायोपशमिक है, परोक्ष है।

सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष अथवा मतिज्ञान की उत्पत्ति में क्रमशः अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा कारण होते हैं। व्यक्ति जब वस्तु विशेष को जानने के लिए तैयार होगा तो उसे उसकी सत्ता का आभास होगा। मतिज्ञान का प्रारम्भ यहीं से होता है। सत्ता का प्रतिभास होने के बाद अथवा विषय और विषयी का सन्निपात होने पर मनुष्यत्व आदि रूप अर्थग्रहण "अवग्रह" है। "यह मनुष्य है" ऐसा जानने के बाद उसकी भाषा आदि विशेषताओं के कारण यह संदेह होता है कि "यह पुरुष दक्षिणी है या पश्चिमी" इस प्रकार के संशय को दूर करते हुए 'ईहा' ज्ञान की उत्पत्ति होती है। उसमें निर्णय की ओर झुकाव होता है। यह ज्ञान

जितने विशेष को जानता है, यह निश्चयात्मक है। अतः इसे संशयात्मक नहीं कह सकते। ''यह मनुष्य दक्षिणी होना चाहिए'' इस प्रकार सद्भूत पदार्थ की ओर झुकता हुआ ज्ञान ''ईहा'' है। ईहा ज्ञान के बाद आत्मा में ग्रहण शक्ति का इतना अधिक विकास हो जाता है कि वह भाषा आदि विशेषताओं के द्वारा यह यथार्थ ज्ञान कर लेता है कि यह मनुष्य दक्षिणी ही है। इसी ज्ञान को 'अवाय' या अपाय कहा जाता है। इसके बाद अवाय द्वारा गृहीत पदार्थ को संस्कार के रूप में धारण कर लेना ताकि कालान्तर में उसकी स्मृति हो सके, धारणा है। पदार्थज्ञान का यही क्रम है। वस्तु के ज्ञान में यह क्रम बडी द्रुतगति से चलता है। हेमचन्द्र ने स्मृति ज्ञान के कारण को धारणा माना है।

जैनेतर दर्शनों में मान्य प्रमाण भेदों की समीक्षा

इस तरह जैन दर्शन में प्रमाण के दो भेद निश्चित हो गये – प्रत्यक्ष और परोक्ष। इस निश्चितीकरण में जैनेतर दर्शनों में मान्य प्रमाण भेदों की समीक्षा भी की गई दार्शनिक युग में। उदाहरणार्थ –

चार्वाक् दर्शन

चार्वाक् दर्शन में प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना गया है। उसके अनुसार अनुमान से अर्थ का निश्चय नहीं हो पाता। प्रत्यक्ष निकटवर्ती अर्थ को ही ग्रहण करता है। व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष से नहीं हो पाता। अनुमान से व्याप्तिग्रहण मानने पर अनवस्था और इतरेतराश्रय नामक दोष होते हैं। अतः चार्वाक् ने प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना है।

जैनाचार्य चार्वाक् दर्शन से सहमत नहीं है। उनका कहना है कि प्रत्यक्ष के समान अनुमान भी अविसंवादक होने के कारण प्रमाण है। उसका विषय वास्तविक सामान्य विशेषात्मक वस्तु है। उसे गौण नहीं कहा जा सकता क्योंकि कोई कोई प्रत्यक्ष भी अनुमान पूर्वक होता है। अतः वह भी गौण हो जायेगा। अनुमान से अग्नि को जानकर जब व्यक्ति अग्नि के पास जाता है तो प्रत्यक्ष से अग्नि को जानता है। तर्क के बिना प्रत्यक्ष प्रमाण की सिद्धि नहीं होगी और अनुमान के बिना अतीन्द्रिय, परलोक, आत्मा, स्वर्ग आदि का अभाव भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। इसलिए कहा गया है –

प्रमाणेतरसामान्य स्थितेरन्यधियां गतेः।
प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित्।।

बौद्धदर्शन में प्रमाण भेद

बौद्ध दर्शन में दो ही प्रमाण माने गये हैं – प्रत्यक्ष और अनुमान। उसके अनुसार प्रमेय सामान्य विशेषात्मक होने के कारण प्रमाण भी दो प्रकार का है। जैनों का कहना है कि सामान्य विशेषात्मक प्रमेय ही प्रमाण का विषय है। यदि अनुमान का विषय मात्र सामान्य माना जाये तो उससे स्वलक्षण रूप अर्थों में प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी और घटविषयक ज्ञान पट में प्रवृत्ति करा देगा। उनका पुनः कहना है कि आगम आदि प्रमाण अनुमान से भिन्न नहीं क्योंकि सम्बद्ध अर्थ का ही बोध शब्द से होता है और वह शब्द लिंग रूप ही हुआ और उससे उत्पन्न ज्ञान अनुमान ही हुआ। इस कथन पर जैनों का कहना है कि इस रीति से प्रत्यक्ष भी अनुमान ही ठहरता है क्योंकि प्रत्यक्ष भी अपने विषय से सम्बद्ध होकर ही उसका ज्ञान कराता है। यदि ऐसा न हो तो सभी प्रमाता सभी अर्थों का प्रत्यक्ष कर सकेंगे। शब्द के साथ अन्वय–व्यतिरेक नहीं है। इसलिए अनुमान प्रमाण से शब्द प्रमाण भिन्न ही है।

नैयायिक और मीमांसक सम्मत प्रमाण भेद

नैयायिक और मीमांसक उपमान नाम का एक प्रमाण मानते हैं जो जैनों का सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है। मीमांसक प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द (आगम) और उपमान के अतिरिक्त अर्थापत्ति और अभाव नामक प्रमाण भी मानते हैं। इनमें अर्थापत्ति का तात्पर्य है जिसके बिना जो अर्थ नहीं हो सकता उस अदृष्ट अर्थ की कल्पना करना। इसके अनेक प्रकार हैं – १. प्रत्यक्ष पूर्वक अर्थापत्ति, २. अनुमानपूर्वक अर्थापत्ति, ३. उपमान पूर्वक अर्थापत्ति और ४. अभावपूर्व अर्थापत्ति।

जैन दार्शनिकों के अनुसार अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में हो जाता है। अदृष्ट अर्थ की परिकल्पना में अविनाभाव सम्बन्ध की परिकल्पना संभव नहीं है। यदि संभव हो तो जिसका अविनाभाव अनिश्चित है, ऐसे लिंग से भी परोक्ष अर्थ का अनुमान किया जा सकेगा और ऐसी स्थिति में लिंग में और

अर्थापत्ति के उत्थापक अर्थ में कोई भेद नहीं होगा। यदि उसमें अविनाभाव सम्बन्ध ज्ञात होता है तो अर्थापत्ति और अनुमान में कोई भेद नहीं रहता। दोनों में पारस्परिक बोध होना समान है। अर्थापत्ति से अविनाभाव सम्बन्ध में अन्योन्याश्रय दोष आता है। अतः मीमांसकों का यह कथन उचित नहीं है कि अर्थापत्ति में अविनाभाव रूपता का ज्ञान तत्काल हो जाता है। प्रमाणान्तर से भी वह नहीं जाना जाता।

अभाव प्रमाण का भी अन्तर्भाव प्रत्यक्षादि में हो जाता है। अभाव प्रमावादी का कहना है कि "इस भूतल पर घट नहीं है" में अभावात्मक स्थिति से अभाव प्रमाण की अभिव्यक्ति होती है। परन्तु यह सही नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष में ही वहां घट का अभाव दिखाई देता है। अभाव प्रमाण मानने का एक यह भी तर्क होता है कि इससे प्रतियोगी का स्मरण होता है। पर यह तर्क भी ठीक नहीं क्योंकि भूतल से संसृष्ट प्रतियोगी का स्मरण होता तो अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति ही नहीं होगी। अतः अभाव प्रमाण मानना युक्तिसंगत नहीं।

अभाव के दो भेद हैं– प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव। इसमें दो अभाव और मिल जाते हैं – अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव। तब उसके चार भेद हो जाते हैं। पर्युदास और प्रसज्य भी भेद मिलते हैं। प्रागभाव का तात्पर्य है कार्य अपनी उत्पत्ति से पहले नहीं होता। प्रध्वंसाभाव में कार्य की उत्पत्ति के नाश होने के पश्चात् का अभाव आता है। अन्योन्याभाव में यह माना जाता है कि गौ ऊंट नहीं और ऊंट गौ नहीं। इन तीनों प्रकारों को अतिरिक्त जो अभाव है वह अत्यन्ताभाव है। पर्युदास के द्वारा एक वस्तु के अभाव में दूसरी वस्तु का सद्भाव ग्रहण किया जाता है। जो प्रत्यक्ष न हो वह अप्रत्यक्ष है यह प्रसज्य अभाव है। जैन दर्शन का मत है कि अभाव प्रमाण की उत्पत्ति सामग्री तथा विषय का अभाव होने से उसे अलग प्रमाण नहीं माना जा सकता है।

इन्द्रिय और मन ज्ञान की उत्पत्ति में कारण

पीछे सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष को स्थापित किया गया था। जिसमें इन्द्रिय और मन के निमित्त से स्पष्ट ज्ञान होता है। इन्द्रियों के पांच भेद है – स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण। इनमें से प्रत्येक इन्द्रिय के दो भेद है – द्रव्येन्द्रिय

और भावेन्द्रिय। इन्द्रियों के बाह्य और आभ्यन्तर आकाश रूप परिणत पुद्गलों को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। जैसे श्रोत्रादि इन्द्रियों में पुद्गलों की कर्णशष्कुली आदि बाह्य रूप रचना और कदम्ब गोलक के आकार रूप आभ्यन्तर रचना द्रव्येन्द्रिय है। लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं और उसके निमित्त से होने वाले आत्मा के जानने रूप परिणाम को उपयोग कहते हैं।

इन्द्र का अर्थ आत्मा है। इन्द्रियों से ही आत्मा की पहचान होती है। आत्मा सूक्ष्म है। उसका अस्तित्व इन्द्रियों से जाना जाता है। उनकी उपयोगिता भी उन्हीं के साथ जुडी हुई रहती है। भावेन्द्रियों के बिना द्रव्येन्द्रियों की पहचान नहीं हो पाती। नैयायिक दर्शन में पृथ्वी आदि से चक्षु आदि इन्द्रियों की उत्पत्ति मानी जाती है। इसलिए वहां इन्द्रियों को पौद्गलिक नहीं माना जाता। वहां पृथ्वी, जल, तेज और वायु से क्रमशः घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय और स्पर्शन इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। अनुमान से भी उनका समर्थन किया जाता है। जैन दर्शन इसे सही नहीं मानता। उसकी दृष्टि में पृथ्वी आदि द्रव्यान्तर नहीं हैं। अतः प्रत्येक इन्द्रिय पृथ्वी आदि से उत्पन्न नहीं हुई है। इसीतरह न घ्राण को पार्थिव कहा जा सकता है और रसना को। घ्राण को पार्थिव इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसके साधक हेतु में सूर्य की किरणों से तथा जलसिंचन से व्यभिचार आता है। उनमें गन्ध की अभिव्यक्ति होती है। रसना को भी जलीय कहना सही नहीं है क्योंकि उसमें लवण (नमक) से व्यभिचार होता है। व्यंजनों में डालने पर उनके रूपादि का व्यंजक न होकर रस का ही व्यंजक होता है। चक्षु को तेजस कहना भी सही नहीं है क्योंकि उसके साधक हेतु में माणिक्य वगैरह के उद्योत से व्यभिचार आता है। माणिक्य आदि रत्नों का उद्योत रूपादि में से रूप का ही प्रकाशन करता है, किन्तु वह तैजस नहीं है। इसी तरह अन्य इन्द्रियों के विषय में भी सोचा जा सकता है।

सांख्य प्रकृति नामक तत्त्व से महत् तत्त्व की अभिव्यक्ति मानता है और फिर महत् तत्त्व से अहंकार आदि की अभिव्यक्ति मानता है। पर यह सही नहीं है। इन्द्रियां अहंकारिक नहीं है क्योंकि वे अचेतन होने के साथ ही करण भी हैं, इन्द्रियां भी हैं जैसे पंच कर्मेन्द्रियां। इसमें मन से व्यभिचार नहीं आता,

क्योंकि द्रव्य मन को आहंकारिक नहीं माना है और भाव मन से भी व्यभिचार नहीं आता। वे तो चेतन हैं। दूसरी बात, इन्द्रियां आहंकारिक नहीं हैं। क्योंकि वे प्रतिनियत ज्ञान के व्यपदेश में निमित्त हैं जैसे रूपादि उनके प्रकाशक हैं जैसे दीपक। पुद्गलों के द्वारा उनका अनुग्रह और उपघात भी देखा जाता है। जैसे दर्पण भस्म से स्वच्छ हो जाते हैं और पत्थर से टूट जाते हैं। अतः पौद्गालिक हैं। इस प्रकार इन्द्रिय और मन को ज्ञान की उत्पत्ति में कारण माना जाता है।

अर्थ और प्रकाश के ज्ञान कारणत्व की समीक्षा

इन्द्रिय और मन को ज्ञान की उत्पत्ति में कारण माना जाता है परन्तु अर्थ और प्रकाश को भी कुछ दार्शनिक ज्ञान का कारण मानते हैं। परन्तु जैन दर्शन इसे स्वीकार नहीं करता। इसकी समीक्षा करते हुए आचार्य माणिक्यनन्दि ने लिखा है –

नार्थालोकौ कारण परिच्छेद्यत्वात् तमोवत्।।६।।

तदन्वयव्यतिरेकानुविधानामावाच्च केशोण्डकज्ञानवत् नक्तंचर ज्ञानवच्च।।७।।

(परीक्षा मुख. परि.२.) अर्थात् अर्थ और प्रकाश ज्ञान में कारण नहीं है। क्योंकि वे ज्ञेय हैं। जैसे अन्धकार। अन्धकार ज्ञान का प्रतिबन्धक होने से ज्ञान का कारण नहीं है, फिर भी वह ज्ञान का विषय है।

यदि अर्थ और प्रकाश को ज्ञान का कारण माना जायेगा तो ये चक्षु आदि की तरह ज्ञान के विषय (ज्ञेय) नहीं हो सकते। तथा ज्ञान अर्थ का कार्य है यह भी नहीं माना जा सकता। उसकी प्रतीति न प्रत्यक्ष से होती है और न प्रमाणान्तर से। प्रमाणान्तर चूंकि एक ही अर्थ या ज्ञान को विषय करता है। अतः वह नहीं जान सकता कि अर्थ और ज्ञान में कार्यकारणभाव है। जैसे कुम्भकार और घट में से किसी एक को ग्रहण करने वाला ज्ञान कुम्भकार और घट में कार्यकारणभाव को नहीं जानता। ज्ञान और अर्थ को जानने वाले ज्ञान से भी "ज्ञान अर्थ का कार्य है" ऐसी प्रतीति नहीं हो सकती। क्योंकि नैयायिकों ने उस प्रकार का ज्ञान नहीं माना। ज्ञान को जानने वाला अर्थ को भी जानता है अथवा अर्थ को जानने वाला ज्ञान को भी जानता है, ऐसी आपकी मान्यता नहीं है। यदि इस प्रकार का ज्ञान आप मानते हैं तो आपको एक पांचवां प्रमाण मानना पडेगा।

ज्ञान प्रकाश का भी कार्य नहीं है क्योंकि जिनकी आंखें अंजन वगैरह से संस्कृत होती हैं उन्हें, तथा बिल्ली वगैरह को प्रकाश के अभाव में भी ज्ञान की उत्पत्ति देखी जाती है। अन्धकार की प्रतीति भी हो और ज्ञान न हो यह तो स्ववचनविरोध है क्योंकि प्रतीति का ही नाम ज्ञान है। अन्धकार नामक पदार्थ के अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह नहीं लगाया जा सकता अन्यथा प्रकाश का भी अभाव हो जायेगा। प्रकाश के अभाव में भी विलाव वगैरह को रूप का और हम लोगों को रसादि का स्पष्ट ज्ञान होता है। तथा प्रकाश को विषय करने वाले ज्ञान में जो स्पष्टता पायी जाती है वह स्पष्टता प्रकृत ज्ञान के विषयभूत प्रकाश से ही स्पष्टता आती है जो अपने विषय से ही होती है। ऐसी स्थिति में घटादि ज्ञान में स्पष्टता घटादि से ही होती है। अन्धकार को दूर करने में दीपक सहायक होता है अवश्य परन्तु इससे प्रकाश को ज्ञान का कारण नहीं माना जा सकता अन्यथा परदा हटाने वाले हस्तादि को भी ज्ञान का कारण मानना होगा। अतः अर्थ और आकाश ज्ञान के कारण नहीं हैं।

मतिज्ञान अथवा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष

जैन परम्परा में पर की सहायता के बिना केवल आत्मा के द्वारा जो पदार्थों का ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष है और इन्द्रियादि पर द्रव्यों की सहायता से जो पदार्थों का ज्ञान होता है वह परोक्ष है। इन्द्रियादि द्रव्येन्द्रियां जड स्वरूप हैं जबकि आत्मा चैतन्य स्वरूप है। इसलिए पर रूप इन्द्रियादि द्रव्यों द्वारा जाना हुआ पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। वह तो परोक्ष ही है। इस तथ्य को आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में स्पष्ट किया है (गाथा ५६–५८)।

आचार्य पूज्यपाद ने बाद में इसे और भी स्पष्ट किया। उन्होंने कहा कि 'पर' अर्थात् इन्द्रियां, मन, प्रकाश, उपदेश आदि बाह्य निमित्तों की अपेक्षा से उत्पन्न होने वाले मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं। (सर्वार्थ सिद्धि, प्रथम अध्याय)। सूत्रकार ने इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को मतिज्ञान कहा है और श्रुतज्ञान को मतिपूर्वक कहा है। अकलंक ने इसे दूसरे शब्दों में कहा कि स्पष्ट ज्ञान प्रत्यक्ष है और अस्पष्ट ज्ञान परोक्ष है। चूंकि चक्षु आदि इन्द्रियों के निमित्त से उत्पन्न होने वाला ज्ञान एकदेश से स्पष्ट होता है इसलिए वह सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष है (लघीयस्त्रय, कारिका, ३)। इसके बाद आचार्य विद्यानन्द

ने तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में इसे और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि अकलंकदेव ने अक्ष अर्थात् आत्मा से होने वाले अतीन्द्रिय ज्ञान को ही मुख्य प्रत्यक्ष कहा है। इस दृष्टि से इन्द्रिय और मन से होने वाला मतिज्ञान परापेक्ष होने से परोक्ष है। किन्तु उसमें कुछ स्पष्टता दिखाई देती है और लोकव्यवहार में उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है, इसलिए उसे सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष कहा है (पृ.१८२, कारिका, १८१–१८३)।

अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह

पूर्वोक्त अवग्रह ज्ञान दो प्रकार का होता है व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह। व्यञ्जन अर्थात् अव्यक्त अथवा अस्पष्ट शब्दादि पदार्थों का ज्ञान व्यञ्जनावग्रह कहलाता है। इसमें चक्षु और मन को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों द्वारा ही ज्ञान होता है। व्यक्त अथवा स्पष्ट शब्दादि विषय को ग्रहण करने वाला ज्ञान ''अर्थावग्रह'' कहलाता है। यह पाँचों इन्द्रियों और मन से उत्पन्न होता है। जैसे नयी मिट्टी का सकोरा पानी की दो–तीन बिन्दु डालने तक गीला नहीं होता पर लगातार जल बिन्दुओं के डालते रहने पर धीरे–धीरे वह गीला हो जाता है। उसी तरह व्यक्त (स्पष्ट) ग्रहण के पहले का अव्यक्त ज्ञान व्यञ्जनावग्रह है और व्यक्त–ग्रहण अर्थावग्रह है (सर्वार्थसिद्धि, ११८ की व्याख्या)। धवला आदि दिगम्बर ग्रन्थों में उनका स्वरूप कुछ भिन्न प्रकार से दिया गया है। श्वेताम्बर परम्परा में भी कुछ अन्तर है। अवग्रह निर्णयात्मक है या अवाय, इस सन्दर्भ में दिगम्बर–श्वेताम्बर आचार्यों में मतभेद है। इसी प्रकार दर्शन और अवग्रह भी विवाद–ग्रस्त विषय है (देखिये–जैनन्याय, पृ. १३३–१५२)।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि स्पष्ट ग्रहण से पहले व्यंजनावग्रह होता है और बाद में अर्थावग्रह होता है। परन्तु इसे हम नियम नहीं कह सकते कि जैसे अवग्रह ज्ञान दर्शन पूर्वक ही होता है वैसे ही अर्थावग्रह भी व्यंजनावग्रह पूर्वक ही हो। क्योंकि अर्थावग्रह तो पांचों इन्द्रियों और मन से होता है परन्तु व्यंजनावग्रह चक्षु और मन को छोडकर शेष चार इन्द्रियों से होता है। अर्थात् जो इन्द्रियां अपने विषय को उससे भिडकर जानती है उन्हीं से व्यंजनावग्रह होता है। ऐसी इन्द्रियां केवल चार हैं – स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र। ये चारों इन्द्रियां

अपने विषय से संबद्ध होने पर ही स्पर्श, रस, गन्ध और शब्द को जानती हैं।

परन्तु चक्षु और मन अपने विषय से दूर रहकर ही उसे जानते हैं। यही कारण है कि जो वस्तु आंख के अत्यन्त समीप रहती है उसे वह नहीं जानती, जैसे आंख में लगा हुआ अंजन। इसीलिए जैन दर्शन में चक्षु को अप्राप्यकारी माना है।

अवग्रह के विषय में षट्खण्डागम के वर्गणा खण्ड की धवला टीका में कुछ विशेष कहा गया है। तदनुसार प्राप्त अर्थ के प्रथम ग्रहण को व्यंजनावग्रह और अप्राप्त अर्थ के ग्रहण को अर्थावग्रह माना है। जो पदार्थ इन्द्रिय से सम्बद्ध होकर जाना जाता है वह प्राप्त अर्थ है और जो पदार्थ असम्बद्ध होकर जाना जाता है वह अप्राप्त अर्थ है। चक्षु अप्राप्त अर्थ को ही जानते हैं। शेष चारों इन्द्रियां प्राप्त और अप्राप्त दोनों प्रकार के पदार्थों को जान सकती हैं (सर्वार्थ सिद्धि १.१८)। तत्त्वार्थवार्तिक में स्पष्ट ग्रहण को अर्थावग्रह और अस्पष्ट ग्रहण को व्यंजनावग्रह कहा है। परन्तु धवला में वीरसेन स्वामी ने इसे अस्वीकार करते हुए कहा कि ऐसा मानने से चक्षु से भी व्यंजनावग्रह होने का प्रसंग उपस्थित होगा क्योंकि चक्षु से भी अस्पष्ट ग्रहण देखा जाता है परन्तु आगम में चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह नहीं माना गया है। धवला में ही (पु.९, पृ.१४४-१४५) शंका उठाकर इसे और स्पष्ट किया गया है। उन्होंने कहा कि अवग्रह निर्णय रूप या अनिर्णय रूप है। यदि निर्णय रूप है तो उसका अन्तर्भाव अवाय में होना चाहिए और यदि अनिर्णय रूप है तो वह प्रमाण नहीं हो सकता। इस शंका का समाधान करते हुए वीरसेन स्वामी ने अवग्रह के दो प्रकार कर दिये – विशदावग्रह और अविशदावग्रह। उनमें से विशदावग्रह निर्णय रूप है। ईहा, अवाय और धारणा ज्ञान की उत्पत्ति में कारण है किन्तु निर्णय रूप होते हुए भी उसका अन्तर्भाव अभाव में नहीं हो सकता क्योंकि ईहा ज्ञान के बाद जो निर्णयात्मक ज्ञान होता है उसे अवाय कहते हैं और भाषा, आयु, रूप आदि विशेषों को ग्रहण न करके व्यक्ति मान या प्रमाण को ग्रहण करने वाले ज्ञान को अविशदावग्रह कहते हैं। यह दिगम्बर आचार्यों की मान्यता है।

श्वेताम्बर आचार्य जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण ने अपने विशेषावश्यक भाष्य (गाथा, २३७-२५२) तथा आचार्य मलयगिरि कृत उसके व्याख्यान के आधार पर पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा प्रस्तुत विवेचन का सारांश इस प्रकार दिया जा सकता है –

१. ज्ञान का कारण होने से व्यंजनावग्रह को भी ज्ञान रूप मान लिया जाता है क्योंकि यदि व्यंजनवग्रह के काल में कुछ भी ज्ञानांश न हो तो यह अर्थावग्रह रूप परिणमन नहीं कर सकता।

२. अर्थावग्रह का काल एक समय है। वह सामान्य–विशेषात्मक वस्तु में से केवल सामान्य रूप वस्तु को ग्रहण करता है। वह सामान्य रूप वस्तु अनिर्देश्य होती है। अर्थावग्रह के विषय का उदाहरण "शब्द" दिया है जो निश्चयात्मक है। परन्तु अर्थावग्रह में इतर व्यावृत्ति संभव नहीं है।

३. बहुविध आदि रूप से अवग्रह के बारह भेद उपचार से ही संभव हैं अपने उत्तर अवाय ज्ञान की अपेक्षा। दिगम्बर–श्वेताम्बर परम्परागत इन विचारों की तुलना करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि –

१. दिगम्बर परम्परा में मान्य अवग्रह का स्वरूप पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि पर आधारित है जिसके अनुसार दर्शन के जो अर्थ का ग्रहण होता है वह अवग्रह कहलाता है (सर्वार्थ सिद्धि, १.१५)। आचार्य अकलंक ने इसी लक्षण को स्वीकार कर उसे निर्णयात्मक माना है। जबकि आगम के अनुयायी श्वेताम्बराचार्य अवाय को ही निर्णयात्मक मानते हैं। परन्तु दार्शनिक श्वेताम्बराचार्यों ने अकलंक का ही अनुसरण किया है। उदाहरणार्थ अभयदेवसूरि ने सन्मतितर्क की टीका में (पृ.५५३), आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी प्रमाणमीमांसा में (१.१.२६), और देवसूरि ने अपने प्रमाणनयतत्त्वालोक में (२.७) अंकलंक के द्वारा दिये गये लक्षण को ही अपनाया है। किन्तु दार्शनिक श्वेताम्बराचार्य यशोविजय ने दार्शनिक परम्परा का अनुसरण न करके आगमिक परम्परा का अनुसरण अपनी जैनतर्कभाषा और ज्ञानबिन्दु में अवग्रह का निरूपण करते समय किया है।

दर्शन और अवग्रह

अवग्रह के पहले होने वाले दर्शन के स्वरूप पर भी दिगम्बर–श्वेताम्बर परम्पराओं में मतभेद है। दोनों परम्पराएं दर्शन को अनाकार तथा सामान्य ग्राही मानती हैं और ज्ञान को साकार और विशेषग्राही। पहले दर्शन होता है फिर ज्ञान

होता है। दिगम्बर परम्परानुयायी केवलज्ञानी के दर्शन और ज्ञान को युगपत् मानते हैं। आचार्य पूज्यपाद ने कहा कि विषय और विषयी के सन्निपात होने पर दर्शन होता है। (सर्वार्थ–सिद्धि, १.११५)। इसे और स्पष्ट करते हुए अकलंकदेव ने कहा कि इन्द्रिय और अर्थ का योग होने पर सत्ता सामान्य का दर्शन होता है और बाद में वह अर्थ के आकार का निर्णायक बन जाता है। यही अवग्रह है (लघीयस्त्रय का. १.५) आचार्य अकलंक ने इसे और स्पष्ट करते हुए तत्त्वार्थवार्तिक में दर्शन और अवग्रह के बीच इस प्रकार भेद स्थापित किया (तत्त्वार्थवार्तिक, पृ. ४३–४४)।

१. चक्षु के द्वारा "कुछ है" इस प्रकार के निराकार अवलोकन को दर्शन कहते हैं जिसमें वस्तु के विशेष धर्मों का भान नहीं होता। उसके बाद दो–तीन समय तक आंखें टिमटिमाने पर "यह रूप है" इस प्रकार की विशेषता को लिये हुए अवग्रह होता है। यह ज्ञान न मिथ्याज्ञान है और न सम्यग्ज्ञान ही है क्योंकि उसमें वस्तु के आकार का बोध नहीं है। अतः यह मानना सही है कि अवग्रह से पहले दर्शन होता है।

२. जैनेतर दार्शनिकों की यह अवधारणा है कि सर्व प्रथम इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष होता है फिर निर्विकल्पक ज्ञान होता है।

३. आचार्य जिनभद्र ने आलोचना ज्ञान को व्यंजनावग्रह माना है जो इन्द्रिय और अर्थ के सम्बद्ध होने पर होता है। यह ज्ञान एक प्रकार से अर्थावग्रह है। कुमारिल का आलोचन ज्ञान अकलंक देव का दर्शन है। बौद्धों का निर्विकल्पक ज्ञान भी दर्शन ही है।

४. जैन दर्शन सविकल्पक ज्ञान से पहले किसी निर्विकल्पक ज्ञान के अस्तित्व को नहीं मानता जबकि जैनेतर दर्शन मानते हैं। अतः अकलंकदेव ने उसकी तुलना दर्शन से की है। जैन दर्शन में ज्ञान को दर्शन पूर्वक माना है।

५. निर्विकल्पक दर्शन को अप्रमाणित सिद्ध करने के लिए जैन दर्शन में सामान्य ग्रहण को दर्शन कहा है। यह दर्शन बाह्य अर्थ विशेष के व्यवहार के लिए उपयोगी नहीं है। उसके लिए तो प्रमाण ज्ञान ही उपयोगी है क्योंकि वह सविकल्पक होता है। परन्तु असदार्थ में स्वरूप ग्रहण को ही दर्शन कहा जाता है। इसीसे केवली के दर्शन और ज्ञान युगपत् होते हैं।

६. ज्ञान गुण परद्रव्य को जानता है और दर्शन गुण आत्मा को जानता है। जब वह चैतन्य आत्मा को ग्रहण करता है तब उसे दर्शन कहा जाता है और जब वह परद्रव्य को ग्रहण करता है तो उसे ही ज्ञान कहते हैं।

७. सामान्य का अर्थ आत्मा है।

८. बाह्य विषय में जो सामान्य सत्ता का अवलोकन होता है वह दर्शन है और जो 'यह शुक्ल है' इत्यादि विशेष का बोध होता है उसे ज्ञान कहा जाता है।

९. आचार्य विद्यानन्द ने श्लोकवार्तिक में आत्ममात्र ग्रहण रूप दर्शन का खण्डन किया है।

१०. यदि दर्शन का विषय अन्तरंग पदार्थ है और वह उत्तर ज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त है तो बाह्य विषय के साथ इन्द्रिय से पहले ही दर्शन होना चाहिए, जैसा जयधवला टीका में लिखा है। परन्तु यदि दर्शन का विषय सत्ता सामान्य है तो वह विषय और विषयी के सम्पात के समय होना चाहिए, जैसा सर्वार्थ सिद्धि और तत्त्वार्थ वार्तिक में लिखा है।

११. यदि बाह्य विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होने से पहले दर्शन होता है तो बाह्य विषय के साथ इन्द्रिय के सम्बन्ध को व्यंजनावग्रह और फिर उसके बाद हाने वाले अर्थग्रहण को अर्थावग्रह माना जा सकता है जैसा कि श्वेताम्बर आगमों की मान्यता है। परन्तु दिगम्बर आगमों में जो दर्शन की परिभाषा पाई जाती है वह श्वेताम्बर आगमों में नहीं दिखाई देती है।

१२. चक्षु अस्पष्टग्राही है अतः उससे होने वाला ज्ञान ही चक्षुदर्शन कहा जाता है तथा अचक्षु दर्शन केवल मानस दर्शन है। क्योंकि चक्षु की तरह मन भी अप्राप्यकारी है। इन दोनों से व्यंजनावग्रह नहीं होता। अतः आचार्य सिद्धसेन के मत से व्यंजनावग्रह के अविषयभूत अर्थ का ग्रहण ही दर्शन है (सन्मति तर्क, ११२–१२५)।

१३. सिद्धसेन के टीकाकार अभयदेव ने कहा कि आचार्य सिद्धसेन दर्शन और ज्ञान में भेद नहीं मानते। उनकी दृष्टि में चक्षु अप्राप्यकारी है। इसीसे उससे व्यंजनावग्रह नहीं माना, केवल अर्थावग्रह माना है। अकलंकदेव ने अवग्रह से दर्शन को पृथक् माना। सिद्धसेन के पूर्व अवग्रह को ही दर्शन माना जाता था। परन्तु सिद्धसेन और अकलंक को यह मत मान्य नहीं हुआ। इसलिए दोनों आचार्यों ने उसकी आलोचना की है।

अवग्रह से ग्रहीत अर्थ में विशेष जानने की आकांक्षा रूप ज्ञान को ईहा कहते हैं। जैस चक्षु से ग्रहण किया गया शुक्ल रूप वस्तु पताका है या वगुलों की पंक्ति है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार "यह शब्द होना चाहिए" इस प्रकार की जिज्ञासा का नाम ईहा है। यह ईहा ज्ञान संशय रूप नहीं है। उसका ज्ञान निश्चयात्मकता लिये हुए रहता है। अतः ईहा ज्ञान में यह निश्चित हो जाता है कि यह वगुलों की पंक्ति होना चाहिए।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा में चारों ज्ञान मन तथा पांचों इन्द्रियों के निमित्त से होते हैं। विषय की अपेक्षा प्रत्येक ज्ञान के १२–१२ भेद होने से उसके समस्त भेद २८X१२=३३६ हो जाते हैं।

मतिज्ञान को अभिनिबोधिक ज्ञान भी कहा जाता है। स्थानांग में इसके दो भेद किये गये हैं – श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित। अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा को श्रुतनिश्रित और औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिकी बुद्धि को अश्रुतनिश्रित कहा गया है। दिगम्बर साहित्य में अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान का उल्लेख नहीं मिलता पर षट्खण्डागम, तत्त्वार्थ वार्तिक आदि ग्रन्थों में उल्लिखित प्रज्ञाश्रमण ऋद्धि से उसका समीकरण किया जा सकता है। औत्पत्तिकी आदि चारों बुद्धियां प्रज्ञाश्रमण के अन्तर्गत आती हैं। अकलंक ने इसी ऋद्धि के प्रताप से द्वादशांग और चतुर्दश पूर्वों के अध्ययन किये बिना ही श्रुतकेवली की भी शंकाओं को समाधान करने की शक्ति का होना बताया है।

मतिज्ञान के मुख्यतः दो साधन हैं – इन्द्रियां और मन। इन्द्रियां मूर्त विषय को ही ग्रहण करती हैं जबकि मन मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के विषयों को अपनी सीमा में लेता है। अतः वह अतीन्द्रियज्ञ है। उमास्वामी (सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम सूत्र १.२६) के अनुसार मतिज्ञान में सब पर्यायों को जानने की क्षमता नहीं है। अकलंक ने अपने वार्तिक में "उपदेश" शब्द का प्रयोग कर यह व्यक्त किया है कि मतिज्ञान द्रव्यतः उपदेश से सर्व द्रव्यों की असर्वपर्यायों को जानता है। यह शब्द श्रुत सापेक्षता का वाचक है। पूज्यपाद ने भी मतिज्ञान की अतीन्द्रियज्ञता को स्वीकार किया है (सर्वार्थसिद्धि, १.२६)।

मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ में मन की सहायता से होनेवाले विशेष ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। वह अक्षरात्मक होता है और अनक्षरात्मक होता है। इन भेदों का उल्लेख सर्वप्रथम अकलंकदेव ने अपने तत्त्वार्थवार्तिक (सूत्र १.२० पृ.५४) में किया। अनुमान, उपमान, शब्द, एतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभावनामक प्रमाणों का अन्तर्भाव श्रुतज्ञान में किया है। उन्होंने उसे शब्द प्रमाण के अन्तर्गत माना है। अकलंक के पूर्व आचार्य पूज्यपाद ने प्रमाण के दो भेद किये हैं – स्वार्थ और परार्थ। श्रुतज्ञान के सिवाय शेष ज्ञानों को उन्होंने केवल स्वार्थप्रमाण बताया और श्रुतज्ञान को स्वार्थ और परार्थ दोनों माना। ज्ञानात्मक श्रुत स्वार्थ है और वचनात्मक श्रुत पदार्थ है। ये ज्ञान अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक दोनों प्रकार के होते हैं। श्रोत्रेन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है उसे अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं। और "यह वायु मुझे अनुकूल नही है" यह अनुभव होना अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। इन भेदों का उल्लेख अकलंकदेव ने अपने तत्त्वार्थवार्तिक में किया है (सू–१.२०)। वहीं उन्होंने अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव नामक प्रमाणों का अन्तर्भाव भी इसी श्रुतज्ञान में कर दिया है।

बौद्धदर्शन में मतिज्ञान का विषय चित्तवीथि के अन्तर्गत रखा है। न्याय–वैशेषिक में सन्निकर्ष और सांख्य–योग में प्रत्यक्ष के लिए ज्ञानेन्द्रिय तथा अन्तःकरण की वृत्ति को अनिवार्य माना है। वेदान्तदर्शन भी लगभग इसी को स्वीकार करता है। मनोविज्ञान इसी को संवेदना कहता है।

बहु, बहुविध आदि के प्रकार से मतिज्ञान के बारह अथवा अट्ठाईस भेद होते हैं और विस्तार से इन्हीं भेदों की संख्या ३३६ हो जाती है। श्रुतज्ञान के अनन्त भेद होते हैं। पर संक्षेप में उसके दो भेद हैं – अंगप्रविष्ट ओर अंगबाह्य। उनका वर्णन हम साहित्य के प्रसंग में कर चुके हैं (नन्दिसूत्र (२६.गा.६८) में मतिज्ञान के दो भेद दिये गये हैं – श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित। अश्रुतनिश्रित के चार भेद हुए – औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिकी) परन्तु अकलंकदेव ने एकदेश स्पष्ट इन्द्रियजन्य ज्ञान को सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष कहा और स्मृति आदि को परोक्ष माना क्योंकि उनमें थोडी सी भी स्पष्टता नहीं होती इसलिए कि ज्ञानों का विषय इन्द्रियों के सामने नहीं होता। अतः ये अनिश्रितग्राही

है। परन्तु तत्त्वार्थसूत्र में अवग्रह आदि ज्ञानों को भी अनिश्रितग्रह बतलाया है और ये ज्ञान सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष रूप मतिज्ञान के भेद हैं। अनिश्रित अर्थ को विषय करने वाले अनुमान, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क ये चारों मतिज्ञान परोक्ष हैं। और इन्द्रियों तथा मन द्वारा होने वाला मतिज्ञान सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष है।

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान

अवधिज्ञान निमित्त के भेद से दो प्रकार का है – भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। जो क्षयोपशम भव के निमित्त से होता है उससे होने वाले अवधिज्ञान को ''भवप्रत्यय'' कहते हैं। जैसे पक्षीगण आकाश में उडते हैं। यह गुण उनमें पक्षी कुल में जन्म लेने के निमित्त से ही आया है। देव–नारकियों में जो अवधिज्ञान होता है वह इसी प्रकार का है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान की उत्पत्ति क्षयोपशम निमित्तक होती है। सम्यग्दर्शन आदि गुणों के उत्पन्न होने से यह क्षयोपशम होता है। यह अवधिज्ञान तिर्यञ्च और मनुष्यों को होता है। स्वरूप की अपेक्षा अवधिज्ञान के छः भेद होते हैं –अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित (नन्दी सूत्र,८)। विषय की अपेक्षा उसके तीन भेद हैं – देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देशावधि है और गुणप्रत्यय तीनों प्रकार का है। अवधिज्ञानी व्यक्ति इन्द्रिय आदि की सहायता के बिना रूपी पदार्थों को उनकी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादापूर्वक जानता है। अवधिज्ञान के और भी अनेक भेद किये गये हैं।

उत्कृष्ट देशावधि के पश्चात् परमावधिज्ञान प्रारम्भ होता है। अवधिज्ञान को सर्वोत्कृष्ट भेद सर्वावधि कहलाता है। यह सर्वावधि परमाणु तक को जानता है। उत्कृष्ट देशावधि संयमी मनुष्य के ही होता है और परमावधि तथा सर्वावधि उसी मुनि के होता है जो तद्भवमोक्षगामी होता है।

मन पर्ययज्ञान दो प्रकार का – ऋजुमति और विपुलमति। ऋजुमति में साधक स्पष्ट रूप से मनोगत अर्थ का विचार करता है, कथन करता है और शारीरिक क्रिया भी करता है पर वह कालान्तर में विस्मृत हो जाता है। इस ज्ञान में इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रहती है। ''विपुलमति'' ऋजु के साथ ही साथ कुटिल मन, वचन, काय सम्बन्धी प्रवृत्तियों को भी जानता है। वह अपने या पर

के व्यक्त मन से या अव्यक्त मन से चिन्तित, अचिन्तित या अर्धचिन्तित, सभी प्रकार से चिन्ता, जीवित, मरण, सुख, दुःख, लाभ, अलाभ आदि को जानता है। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति में ज्ञानावरण के क्षयोपशम से होने वाली निर्मलता अधिक होती है और वह ज्ञान सूक्ष्म तथा अप्रतिपाती भी होता है। इस प्रकार मनःपर्यय ज्ञान दूसरे के मनोगत अर्थ को (सर्वार्थसिद्धि, १.१०) अथवा मन की पर्याय को (जयधवला, भाग १, पृ.१९) आत्मा की सहायता से प्रत्यक्ष जानता है। श्वेताम्बर परम्परानुसार मनःपर्यय ज्ञान मन की पर्यायों को जानता है और उन पर्यायों के आधार पर अनुमान से उस बाह्य पदार्थ को जानता है जिसका विचार करने से मन की ये पर्यायें हुई ?

परन्तु जैन दर्शन उसे अविसंवादक होने के कारण प्रमाण मानती है। उसका तर्क है कि प्रत्यक्ष और अनुमान भी ग्रहीतग्राही होने के कारण फिर प्रमाण रूप में नहीं माने जा सकेंगे। सभी व्यवहारों का भी अपलाप करना पडेगा। अतः स्मृति को प्रमाण माना जाना चाहिए।

यह वही है, उसके सदृश है या असदृश है, विलक्षण है, प्रतियोगी है आदि रूप से प्रत्यभिज्ञान होता है। मीमांसक और नैयायिक प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत रखते हैं। पर यह ठीक नहीं है। प्रत्यक्ष स्मृतिनिरपेक्ष होता है। प्रत्यभिज्ञान में पूर्व पर्याय के स्मरण का और उत्तरपर्याय के दर्शन का व्यवधान पाया जाता है। अतः अविशद होने के कारण उसे परोक्ष प्रमाण माना जाना चाहिए। बौद्ध इस तर्क को नहीं मानते। उनका कहना है कि प्रत्यभिज्ञान ग्रहीतग्राही है, और वह प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों को लेकर चलता है। परन्तु उनका कहना भी संयुक्तिक नहीं है क्योंकि वह स्मरण और प्रत्यक्ष, दोनों से भिन्न है। अतः वह परोक्ष प्रमाण का ही एक अंग है।

जैन दर्शन विशद ज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं। उसके दो भेद हैं – विकल और सकल। अवधिज्ञान और मनः पर्यय ज्ञान विकल प्रत्यक्ष है। अतः ये क्षायोपशमिक ज्ञान हैं।

बौद्ध तर्क को ग्रहीतग्राही होने के कारण प्रमाण नहीं मानते। वे तर्क के स्थान पर ''ऊह'' शब्द का प्रयोग करते हैं। वह प्रत्यक्ष के पीछे चलता है अतः

प्रमाण नहीं है। मीमांसक और नैयायिक भी इसी विचारधारा के अनुगामी है। पर

जैनदर्शन इसे नहीं मानता। क्योंकि वह तो व्याप्तिज्ञान पर आधारित है जो अनुमान का साधक है। अतः उसे पृथक् प्रमाण माना जाना चाहिए।

बौद्ध त्रैरूप्य को हेतु का लक्षण मानते हैं– पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्षासत्व। त्रैरूप्य होने के काण हेत्वाभास भी तीन होते हैं – असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक। जैन दर्शन इसे सही मानता है क्योंकि त्रैरूप्य में असाधारणता नहीं है। वह हेतु और हेत्वाभास दोनों में पाया जाता है। नैयायिकों का पाञ्चरूप्यातन हेतु का लक्षण भी सही नहीं है। यथार्थ बात तो यह है कि अविनाभाव ही हेतु का एक मात्र निर्दोष लक्षण है, त्रैरूप्य और पांचरूप्य नहीं। सहभावनियम और क्रमभावनिमम को अविनाभाव कहा जाता है।

यहां कर्म दो प्रकार के माने गये हैं – काम्य (करणीय) और अकाम्य) अकरणीय। काम्य करने से स्वर्ग मिलता है। दोनों प्रकार के कर्म न करने से प्रत्यवाय (दोष) उत्पन्न होता है। उसे दूर करने के लिए अनुष्ठान का विधान है। इसी से पापक्षय होकर कैवल्य (मोक्ष) प्राप्त होता है।

यथार्थ में ब्रह्म की ही वास्तविक सत्ता है और संसार के सभी पदार्थ क्षणिक हैं। ब्रह्मज्ञान होते ही जीव अपनी पृथक् सत्ता खोकर ब्रह्म में लीन हो जाता है।

१. प्रत्यक्ष प्रमाण

व्यावहारिक दृष्टि से विचार करने पर अकलंक ने प्रमाण के भेद तो यही माने पर प्रत्यक्ष को दो भागों में कर दिया – सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष और परमार्थिक प्रत्यक्ष। मतिज्ञान को सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष कहकर उन्होंने जैन दर्शन को लोकव्यावहारिक दोष से बचा लिया और परम्परा का भी संरक्षण कर लिया। यहीं उन्होंने सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष में मतिज्ञान को इन्द्रिय प्रत्यक्ष के अन्तर्गत रखा और स्मृति आदि को अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के अन्तर्गत। पर उन्होंने इसमें एक शर्त लगा दी कि यदि इन स्मृति आदि ज्ञानों का शब्द के साथ संसर्ग हुआ तो उनका अन्तर्भाव परोक्ष प्रमाण में होगा।

अकलंक के उत्तरवर्ती आचार्यों और टीकाकारों ने उनके प्रमाणभेद की बात तो मानी पर स्मृति आदि ज्ञानों के साथ लगी शर्त को स्वीकार नहीं

किया। उनके स्थान पर उन्होंने कहा कि अवग्रह से धारणा पर्यन्त ज्ञान वस्तु के एकदेश को स्पष्ट करते हैं अतः इन्द्रिय–अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष माना जाना चाहिए तथा स्मृति आदि ज्ञानों को सीधे शब्दों में प्रमाण के अन्तर्गत रखा जाना चाहिए।

इस तरह प्रमाण के दो भेद ही रहे – प्रत्यक्ष और परोक्ष। सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष में मतिज्ञान और उसके अवग्रह, ईहादिक भेद तथा श्रुतज्ञान और पारमार्थिक प्रत्यक्ष में अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान समाहित किये गये। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम को परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत स्वीकार किया गया। सांख्य–योगादि दर्शनों ने जिसे अलौकिक प्रत्यक्ष कहा, जैन दर्शन ने उसी को पारमार्थिक प्रत्यक्ष की संज्ञा दी और जिसे वहां लौकिक प्रत्यक्ष कहा गया उसे यहां सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष मान लिया गया। इसी तरह जैनदर्शन का अवधिदर्शन और केवलदर्शन अलौकिक और निर्विकल्पक है तथा अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान सविकल्पक है। यह निश्चयात्मक सविकल्पक ज्ञान ही प्रत्यक्ष है, निर्विकल्पक को प्रत्यक्ष नहीं माना गया।

प्रत्यक्षैक प्रमाणवादी चार्वाक् केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानते हैं क्योंकि अर्थ का निश्चायक वही है। अनुमानादि से अर्थ का निश्चय नहीं हो पाता। वे गौण हैं। पर यहां अनुमान को गौण कहना उचित नहीं है। अन्य प्राणियों में बुद्धि है, इसका ज्ञान बुद्धि के कार्य, व्यवहार आदि को देखकर किया जाता है। यह कार्य हेतु–जन्य अनुमान है। बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण मानते हैं। इसके बिना चार्वाक् का काम नहीं हो पाता। अनुमान भी अपने विषय में अविसंवादक होने के कारण प्रमाण है। प्रत्यक्ष का विषय मनुष्य, गौ आदि विशेष पदार्थ स्वलक्षण हैं और अनुमान का विषय मनुष्यत्व, गोत्व आदि सामान्य लक्षण है। स्वलक्षण अर्थ–क्रिया करने में समर्थ होता है, सामान्य लक्षण नहीं। इसलिए सामान्य लक्षण को संवृतिसत् (काल्पनिक) कहते हैं। दो प्रमेयों के होने के कारण प्रमाण भी दो हैं। जैन दर्शन की दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ सामान्य–विशेष रूप होता है। अतः प्रत्यक्ष और अनुमान का विषय पृथक्–पृथक् बतलाना सही नहीं है। प्रत्यक्ष और अनुमान में आगम आदि प्रमाणों का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। अतः प्रमाणद्वैविध्य का सिद्धान्त असंगत है।

सांख्य दर्शन में प्रत्यक्ष अनुमान और आगम (शब्द) ये तीन प्रमाण हैं। आगम को पृथक् प्रमाण यहां इसलिए माना गया कि शब्द के होने पर भी अर्थ उपलब्ध नहीं होता है और शब्द के अभाव में भी अर्थ पाया ही जाता है। न्याय–वैशेषिक इनमें उपमान प्रमाण और मिला देते हैं। परन्तु इस प्रमाणसंख्या में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, उपमान और अर्थापत्ति जैसे प्रमाणों का अन्तर्भाव कैसे होगा? उपमान का विषय सादृश्यविशिष्ट परोक्ष गौ है अथवा गौविशिष्ट सादृश्य है। इस प्रकार का ज्ञान अनधिगत अर्थ को जानने के कारण प्रमाण है। ''पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'' जैसी स्थिति में अर्थापत्ति प्रमाण का मानना आवश्यक है। भूतल में घटाभाव का ज्ञान अभाव प्रमाण से ही होता है। मीमांसक छह प्रमाण मानते हैं अर्थापत्ति और अभाव को मिलाकर। अभाव के चार भेद हैं – प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव। जैनदर्शन उपमान, अर्थापत्ति और अभाव को पृथक् प्रमाण नहीं मानता। वह मात्र प्रत्यक्ष और परोक्ष दो ही प्रमाण मानता है। परोक्ष में सभी अन्य अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इन दोनों का विषय सीमित होता है। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना जो रूपी पदार्थों का ज्ञान होता है वह अवधिज्ञान है। इसी तरह दूसरे की मन की अवस्थाओं का जो ज्ञान होता है मनःपर्ययज्ञान है। इन दोनों का विषय सीमित होता है इसलिए ये दोनों ज्ञान विकल प्रत्यक्ष कहलाते हैं। पर मुख्य प्रत्यक्ष इसलिए है कि उनका जितना भी रूपी विषय होता है वह पूर्णतः विशद होता है।

केवलज्ञान को सकलप्रत्यक्ष कहा जाता है। यह क्षायिक ज्ञान है, आत्मजन्य है। ज्ञानावरण कर्म के पूर्ण क्षय हो जाने पर उत्पन्न होता है। इसका विषय जीव, पुद्गल आदि सम्पूर्ण द्रव्य और उनकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायें हैं। इसकी उत्पत्ति में इन्द्रिय आदि अन्य किसी कारण की अपेक्षा नहीं होती है। ये कर्म पौद्गलिक हैं जैनदर्शन की दृष्टि से। न्याय–वैशेषिक उन्हें धर्माधर्म रूप आत्मगुण मानते हैं। पर इस स्थिति में वे आत्मा के परतन्त्र होने में निमित्त नहीं हो सकते हैं। हीन स्थान शरीर को धारण करने के कारण आत्मा परतन्त्र तो है ही। सन्तान की अपेक्षा से अनादि होने पर भी सम्यग्दर्शनादि का परम प्रकर्ष हो जाने पर ज्ञानावरणादि कर्मों का पूर्णरूप से क्षय हो जाता है और आत्मा स्वतन्त्र हो जाती है। आत्मा की परतन्त्रता समाप्त होने पर साधक सर्वज्ञ हो जाता है। मीमांसक की दृष्टि में कोई भी व्यक्ति प्रत्यक्षादि पांच प्रमाणों का विषय न होने के कारण

धर्मज्ञ नहीं हो सकता और न फिर सर्वज्ञ ही हो सकता है। पर यह मान्यता सही नहीं है। सर्वज्ञ प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है। सकल पदार्थों का साक्षात्कार करने वाला कोई न कोई आत्मा होता है। **"सूक्ष्मान्तरित दूरार्थः कस्यचित् प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात् पावकादिवत्"** वाली उक्ति हमारे समक्ष है ही। आत्मा का स्वभाव भी ज्ञेय को जानने का है। जब ज्ञानावरणादि कर्मावरणों का क्षय हो जाने पर सम्यग्दर्शनादि का परम प्रकर्ष हो जाता है तब ज्ञानादि गुणों का भी परम प्रकर्ष हो जाता है। फलतः वह आप्त और सर्वज्ञ होता है (आप्त मीमांसा, ५)।

सन्निकर्ष विचार

जैन दर्शन विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष मानता है और नैयायिक इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। पर नैयायिकों की यह मान्यता सही नहीं है। चाक्षुषज्ञान में यह लक्षण नहीं घटता। अवधिज्ञान, मनःपर्याय और केवलज्ञान ये तीनों ज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष हैं। इनमें उपर्युक्त लक्षण घटित नहीं होता। सुखादि के संवेदन में भी उक्त लक्षण सही नहीं उतरता। चक्षु को प्राप्तार्थ प्रकाशक नहीं माना जा सकता अन्यथा अंजन का प्रकाशक भी उसे होना चाहिए। वह न गोलक रूप है और न रश्मिरूप। वह तो अप्राप्तार्थ प्रकाशक है। इसी तरह बौद्ध और नैयायिकों का अर्थकारणतावाद और आलोककारणतावाद भी सही नहीं है जैन दृष्टि से। अर्थ और आलोक भी ज्ञान का कारण नहीं है क्योंकि हम इन्द्रिय–जन्य ज्ञान से अर्थ के विषय को जानते ही हैं। अर्थ तो ज्ञान का विषय होता है, कारण नहीं क्योंकि केशोण्डुक ज्ञान अर्थ के अभाव में भी हो जाता है। अन्धकार की तरह आलोक भी ज्ञान का कारण नहीं है क्योंकि ज्ञान से वह परिच्छिन्न है। मार्जार आदि को आलोक के अभाव में भी रात्रि में पदार्थों का ज्ञान हो जाता है (त.वा. १.१०, पृ ५१; न्याय कु. चन्द्र पृ.७५)।

जैनों के समान बोद्धों ने भी सन्निकर्ष के प्रामाण्य का खण्डन किया है क्योंकि दोनों परम्पराओं ने ज्ञान को ही प्रमाण माना है, अज्ञान रूप सन्निकर्ष को नहीं। आचार्य दिङ्नाग ने कहा है कि यदि प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय सन्निकर्षजन्य हो तब चक्षु से जो विप्रकृष्ट सान्तर वस्तु का ग्रहण होता है वह नहीं हो सकता। तथा श्रोत्र से दूर देश स्थित शब्द का ग्रहण होता है वह भी नहीं होगा। अतएव चक्षु

और श्रोत्रजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष होने पर भी सन्निकर्षजन्य नहीं होने से लक्षण में अव्याप्तिदोष है (प्रमाण–समुच्चय १.२०.४१)।

उद्योतकर ने दिङ्नाग की इस आपत्ति का उत्तर सभी इन्द्रियों की प्राप्यकारिता सिद्ध करके दिया। उनका कहना है कि जो करण होगा वह वास्यादि की तरह प्राप्यकारी ही होगा। (न्यायवा. पृ. ३३,३६)। परन्तु कुमारिल ने सन्निकर्ष का अर्थ ही बदल दिया। उन्होंने कहा कि इन्द्रियों का व्यापार ही संप्रयोग या सन्निकर्ष है। यदि ऐसा माना जाये तब बौद्धों ने सन्निकर्ष के विषय में जो दोष दिया उससे मीमांसकों द्वारा मान्य प्रत्यक्ष लक्षण कैसे दूषित हो सकता है (श्लोक वा. ४.४०)। यहा संप्रयोग शब्द का अर्थ है योग्यता। जैन दर्शन में योग्यता का अर्थ है प्रतिबन्धापाय अर्थात् ज्ञानावरण के हटने से आत्मा में जो शक्ति अविर्भूत होती है वही योग्यता है और उसी के होने पर ही ज्ञान होता है। (न्या.कु.च.पृ.–३१)।

यहां हम **समवाय** को भी समझ लें। वैशेषिक और नैयायिक समवाय को एक पृथक् पदार्थरूप मानते हैं जो नित्य, व्यापक और अमूर्त है। वैशेषिक उसे अतीन्द्रिय और अनुमानगन्य मानते हैं। बौद्ध उसे प्रत्यक्षगम्य न होने के कारण अस्तित्वहीन मानते हैं। इन सभी के सन्दर्भ में उद्योतकर ने विशेषण विशेष्य नामक सन्निकर्ष के बल पर उसका प्रत्यक्ष माना है। बौद्धों ने भी समवाय के आश्रयाश्रयिभाव या आधाराधेयभाव को स्वीकार नहीं किया और उसके अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्षग्राह्य नहीं माना। सांख्यों ने भी समवाय का खण्डन किया है। खण्डन करने का उनका आधार यह है कि उनके मत से प्रकृति का विस्तार प्रकृत्यात्मक ही होगा क्योंकि परिणामी नित्य प्रकृति के परिणाम प्रकृति से भिन्न नहीं। तव समवाय की आवश्यकता ही नहीं है। इस अभेदवाद के आधार पर उन्होंने समवाय का खण्डन किया है।

जैन दर्शन की दृष्टि से द्रव्य और गुण का भेदाभेद है। उनके मत से समवाय द्रव्य का एक पर्याय मात्र है। अभेद इसलिए कि किसी एक द्रव्य के पर्याय को किसी अन्य द्रव्य में कोई स्थान नहीं हो सकता। भेद इसलिए कि पर्याय के नष्ट होने पर भी द्रव्य विद्यमान रहता है। यदि एकान्त अभेद होता तो पर्याय की तरह द्रव्य भी नष्ट हो जाता। अतः द्रव्य की गुणादि रूप से परिणति ही समवाय कहा जा सकता है (स्याद्वाद रत्नाकर, पृ.९६५)।

मीमांसकों का मत है कि वेद अपौरुषेय हैं। उनका कोई कर्ता नहीं है। परन्तु उनका मत सही नहीं है। वर्णपद और वाक्य में तो अपौरुषेयत्व हो नहीं सकता। वे पौरुषेय ही होते हैं।

धारावाहिक ज्ञान

पहले के घटज्ञान से "यह घर है", "यह घर है" इस प्रकार उत्पन्न हुए ज्ञान को धारावाहिक ज्ञान कहा जाता है। यह ज्ञान प्रमाण है या नहीं इस विवाद का सूत्रपात धर्मकीर्ति के बाद हुआ। बौद्ध परम्परा ने साधारणतः उसे प्रमाणकोटि से बाहर रखा। न्याय–वैशेषिक और मीमांसक परम्पराएं उसे प्रमाण मानती है। जैन परम्परा में इस सन्दर्भ में दो विचारधाराएं मिलती हैं – पहली विचारधारा का नेतृत्व आचार्य अकलंक करते हैं जो यह मानते हैं कि धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण नहीं माना जा सकता क्योंकि अनधिगत या अपूर्व अर्थ का ग्राही ज्ञान ही प्रमाण है। दूसरी विचारधारा आचार्य विद्यानन्द, हेमचन्द्र, आदि ने प्रस्तुत की है जिसके अनुसार धारावाहिक ज्ञान ग्रहीतग्राही हो या अग्रहीतग्राही, पर यदि वह स्वार्थ का निश्चय करता है तो वह प्रमाण है।

सर्वज्ञत्व विचार

सर्वज्ञता का एक लम्बा इतिहास है। उसमें दो पक्ष हैं – वैदिक दर्शन और श्रमण दर्शन। वैदिक दर्शन में दो पक्ष हैं – मीमांसक और मीमांसकेतर। मीमांसक अनीश्वरवादी हैं और वे किसी भी सर्वज्ञ की सत्ता को स्वीकार नहीं करता जबकि मीमांसकेतर सभी वैदिक दर्शन उसकी सत्ता को निसंकोच स्वीकार करते हैं। और वे ईश्वर को जगत की उत्पत्ति में निमित्त कारण मानते हैं। और चूंकि ईश्वर जगत की रचना करता है इसलिए उसे समस्त कारकों का ज्ञान होना आवश्यक है। यही कारण है कि वे अनादि–अनन्त ईश्वर में सर्वज्ञता को भी अनादि–अनन्त मानते हैं। इसी से मुक्त हो जाते हैं और मुक्त होते ही उनका समस्त ज्ञान चला जाता है। अतः ईश्वर मुक्तात्माओं में विलक्षण है।

निरीश्वरवादी दर्शनों में बौद्धधर्म अग्रणी है। वह निरात्मवादी माना जाता है यद्यपि कर्मवादी होने के कारण उसे किसी न किसी रूप में आत्मा का आधार लेना ही पड़ा। उसकी निरात्मवादिता का भी एक विकासात्मक इतिहास है।

सांख्य का आत्मा पुरुष और प्रकृति का सम्बन्ध छूटते ही मुक्तात्मा ज्ञान शून्य हो जाता है।

केवल जैनदर्शन ही ऐसा दर्शन है जो मुक्त हो जाने पर भी जीव की सर्वज्ञता को स्वीकार करता है क्योंकि उसमें चैतन्य आत्मा को ज्ञान–दर्शनमय माना गया है। इसमें मुख्य कारण ये हैं –

१. जैनधर्म आत्मवादी है और उसमें आत्मा को ज्ञान दर्शन–सुख–वीर्य रूप चतुष्टय गुणों से युक्त माना गया है। गुण गुणी से कभी पृथक् न ही होते। कर्मों के कारण वे गुण आवृत भले ही हो सकते हैं। विकृत हो सकते हैं।

२. इस विकृत अवस्था को ध्यानादि के माध्यम से शुद्ध किया जा सकता है और मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

३. प्रत्येक आत्मा में मोक्ष प्राप्त करने की शक्ति है और वह वीतरागी बन सकता है। चार घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने पर पूर्ण ज्ञानी हो जाता है और आप्त हो जाने पर वह उपदेश देने की स्थिति में आ जाता है। सर्वज्ञ हो जाता है। यहीं से दार्शनिक क्षेत्र में सर्वज्ञता पर वादविवाद प्रारम्भ हो गया।

जैन दर्शन में सर्वज्ञता का तात्पर्य है केवलज्ञान होना जो समस्त ज्ञानावरण के समूल नष्ट होने पर प्रकट होने वाला निरावरण ज्ञान है। वह आत्ममात्र सापेक्ष होता है। इसके उत्पन्न होते ही सभी क्षायोपशमिक ज्ञान विलीन हो जाते हैं। यह ज्ञान पूर्णतः निर्मल होता है, अतीन्द्रिय होता है और समस्त द्रव्यों की सभी पर्यायों को विषय करता है। इसका सम्बन्ध मोक्ष से है और मोक्ष का सम्बन्ध धर्म से है। इसलिए विवाद का विषय यह था की प्राचीन काल में भी धर्म का साक्षात्कार हो सकता है या नहीं। शबर, कुमारिल आदि मीमांसक दार्शनिक धर्म को अतीन्द्रिय मानते हैं। उनके धर्म में वेद को प्रमाण माना गया है – चोदना लक्षणो ऽर्थः धर्मः। इसलिए व्यक्ति में अतीन्द्रियार्थ विषयक ज्ञान नहीं हो सकता। यही कारण है कि वेद को अपौरुषेय माना गया और पुरुष में सर्वज्ञता का अभाव कहा गया। उन्होंने सर्वज्ञता को धर्मज्ञता से जोडा जो वेद ज्ञान से भी संभव है, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से नहीं।

बौद्ध दर्शन के अनुसार तथागत बुद्ध चतुरार्यसत्य के ज्ञाता हैं और वे ही धर्मदृष्टा हैं। धर्मकीर्ति ने सर्वज्ञ की अपेक्षा धर्मज्ञ को अधिक महत्त्व दिया है। उन्होंने वेदज्ञ से अधिक धर्मज्ञ को प्रतिष्ठित किया है और कुमारिल के वेदवाद का खण्डन किया है। उत्तरकाल में प्रज्ञाकर गुप्त ने अपने प्रमाण वार्तिकालंकार (पृ. ३२९) में धर्मज्ञ के साथ ही बुद्ध में सर्वज्ञता की स्थापना की। शान्तरक्षित ने भी इस विचार का समर्थन किया और बुद्ध को सर्वज्ञ बना दिया उन्हें उनकी वीतरागता के साथ जोडकर।

वैशेषिक दर्शन ने सर्वज्ञता को एक ऋद्धि विशेष माना जो विभूतिवत् है और साधना से प्राप्तव्य है। जैनदर्शन ने प्रारम्भ से ही सर्वज्ञता को परम वीतरागता से सम्बद्ध कर उसे त्रिकालदर्शी कहा और प्रत्यक्षवत् दृष्टा माना। आचारांग का यह कथन "जे एगे जाणइ से सव्वे जाणइ" (१.२३) इस तथ्य की भूमिका के रूप में देखा जा सकता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार के शुद्धोपयोगधिकार (गाथा १५८) में यह व्यक्त किया कि केवली भगवान् समस्त पदार्थों को देखते–जानते हैं, यह कथन व्यवहारनय से है परन्तु, निश्चयनय से वे आत्मस्वरूप को ही देखते–जानते हैं उन्होंने व्यवहारनय को अभूतार्थ और निश्चयनय को भूतार्थ या परमार्थ माना है जिससे सर्वज्ञता का पर्यवसान आत्मज्ञता में हो जाता है

'जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।'
"केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं"

निश्चयनय स्वाश्रित रहता है, स्वाकार रहता है तब उसे दर्शन कहा जाता है और जब वह ज्ञेयाकार हो जाता है तब उसे ज्ञान कहा जाता है। समयप्राभृत में आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट कहा है कि पर पदार्थों का सन्दर्भ निश्चय नय की परिधि से बाहर हो जाता है। मात्र शुद्ध ज्ञायक अवस्था ही निश्चयनय की परिधि है। यह शुद्ध ज्ञायक चैतन्य अवस्था है, विभाव दशा से मुक्त स्वभाव में केन्द्रित होता है। उसमें किसी प्रकार की अशुद्धावस्था नहीं होती। इस विषय पर नय की दृष्टि से विचार करना होगा। अन्यथा उसके साथ न्याय नहीं हो सकेगा।

समन्तभद्र आदि सभी जैन दार्शनिकों ने सर्वज्ञता की सिद्धि की है और धर्मज्ञता को उसके अन्तर्भूत किया है। आचार्य वीरसेन ने अपनी जयधवलाटीका

में एक नवीन युक्ति दी है। उन्होंने कहा है कि केवलज्ञान आत्मा का ही स्वरूप है। वह ज्ञानावरण कर्म से आवृत होता है और क्षयोपशम के अनुसार मतिज्ञान अदि रूप में अभिव्यक्त होता है। उसका संवेदन केवलज्ञान का ही आंशिक संवेदन है। अतः उसे इस ज्ञान का सामान्य रूप मान सकते हैं।

१. अकलंक देव ने स्पष्ट कहा है कि आत्मा में समस्त पदार्थों को जानने–देखने की क्षमता है। परन्तु ज्ञानावरण कर्म से आवृत आत्मा उन्हें न जान पाती है और न देख पाती है। जब उन कर्मों का पूर्ण क्षय हो जाता है तब वह सर्वज्ञ बन जाता है। अतीन्द्रियार्थदर्शी ज्योतिग्रहों की दशादि का अविसंवादी रूप से व्याख्यान करते हुए दिखाई देता ही है।

२. अणु परमाणु आदि की प्रकर्षता के समान ज्ञान की भी प्रकर्षता हो सकती है जिसे सर्वज्ञता कहा जाता है।

३. जिस प्रकार माणिक्य से मल निकालकर उसे निर्मल बना दिया जाता है वैसे ही कर्ममल अलग होने पर आत्मा निर्मल और सर्वज्ञ बन जाती है।

४. बुद्ध स्वयं को सर्वज्ञ नहीं मानते थे। उत्तरकाल में आचार्यों ने उन्हें धर्मज्ञ के साथ सर्वज्ञ भी बना दिया। परन्तु महावीर को पालि पिटक में भी सर्वज्ञ माने जाने के उल्लेखके मिलते हैं।

ईश्वर कर्तृत्व विचार

इस सन्दर्भ में ईश्वर कर्तृत्व पर भी विचार कर लेना चाहिए। नैयायिक–वैशेषिक मानते हैं कि पृथ्वी आदि कार्यो का बुद्धिमान कर्ता ईश्वर है। पृथ्वी आदि सावयव हैं इसलिए वे कार्य अवश्य हैं। वह अशरीरी है, नित्य है, ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न उसके साथ हैं। वह ईश्वर सर्वज्ञ है, धर्मज्ञ है, अनादि मुक्त है और करुणा के कारण प्राणियों के अदृष्टादि की सहायता से ही शरीरादि की रचना में प्रवृत्त होता है। अदृष्ट अचेतन होने से एक चेतन अधिष्ठाता की आवश्यकता होती ही है। जैनदर्शन इन तर्कों को स्वीकार नहीं करता। वह कहता है कि सावयत्व और कार्यत्व हेतु सदोष हैं। वे प्रत्यक्ष से न सर्वथा सिद्ध होते हैं और न कथंचित। ईश्वर में बुद्धि के उत्पादक असमवायी आत्ममनः संयोग और

निमित्तकारण शरीरादिक नहीं हैं। क्षिति आदि कार्यों में कृतबुद्धि होती ही नहीं है। एक अशरीरी कार्यों को कैसे कर सकता है? ज्ञानादि का आधार भी अशरीरी में नहीं बनेगा। अचेतन दण्ड, चक्र आदि चेतन कुम्भकार से अधिष्ठित होकर जैसे घट की उत्पत्ति करते हैं वैसे ही ईश्वर को अधिष्ठाता नहीं कहा जा सकता। उसे चेतनान्तर की आवश्यकता होगी। कार्यत्व की व्याप्ति भी बुद्धिमत् कारण के साथ नहीं है। यदि ईश्वर करुणावान् है तो वह दुःखदायी साधनों का निर्माण क्यों करेगा? धर्माधर्म के फल को भोगने के लिए ईश्वर की आवश्यकता ही क्यों है सूत्रधार के रूप में? संपूर्ण कार्यों का कर्ता एक ही व्यक्ति हो, यह आवश्यक नहीं है। सहकारी कारणों की उत्पत्ति वह ईश्वर एक साथ क्यों नहीं करता? अतः ईश्वर में अशेष जगत के कर्तृत्व का साधक कोई निर्दोष प्रमाण न होने के कारण न तो कोई सृष्टिकर्ता है, न सर्वज्ञ है, न अनादि मुक्त है (न्याय कुमुदचन्द्र, पृ. ९७–१०५)।

मीमांसकों ने सर्वज्ञता की अपेक्षा धर्मज्ञता पर अधिक बल दिया। उनके अनुसार वेद अपौरुषेय हैं, अनादि है और सर्वज्ञ सादि है। वेदज्ञ हुए बिना न कोई सर्वज्ञ हो सकता है और न कोई धर्मज्ञ हो सकता है। जैन दर्शन वेद को पौरुषेय मानता है।

प्रकृतिकर्तृत्व विचार

सांख्यों के अनुसार अचेतन तथा त्रिगुणात्मक प्रकृति (प्रधान)से ही संपूर्ण जगत की उत्पत्ति होती है। वह प्रकृति अव्यक्त और विकार रहित होती है और महत् आदि तत्त्व प्रकृति और विकृति दोनों कहलाते हैं। सबसे विलक्षण एक पुरुष तत्त्व है जो न किसी से उत्पन्न होता है और न किसी को उत्पन्न करता है। वह चेतन है पर ज्ञान गुण से रहित है। प्रकृति कर्मी है और पुरुष भोक्ता है। बन्ध, मोक्ष, सर्वज्ञत्व आदि सब कुछ प्रकृति का ही धर्म है, पुरुष का नहीं। सांख्यों का सत्कार्यवाद भी प्रसिद्ध है। गेहूं के बीज से गेहूं की ही उत्पत्ति होती है, धान की नहीं। सेश्वर सांख्य (योग) पच्चीस तत्त्वों के अतिरिक्त ईश्वर तत्त्व को भी स्वीकार करता है। वहीं प्रधान की सहायता से सृष्टि के कार्यों को करता है। यह ईश्वर अनादि मुक्त है, ऐश्वर्य संपन्न है, स्थिति–उत्पत्ति–विनाश करने में समर्थ है। वही सर्वज्ञ ईश्वर जगत का सृष्टिकर्ता है।

जैनदर्शन जगतकर्ता और सर्वज्ञ के बीच कोई संबन्ध नहीं जोड़ता। उसकी दृष्टि में सर्वज्ञता की प्राप्ति तभी संभव है जब समस्त कर्मो का आवरण परिपूर्णतः दूर हो जाये। उसकी दृष्टि में महत् आदि २३ तत्त्व प्रकृति रूप ही हैं, प्रकृति से भिन्न नहीं। अतः प्रकृति में कार्यकारण भाव नहीं बनता। जो पदार्थ सर्वथा नित्य है उसमें किसी के प्रति कारणभाव हो भी नहीं सकता। वहां अन्वय–व्यतिरेक भी सिद्ध नहीं होता। सांख्यों का सत्कार्यवाद भी सही नहीं है। जिन हेतुओं से सत्कार्यवाद की सिद्धि होती है उन्हीं हेतुओं से असत्कार्यवाद भी सिद्ध हो जाता है। जो सभी प्रकार से सत् होता है वह किसी से जन्य नहीं होता है, जैसे प्रधान। यदि कार्य को कथंचित् सत् माना जाये तो उसके और जैनों के मत में कोई वैभिन्न्य नहीं है। कारण कार्य की उत्पत्ति न करके उसकी अभिव्यक्ति करते हैं, यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि वह अभिव्यक्ति न सत् हो सकती है और न असत् ही। अचेतन और ज्ञानविरहित प्रकृति में बन्ध–मोक्ष मानना तो हास्यास्पद ही है। यथार्थ में पुरुष कर्ता और भोक्ता दोनों है। प्रधान और ईश्वर मिलकर सृष्टि करते हैं, यह भी उचित नहीं है क्योंकि उसमें पृथक्–पृथक् कर्तत्व न होने से दोनों मिलकर भी कर्ता नहीं हो सकते हैं। दोनों के नित्य होने से उनमें कोई अतिशय भी नहीं है। सहकारी कारणों से ईश्वर यदि सृष्टि करता है तो सृष्टिकाल में स्थिति और प्रलय का प्रश्न उठेगा। अतः जैनधर्म सृष्टिकर्ता में विश्वास नहीं करता। उसके अनुसार तो जगत् सृष्टि स्वभावतः निमित्त कारणों से होती रहती है। वीतरागी महापुरुष के लिए सृष्टि करने की आवश्यकता ही क्या है? (न्याय कु.च. पृ १०९–११४)।

वेदों की अपौरुषेयता

मीमांसकों का मत है कि वेद अपौरुषेय हैं। उनका कोई कर्ता नहीं है। परन्तु उनका मत सही नहीं है। वर्णपद और वाक्य में तो अपौरुषेयत्व हो नहीं सकता। वे पौरुषेय ही होते हैं। इसलिए जैनदर्शन ने वेदों की अपौरुषेयता को भी अस्वीकार किया है। उसका कहना है कि वर्ण, पद और वाक्य पौरुषेय हैं, कृतक हैं। तब उन्हीं का समूह रूप वेद अपौरुषेय कैसे हो सकता है? उसे अस्मर्यमाणकर्तृक कहना भी उचित नहीं। ब्रह्म को वेदों का कर्ता माना ही जाता है। काण्व, मध्यन्दिन, तित्तरीय, हिरण्यगर्भ आदि का नाम वेदों के कर्ता के रूप

में लिया ही जाता है। लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के शब्द स्वरूपतः समान हैं तब वैदिक शब्द अपौरुषेय कैसे हो सकते हैं?

शब्दनित्यत्व विचार

मीमांसक शब्द को नित्य और व्यापक मानते हैं। पर यह सही नहीं है। यह कहना गलत है कि शब्द को अनित्य मानने पर उससे अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकेगी। संकेत काल में गृहीत शब्द के सदृश शब्द से भी अर्थ की प्रतीति होती है। सदृश परिणाम लक्षण सामान्य से विशिष्ट शब्द अर्थ का प्रतिपादक होता है। इसी तरह शब्द को व्यापक मानना भी असंगत है। गौ, अश्व आदि शब्द अनेक हैं घटादि की तरह। अनेक देशों में भिन्न-भिन्न स्वरूपों में उनकी उपलब्धि होती है। श्रोत्रप्रदेश में ही ध्वनियों के द्वारा शब्द की उपलब्धि होती है। अतः शब्द अव्यापक हैं, सर्वगत नहीं। जैनों ने शब्द में श्रवण स्वभाव के उत्पाद-विनाश को शब्द का उत्पाद-विनाश कहा है। उसी को मीमांसकों ने शब्द की अभिव्यक्ति और तिरोभाव कहा है। अतः शब्द तालु आदि के व्यापार का कार्य है। वह न नित्य है और न व्यापक है। वह तो पौद्गलिक है। शब्द और अर्थ में वाच्य-वाचक अथवा प्रतिपाद्य-प्रतिपादक शक्ति रूप स्वाभाविक योग्यता रहती है। उस योग्यता में हस्त, अंगुली आदि संकेत का ग्रहण होने पर शब्द वस्तु की प्रतिपत्ति के हेतु होते हैं। जैसे मेरू शब्द वाचक है और मेरू अर्थ वाच्य है। मेरू शब्द सुनते ही मेरू अर्थ का ज्ञान हो जाता है। मीमांसक शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य मानते हैं पर उसे सर्वथा नित्य नहीं कह सकते। संकेत आदि के साथ वह अनित्य भी होता है। बौद्ध अन्यापोहवादी हैं। उनके अनुसार शब्द अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते हैं बल्कि अन्य पदार्थों की व्यावृत्ति या निषेध करते हैं। गौ शब्द गाय का वाचक न होकर अगोव्यावृत्ति का सूचक है। जैन दर्शन कहता है कि शब्द का अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, यह कथन सही नहीं है। सभी शब्दों का अर्थ के साथ व्यभिचार सिद्ध नहीं किया जा सकता। प्रतिनियत शब्द से प्रतिनियत अर्थ की प्रवृत्ति देखी जाती है। भतृहरि आदि वैयाकरण स्फोटवादी हैं। उनके अनुसार शब्द पदार्थ का वाचक नहीं होता बल्कि स्फोट पदार्थ का वाचक होता है। वह एक व्यापक तथा नित्य है। पदस्फोट पद का और वाक्यस्फोट वाक्य के अर्थ का बोध कराता है। जैन दर्शन कहता है कि जब अर्थ की प्रतीति

दृष्ट कारण शब्द से होती है तो अदृष्टकारण स्फोट मानने की कल्पना में औचित्य ही क्या है? फिर चैतन्य आत्मा को ही स्फोट मान लेने में क्या बुराई है? (न्याय कु.च. पृ ६९७–७२०)।

ज्ञान और प्रमाण

जैन दर्शन की दृष्टि से ज्ञान या प्रमाण स्व–पर–प्रकाशक होता है। आगमकाल में ज्ञान और प्रमाणों में कोई अन्तर नहीं था। दार्शनिक युग में ज्ञान ने प्रमाण का रूप ले लिया और प्रमाण उसे माना जिससे पदार्थ का संशयादि रहित ज्ञान हो। स्व–पर–प्रकाशक रूप प्रमाण के लक्षण में अकलंक ने "अविसंवादिकता" शब्द जोडकर संशयादि और संन्निकर्षगत दोषों को दूर किया। उसे और स्पष्ट करने के लिए विद्यानन्द ने उसे स्वार्थ व्यवसायात्मक सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहा। प्रमाण की यह परिभाषा उसके क्रमिक विकास का ही परिणाम है।

यह प्रमाण कभी स्वतः होता है तो कभी परतः। अभ्यासदशा में स्वतः होता है और अनभ्यासदशा में परतः। धारावाहिक ज्ञान को कोई प्रमाण मानता है, कोई नहीं मानता। जैन दार्शनिक अनेकान्तवादी होने के कारण प्रमाण संप्लव को स्वीकार करते हैं। पर नैयायिक प्रत्येक अवस्था में प्रमाणसंप्लव मानते हैं। क्षणिकवादी होने के कारण बौद्ध उसे स्वीकार नहीं कर पाते।

२. परोक्ष प्रमाण

प्रत्यक्ष प्रमाण में प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं रहती। परोक्ष प्रमाण में उसकी आवश्यकता होती है। परोक्ष के पांच भेद हैं – स्मृति, प्रतिभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। स्मृति गृहीत वस्तु को ग्रहण करती है। स्मृति की पृष्ठभूमि में पूर्वदृष्ट पदार्थ के विषय में तत् एवं धारणा रूप संस्कार जागृत होता है और स्मृति का रूप ले लेता है। जैसे यह वही देवदत्त है जिसे हमने पहले देखा था। चार्वाक्, बौद्ध और वैदिक परम्पराएं स्मृति को ग्रहीतग्राही होने के कारण प्रमाण कोटि में नहीं रखतीं। परन्तु जैन दर्शन उसे अविसंवादक होने के कारण प्रमाण मानता है। उसका तर्क है कि प्रत्यक्ष और अनुमान भी ग्रहीतग्राही होने के कारण फिर प्रमाण रूप में नहीं माने जा सकेंगे। सभी व्यवहारों का भी अपलाप

करना पडेगा। अतः स्मृति को प्रमाण माना जाना चाहिए। प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष और स्मृति का संकलनात्मक रूप है। यह वही है, उसके सदृश है या असदृश है, विलक्षण है, प्रतियोगी है आदि रूप से प्रत्यभिज्ञान होता है। मीमांसक और नैयायिक प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत रखते हैं। पर यह ठीक नहीं है। प्रत्यक्ष स्मृतिनिरपेक्ष होता है। प्रत्यभिज्ञान में पूर्व पर्याय के स्मरण का और उत्तरपर्याय के दर्शन का व्यवधान पाया जाता है। अतः अविशद होने के कारण उसे परोक्ष प्रमाण माना जाना चाहिए। बौद्ध इस तर्क को नहीं मानते। उनका कहना है कि प्रत्यभिज्ञान ग्रहीतग्राही है, और वह प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों को लेकर चलता है। परन्तु उनका कहना भी सयुक्तिक नहीं है क्योंकि वह स्मरण और प्रत्यक्ष, दोनों से भिन्न है। अतः वह परोक्ष प्रमाण का एक अंग है। तर्क व्याप्तिज्ञान को कहा जाता है जो अनुमान की आधारशिला है। बौद्ध तर्क को ग्रहीतग्राही होने के कारण प्रमाण नहीं मानते। वे तर्क के स्थान पर 'ऊह' शब्द का प्रयोग करते हैं। वह प्रत्यक्ष के पीछे चलता है अतः प्रमाण नहीं है। मीमांसक और नैयायिक भी इसी विचारधारा के अनुगामी हैं। पर जैनदर्शन इसे नहीं मानता। क्योंकि वह तो व्याप्तिज्ञान पर आधारित है जो अनुमान का साधक है। अतः उसे पृथक् प्रमाण माना जाना चाहिए। साधन से साध्य का ज्ञान होना अनुमान है। साध्य के साथ अविनाभाव स्थिति को ही अकलंक ने 'अन्यथानुपपत्ति' कहा। साधन के लिए 'हेतु' शब्द का प्रयोग किया गया है और उसे अन्यथानुपपत्ति रूप माना गया है। वह हेतु 'अविनाभाव' रूप होता है। चार्वाक् को छोडकर सभी दर्शनों ने अनुमान को प्रमाण माना है। बौद्ध त्रैरूप्य को हेतु का लक्षण मानते हैं– पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्षासत्व। त्रैरूप्य होने के कारण हेत्वाभास भी तीन होते हैं – असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक। जैन दर्शन इसे सही मानता है क्योंकि त्रैरूप्य में असाधारणता नहीं है। वह हेतु और हेत्वाभास दोनों में पाया जाता है। नैयायिकों का पाञ्चरूप्यातन हेतु का लक्षण भी सही नहीं है यथार्थ बात तो यह है कि अविनाभाव ही हेतु का एक मात्र निर्दोष लक्षण है, त्रैरूप्य और पांचरूप्य नहीं। सहभावनियम और क्रमभावनियम को अविनाभाव कहा जाता है।

अनुमान के दो भेद होते हैं – स्वार्थ और परार्थ। परोपदेश के बिना निश्चित अथवा अविनाभावी साधनों के द्वारा होने वाला साध्य का ज्ञान

स्वार्थानुमान है और परोपदेश से साधनों द्वारा होने वाला साध्य ज्ञान परार्थानुमान है। इस अनुमान के पांच अवयव प्रतिपाद्य की दृष्टि से माने जाते हैं – प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। वैसे संक्षेप में दो ही अवयव होते हैं – प्रतिज्ञा और हेतु।

सामान्यतः आगम प्रमाण का सम्बन्ध शब्द प्रमाण से लिया जाता है। पर वस्तुतः उसका विशेष सम्बन्ध श्रुतिविहित आगम से है। आप्त पुरुष के वचनों से उत्पन्न होने वाला अर्थ संवेदन 'आगम' है। आप्त वही हो सकता है जो वीतरागी सर्वज्ञ और हितोपदेशी है। ऐसे आप्त वचनों को ही प्रमाणिक माना जाता है। इस दृष्टि से वेद न अपौरुषेय है और न वह प्रामाणिक है। इस सन्दर्भ में शब्द और अर्थ के सन्दर्भ में भी स्फोटवाद आदि के माध्यम से विचार हुआ।

इस तरह जैन परम्परा में दो ही प्रमाण माने गये हैं – प्रत्यक्ष और परोक्ष। चार्वाक् मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं, वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान, बौद्ध प्रत्यक्ष परोक्ष और अनुमान, सांख्य प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम, नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान, मीमांसा (प्रभाकर) प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति, मीमांसा (भट्ट, वेदान्त) प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव तथा पौराणिक इनके अतिरिक्त संभव, ऐतिह्य और प्रतिभा को भी प्रमाण मानते हैं।

जैन दार्शनिक इस तरह न सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं और न चक्षु को प्राप्यकारी। चक्षु यदि प्राप्यकारी होता तो आंख में लगे अंजन को भी उसे देखना चाहिए और यदि सनिकर्ष को प्रमाण माना जाये तो सर्वज्ञता का अभाव स्वीकार करना पडेगा। अज्ञाननिवृत्ति और पदार्थबोध ही जैनदर्शन में प्रमाण का फल माना गया है।

संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय आदि को प्रमाणाभास कहा जाता है क्योंकि उनसे वस्तु का सही प्रतिभास नहीं होता। प्रमाणाभास के समान हेत्वाभास भी होते हैं। नैयायिक उनकी संख्या पांच मानते हैं पर जैनों ने 'असिद्ध' को ही हेत्वाभास में गिना है। साधर्म्म और वैधर्म्म को दृष्टान्ताभास में गिना गया है।

वादकथा

प्राचीन काल में वाद–विवाद की परम्परायें बहुत अधिक प्रचलित रही हैं। प्रारम्भ में ये वैदिक सम्प्रदाय में अधिक थीं पर उत्तरकाल में बौद्ध और जैन परम्परायें भी उससे प्रभावित हुईं। जैन परम्परा प्रारम्भ से ही जीवन के हर क्षेत्र में सत्य और अहिंसा का प्रयोग करती आ रही है। वाद–विवाद में भी उसने छल, जाति आदि के प्रयोग का कभी भी समर्थन नहीं किया है। सिद्धसेन, हरिभद्र, अकलंक आदि आचार्यों ने अहिंसा और अनेकान्तवाद के आधार पर यही कहा है कि वादी का कर्तव्य है कि वह प्रतिवादी के सिद्धान्तों में वास्तविक कमियों की ओर संकेत करे और फिर अपने मत की स्थापना करे। सत्य और अहिंसा के आधार पर ही हर दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया जाना चाहिए।

तीर्थंकर महावीर का युग जिज्ञासा प्रधान था। जहां जिज्ञासा होती है वहां प्रश्न खडे होते रहते हैं और अपने धर्म को लोकप्रिय बनाने के लिए उन प्रश्नों का सन्तोषप्रद समाधान करना भी आवश्यक हो जाता है। ऐसे प्रश्न–प्रतिप्रश्न की हेतुवादी विचारधारा में तत्त्वदृष्टा अपनी विचारधारा को प्रस्तुत करने के साथ ही अन्य विचारधाराओं को तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत करता है। ऐसी स्थिति में जिज्ञासा एक वाद–विवाद या शास्त्रार्थ का रूप ले लेता है और किसी भी तरह से प्रतिवादी को पराजित करने का लक्ष्य बना लेता है।

शास्त्रार्थ का यह रूप प्राचीन काल से चला आ रहा है। वेदों उपनिषदों और जैन बौद्ध आगमों में भी ऐसे अनेक प्रसंग मिलते हैं जहां वादी प्रतिवादी को निरुत्तर करने का प्रयत्न करता है। उपासकदशांग में गोशालक के उपासक सद्दालपुत्त के साथ नियतिवाद के विषय में तीर्थंकर महावीर की चर्चा का उल्लेख मिलता है। वहीं चण्डकौशिक और एक देव के बीच भी सम्वाद हुआ है (अध्याय ६ और ७)। इसी तरह सूत्रकृतांग, भगवती सूत्र, उत्तराध्ययन आदि आगमों में भी ऐसे ही अनेक प्रसंग उपलब्ध होते हैं। बौद्ध पिटकों में मिलिन्दप्रश्न और नागसेन के बीच हुए जैसे अनेक सम्वाद भी उल्लेखनीय हैं।

जैनधर्म–दर्शन आचार प्रधान है। उसमें वीतरागता का विशेष महत्त्व है। इसलिए वादकला में भी आचारपरक हेतुवाद पर ध्यान दिया गया है। संघ में

ऐसे कुशल वादी हुआ करते थे। उनकी पृथक् गणना भी की जाती रही है। तीर्थंकर महावीर के संघ मे ंभी ऐसे वादियों की संख्या का उल्लेख मिलता है स्थानांग (सूत्र, ३८२) और कल्पसूत्र (सू. १४२) आदि आगमों में। उन्हें वादविद्या विशारद कहा जाता था।

वृहत्कल्प भाष्य में इस संदर्भ में कहा गया है कि वादी को प्रभावक बनने के लिए शरीरशुचिता और स्वच्छ वस्त्राधान करना चाहिए। इस विद्या में प्रवीणता प्राप्त करने के लिए वह दूसरे गण में भी जा सकता है – **विज्जामंत निमित्ते हे उसत्थट्ठ दंसणट्ठाए** (गाथा ५४७३)। इसे दर्शनप्रभावना कहा गया है। इस प्रभावना के लिए श्रमण रथयात्रा में भी संमिलित हो सकता है (गाथा १७९३)।

वाद कथा के भेद

ऐसी वाद कथा के तीन भेद हैं – अर्थकथा, धर्मकथा और कामकथा। इन तीन प्रकारों में धर्मकथा मुख्य है। यह धर्मकथा चार प्रकार की होती हैं – आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेदनी। प्रथम दो प्रकारों का सम्बन्ध वाद से है और शेष दो का सम्बन्ध गुरु–शिष्य के बीच संवेग–निर्वेद विषयक उपदेश से है। आक्षेपणी कथा में गुरू–शिष्य के बीच आचार–व्यवहार आदि विषयक कथा का नियोजन होता है। विक्षेपणी में स्वसमय का प्रस्थापन और परसमय का खण्डन किया जाता है। संवेजनी में इहलोक–परलोक की चर्चा की जाती है और निर्वेदनी में दुरचरित के फल का प्रतिपादन किया जाता है।

शास्त्रार्थी प्रतिवादी पर विजय पाने के लिए अनेक प्रकार के हथकण्डों का उपयोग किया करता है। ठाठांग (सू. ५१२) इस प्रकार के पांच रूपों का उल्लेख करता है –

१. वादी निश्चित समय पर नहीं पहुंचता।
२. प्रतिवादी के कमजोर पक्ष को उजागर करता है।
३. विवादाध्यक्ष को अपनी ओर कर लेता है।
४. प्रतिकूल परिस्थितियां खडी करता है।

५. अध्यक्ष की सेवा करता है।

६. प्रतिपक्षी को द्वेषी ठहराता है।

ठाणांग (सूत्र ७४३) में वादकथा से सम्बन्ध दस दोषों का भी उल्लेख हुआ है – १) तज्जातदोष, २) मतिभंगदोष, ३) प्रश्नस्तृदोष, ४) परिहरणदोष, ५) स्वलक्षणदोष, ६) युक्तिदोष, ७) हेतुदोष, ८) संक्रमणदोष, ९) निग्रहदोष और १०) वस्तुदोष.

यह वादकथा परार्थानुमान के अन्तर्गत आती है। वादी और प्रतिवादी के बीच स्वमत स्थापन पर्यन्त जो वचन–व्यवहार होता है उसे कथा कहा जाता है। न्याय दर्शन में कथा को तीन भागों में विभक्त किया है – वाद, जल्प और वितण्डा। वीतराग कथा को वाद कहा जाता है। विजिगीषियों की कथा जल्प और वितण्डा के रूप में जानी जाती है। प्रमाण और तर्क के माध्यम से वाद में स्वपक्षसाधन और परपक्ष द्वेषण किया जाता है। इसमें पंचावयव का प्रयोग किया जाता है। इसलिए न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त और पांच हेत्वाभास इन आठ निग्रह स्थानों का प्रयोग उचित माना गया है। छल, जाति आदि का प्रयोग यहां वर्जित है। जल्प और वितण्डा में उनका प्रयोग सही माना गया है और किसी भी स्थिति में अपने तत्त्व का संरक्षण करना इसका उद्देश्य रहता है और प्रतिवादी के कथन में दूषण बताकर उसे चुप करने का प्रयत्न करता है।

बौद्ध परम्परा में भी छल, जाति अदि का प्रयोग क्षम्य माना गया है पर धर्मकीर्ति ने अपने वादन्याय में इसका समर्थन नहीं किया। क्योंकि यहां संघशरण में जाना आवश्यक माना गया है। जैनधर्म में अर्हन्त, सिद्ध, साधु और धर्म की शरण में जाने का अनुरोध किया गया है। आचार्य अकलंक ने स्पष्ट रूप से सत्य–अहिंस की दृष्टि से उनका प्रयोग वर्जित माना है (सिद्धिविनिश्चय, जल्पसिद्धि, परि.५)। अतः उनकी दृष्टि में वाद और वितण्डा में कोई भेद नहीं रह जाता। वितण्डा एक वादाभास है जहां मात्र खण्डन किया जाता है परपक्ष का।

नैयायिकों के अनुसार जल्प और वितण्डा में छल, जाति और निग्रह स्थान का प्रयोग स्वीकारा गया है। वहा प्रतिज्ञाहानि आदि बाईस निग्रह स्थान माने गये हैं और परपक्ष की प्रस्तुति में विविध कमियों को स्पष्ट किया गया है। इससे शास्त्रार्थ के नियम बनाये गये। उनका पालन न करने पर पराजय का मुख

देखना पड सकता है। धर्मकीर्ति ने मात्र दो निग्रहस्थान माने हैं – असाधनांगवचन और अदोषोद्भावन (वादन्याय)। अकलंक ने इनके स्थान पर अविनाभावी साधन से स्वपक्ष स्थापन की बात कही है। प्रतिवादी का कर्तव्य है कि वह वादी के कथन में यथार्थ दूषण को बताये और अपने पक्ष की सिद्धि कर स्वपक्ष सिद्धि करने वाला यदि कुछ अधिक बोल जाये जो वह उसकी पराजय का कारण नहीं माना जा सकता है तो उसे भी न कहे – स्वपक्षं प्रसाध्य नृत्यतोऽपि दोषाऽभावात्। अर्थात् अपने पक्ष को सिद्ध करके यदि वह नाचता भी है तो इसमें कोई दोष नहीं। यहां सत्य, अहिंसा और न्याय की सुरक्षा दिखाई देती है। स्वपक्षसिद्धि और परपक्ष निराकरण मूलक ही जय–पराजय व्यवस्था सत्य और अहिंसा के आधार से न्याय परक है।

मोक्ष विचार

मोक्ष का तात्पर्य है – कर्मों का पूर्ण रूप से क्षय हो जाना। इस अवस्था में आत्मा संपूर्ण कर्मों के मिथ्यात्वादि आवरणों से मुक्त हो जाता है और अपने स्वाभाविक गुण ज्ञान–दर्शन आदि को पा लेता है। संवर और निर्जरा से संचित कर्मों का क्षय हो जाता है और चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में वह सिद्धशिला में अवस्थित हो जाता है। वहां से लौटकर फिर वह संसार में वापिस नहीं आता। आत्मा का सम्पूर्ण कर्मों से पृथक् हो जाना द्रव्यमोक्ष है और केवलज्ञान हो जाना भावमोक्ष है। भावमोक्ष अर्हन्त अवस्था है और द्रव्यमोक्ष को सिद्धावस्था कहा जाता है (त.सू. ९–१८)। बौद्धधर्म में इन्हीं को क्रमशः सोपधिशेष और निरुपधिशेष निर्वाण की संज्ञा दी गई है।

न्याय–वैशेषिक दर्शन के अनुसार दुःखों से आत्यन्तिक मुक्ति ही मोक्ष है। प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश हो जाता है और फिर मिथ्याज्ञान के अभाव में क्रमशः दोष, प्रवृत्ति, जन्म और दुःख का नाश हो जाने पर मोक्षप्राप्ति हो जाती है। इससे तत्त्वज्ञान हो जाने पर उसके बुद्धि आदि विशेष गुणों का उच्छेद हो जाता है और आत्मा अपने शुद्ध रूप में लीन हो जाता है। यही मोक्ष है। जैन दर्शन इन बुद्धि आदि गुणों का उच्छेद मोक्षावस्था में नहीं मानता। ये गुण उसकी दृष्टि में आत्मा से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होते हैं। यदि पुरुष को चेतन मानकर भी मोक्ष में अतीन्द्रिय

ज्ञान, सुख आदि गुणों का अभाव माना जायेगा तो उसे प्राप्त करेगा कौन? सुख तो आत्मा का निजी स्वभाव है। मोक्ष की स्थिति में उसे परम सुख कहा जाता है।

सांख्यदर्शन में प्रकृति का संसर्ग छूट जाने पर, भेदविज्ञान हो जाने पर पुरुष अपने शुद्ध स्वरूप में चैतन्य मात्र में अवस्थित हो जाता है। यही स्वरूपावस्थिति मोक्ष है। बन्ध और मोक्ष प्रकृति के ही धर्म हैं, पुरुष के नहीं। पुरुष तो स्वभाव से बन्ध रहित और मुक्त है। प्रकृति को दृष्टरूप से देख लेने पर पुरुष भी उसकी उपेक्षा करने लगता है। जैन दर्शन के अनुसार मुक्त पुरुष बुद्धि के नष्ट हो जाने से अज्ञानी बन जायेगा। इस अज्ञान अवस्था को मोक्ष कैसे कहा जा सकता है? पुरुष और प्रकृति विवेक ख्याति (भेदविज्ञान) से शून्य है। तब अज्ञानी को मोक्ष प्राप्त कैसे हो सकता है? पुरुष को चेतन मानकर भी उसे ज्ञान रहित कैसे माना जा सकता है?

मीमांसक जीव आदि के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी मोक्ष का अभाव मानते हैं। हां, कुमारिल भट्ट ने लीक से हटकर मोक्ष का अवश्य वर्णन किया है और उसे कैवल्य कहा है। यहां कर्म दो प्रकार के माने गये हैं – काम्य (करणीय) और अकाम्य (अकरणीय)। काम्य करने से स्वर्ग मिलता है। दोनों प्रकार के कर्म न करने से प्रत्यवाय (दोष) उत्पन्न होता है। उसे दूर करने के लिए अनुष्ठान का विधान है। इसी से पापक्षय होकर कैवल्य (मोक्ष) प्राप्त होता है। पर कैवल्य का लाभ ही मोक्ष नहीं है। चार घातिया कर्मों के नाश होने पर केवलज्ञान प्राप्त करने वाला साधक जीवनमुक्त अर्हन्त अवस्था पा लेता है और बाद में सिद्धावस्था प्राप्त करता है। इसी अवस्था को मोक्ष कहा जाता है।

वेदान्त दर्शन में मोक्ष को आनन्द रूप माना है जो अविद्या (माया) के विनाश से प्राप्त होता है। यथार्थ में ब्रह्म की ही वास्तविक सत्ता है और संसार के सभी पदार्थ मायिक हैं। ब्रह्मज्ञान होते ही जीव अपनी पृथक् सत्ता खोकर ब्रह्म में लीन हो जाता है। जैनदर्शन इसे कथंचित् सत्य मानता है, सर्वथा नहीं। आत्मा का स्वरूप केवल आनन्द ही नहीं है, ज्ञान–दर्शन भी है। मोक्ष में अपनी पृथक् सत्ता को खोकर यह जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है, ऐसा मानना ठीक नहीं है। ठीक यह है कि सब जीवों की सत्ता स्वतन्त्र है और यह स्वतन्त्रता मोक्ष में भी बनी रहती है। अहिंसा दर्शन का यह चरम बिन्दु है।

बौद्ध दर्शन में निर्वाण को चित्त सन्तति का सर्वथा निरोध माना है। साधारणतः उसे अनात्मवाद कहा जाता है। आत्मा के स्थान पर वहां विज्ञान को स्वीकार किया गया है जो चित्त का ही रूप है। संसार अवस्था में विज्ञान की सन्तति बनी रहती है। नैरात्म्य के अभ्यास से उस चित्त सन्तति का उच्छेद हो जाता है। वही उच्छेद निर्वाण है, दीपक का बुझ जाना जैसा है। महायान में निर्वाणावस्था में विशुद्ध ज्ञान का सद्भाव माना जाता है। पर जैन दर्शन इसे नहीं मानता। वह तो निर्वाण उसे मानता है जिसमें आत्मा अनन्त ज्ञानादि गुणों की अनुभूति में सदा लीन रहता है। चित्त सन्तति की सान्वयता में ही मोक्षावस्था में विशुद्ध ज्ञान रहता है। चित्तसन्तति को निरन्वय मानने पर बद्ध कोई होगा और मुक्त कोई दूसरा होगा। जो ठीक नहीं है। हां, चित्तसन्तति और आत्मा को समानार्थक माना जा सकता है। मोक्ष में विशुद्ध ज्ञान के साथ अनन्त सुखादि की भी सत्ता रहती है (प्रमाणवार्तिक १.२१९-२२१)।

इस सन्दर्भ में यह विचारणीय है कि अर्हन्त अवस्था में केवली भगवान कवलाहार करते हैं या नहीं? श्वेताम्बर परम्परा कवलाहार के पक्ष में है पर दिगम्बर परम्परा इसे स्वीकार नहीं करती। उसका कहना है कि कवलाहारी मानने पर वुभुक्षाजन्य पीडा से आक्रान्त होने के कारण केवली में अनन्तसुख का विरह मानना पडेगा। तब अनन्त-चतुष्टय का सद्भाव कैसे होगा? उसमें सरागता का भी प्रश्न उठेगा। सयोग केवली पर्यन्त सभी जीव आहारक होते हैं, कवलाहार करने वाले जीव ही आहारक नहीं होते। केवली का शरीर परमौदारिक है। उसमें केशादि की वृद्धि के अभाव की तरह मुक्ति का भी अभाव रहता है।

जहां तक स्त्री-मुक्ति का प्रश्न है, श्वेताम्बर परम्परा में पुरुष की तरह स्त्री भी मोक्ष प्राप्त करने की अधिकारिणी है। यह अनुभाव प्रमाण से सिद्ध होता है। दिगम्बर परम्परा इसे स्वीकार नहीं करती। उसके अनुसार पुरुष में मोक्ष के हेतु ज्ञानादि का जैसा परम प्रकर्ष पाया जाता है, वैसा परम प्रकर्ष स्त्री में नहीं पाया जाता है। अन्यथा नपुंसक को भी मोक्ष का प्रसंग प्राप्त होगा। मोक्ष का हेतु संयम भी स्त्रियों में असंभव ही है। पूर्ण वीतरागता, निष्परिग्रहता और अचंचलता उनमें रह नहीं सकती और उसके बिना मोक्ष की कल्पना की नहीं जा सकती।

जैन और जैनेतर दर्शन

ज्ञान मीमांसा के सन्दर्भ में हम यहां जैन और जैनेतर दर्शनों के बीच सम्बन्धों पर दृष्टिपात करेंगे। जैनदर्शन अनेकान्तवादी होने के कारण किसी सीमा तक उनके विचारों के साथ बैठ जाता है पर हिंसक तत्त्वों के साथ उसने कभी समझौता नहीं किया। उसके दार्शनिक मतभेद भले ही रहे हैं पर मनभेद कभी नहीं रहे। जैनदर्शन ने सभी का अथक सम्मान किया है। किसी का कभी भी हिंसक विरोध नहीं किया। दार्शनिक और चारित्रिक मतभेदों के कारण विवाद होना स्वाभाविक है पर उस विवाद में कटुता कभी नहीं रही।

जैनदर्शन और वैदिक दर्शन

वैदिक दर्शन मूलतः वैदिक साहित्य पर आधारित हैं। वेद किसी एक ग्रन्थ का नहीं, अपितु पूरे साहित्य का नाम है। उसके चार भाग हैं – संहिता (ऋक्, यजुष्, साम और अथर्व), ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। वैदिक धर्म का विकास इन्हीं के माध्यम से हुआ है। बहुदेववाद, एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद की भी आधारशिला ही है। कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड की भी भूमिका का आधार ये ही भाग हैं।

वैदिक दर्शन के साधारणतः छह प्रकार है – न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त। इनके अनुसार ये आस्तिक दर्शन हैं। नास्तिक दर्शनों में जैन, बौद्ध और चार्वाक् आते हैं। यद्यपि नास्तिक की परिभाषा **'वेदनिन्दको नास्तिकः'** सही नहीं है। पर विभाजन तो किया ही गया है। जैनधर्म वस्तुतः आस्तिक है, नास्तिक नहीं। वह आत्मा, पुर्नजन्म और कर्म पर पूर्ण विश्वास करता है।

१) न्याय दर्शन

न्याय का तात्पर्य है जो विवक्षित तत्त्व के पास पहुंचाये। न्याय दर्शन का प्रारम्भ गौतम या अक्षपाद (ई.पू. छठी शताब्दी से ई. की ५ वीं शती तक) से होता है जिनका ग्रन्थ न्यायसूत्र प्रसिद्ध है। वात्स्यायन का न्यायभाष्य भी इसी श्रेणी का ग्रन्थ है जिसपर उद्योतकर, उदयनाचार्य आदि विद्वानों ने उस पर टीकाएं

लिखी हैं। १२वीं शती में गंगेश उपाध्याय हुए जिनसे नव्यन्याय का प्रवर्तन हुआ। न्याय दर्शन में १६ पदार्थ माने गये हैं – प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान। विपर्यय को ख्यातिवाद कहा जाता है। योगाचार का आत्मख्यातिवाद, माध्यमिक का असत्ख्यातिवाद, रामानुज का सत्ख्यातिवाद, प्रभाकर का अख्यातिवाद और न्यायवैशेषिक का अन्यथा ख्यातिवाद प्रसिद्ध है। यहां इन्द्रियों को प्राप्यकारी माना जाता है अतः सन्निकर्ष उनका सम्बन्ध है। इस सन्दर्भ में न्यायदर्शन बाह्यार्थवादी और वस्तुवादी दर्शन है, ईश्वरवादी दर्शन है। वहां अनुमान की सहायता से ईश्वर की सिद्धि की गई है।

२) वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक कणाद ऋषि माने जाते हैं जिन्होंने ल. चतुर्थ शताब्दी ई.पू. में वैशेषिक सूत्रों की रचना की। प्रशस्तपाद का पदार्थधर्मसंग्रह और उदयनाचार्य की लक्षणावलि भी प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। वैशेषिक दर्शन भी वस्तुवादी दर्शन है, जो गोचर जगत् को सत्य मानता है। वह सप्त पदार्थों को मानता है – द्रव्य, गुण, कर्म (गति), समवाय, सामान्य, विशेष और अभाव। उसमें द्रव्यों की संख्या ९ है – पांच महाभूत, काल, दिक्, आत्मा और मन। बौद्ध सिद्धान्त के विरोध में न्याय वैशेषिकों ने 'अपोह' का सिद्धान्त निरूपित किया। परमाणुवाद, आरम्भवाद और असत्कार्यवाद भी उसी की मान्यताएं हैं।

३) सांख्यदर्शन

सांख्यदर्शन के प्रवर्तक कपिल मुनि माने जाते हैं। इस दर्शन की व्यवस्थित व्याख्या ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका में हुई है। इसमें पच्चीस तत्त्व माने गये हैं – प्रकृति, और उसके तेईस विकार तथा पुरुष। सांख्य का सत्कार्यवाद प्रसिद्ध है जो एक तरह का परिणामवाद है। वह जगत् का मूल कारण प्रकृति को मानता है, ईश्वर को नहीं। सांख्य प्रकृति और पुरुष की सिद्धि अनुमान प्रमाण से करता है। ज्ञान से वह मोक्ष मानता है।

४) योगदर्शन

योगदर्शन पतंजलि के पातंजल योग सूत्र पर आधारित है (ई. का द्वितीय शती)। सांख्य अध्यात्मविद्या का सैद्धान्तिक रूप है और योग उसका व्यावहारिक रूप। परिणामवाद उसका प्रमुख सिद्धान्त है। स्फोटवाद एवं ईश्वरवाद भी उसके मुख्य सिद्धान्त हैं।

५) मीमांसा दर्शन

ब्राह्मण ग्रन्थों का मुख्य विषय कर्मकाण्ड है और उपनिषदों का प्रमुख प्रतिपाद्य ब्रह्मज्ञान और आत्मज्ञान है। मीमांसा दर्शन के दो भेद हैं – १) पूर्वमीमांसा जो वैदिक कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में निर्णय देता है, और २) उत्तरमीमांसा जिसमें उपनिषदों की शिक्षाओं को व्यवस्थित किया गया है। पूर्व मीमांसा का मूल ग्रन्थ जैमिनि के सूत्र हैं जिनकी संख्या २७४५ है। उन पर शबर स्वामी (२०० ई.) का भाष्य है। मीमांसा के दो सम्प्रदाय हैं जो शाबरभाष्य पर आधारित हैं – कुमारिल भट्ट और प्रभाकर (गुरु)। कुमारिल भट्ट का वार्तिक और प्रभाकर की वृहती और साध्वी टीकाएं प्रसिद्ध हैं। मीमांसा दर्शन वस्तुवादी है, ईश्वरवादी है, यज्ञवादी है और वेद की अपौरुषेयता को स्वीकार करता है।

६) वेदान्त दर्शन

वेदान्त दर्शन उपनिषदों के बहुत निकट है। शंकराचार्य (७८८–८२० ई.) अद्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठाता हैं। शंकर पूर्व वेदान्त का अध्ययन करने के लिए योगवासिष्ठ और गौडपादाचार्य की माण्डूक्य कारिका नितान्त सहयोगी ग्रन्थ हैं। ये ग्रन्थ अद्वैत दर्शन के लिए आधार शिला हैं। गौडपाद और शंकराचार्य पर बौद्धधर्म का इतना प्रभाव रहा कि उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध कहा जाने लगा। कुमारिल भट्ट के शिष्य मीमांसक मण्डनमिश्र भी शंकराचार्य के अनुयायी होते दिखाई देते हैं।

अद्वैत वेदान्त की मुख्य मान्यताएं हैं

१) एक मात्र तात्त्विक पदार्थ निर्गुण, कूटस्थ नित्य सच्चिदानन्द ब्रह्म है,

२) जीव और ब्रह्म एक ही है

३) उनमें जो भेद दिखता है वह अविद्या मूलक है
४) दृश्यमान् जगत् माया का कार्य है, अतएव मिथ्या है
५) बौद्धों के समान परमार्थ और व्यवहार की मान्यता है
६) सत्कार्यवाद को विवर्तवाद में परिवर्तन करना है।

गौडपादाचार्य द्वारा लिखित माण्डूक्यकारिका पर शंकर का ब्रह्मसूत्र भाष्य प्रसिद्ध है। उस पर अनेक टीकाएं लिखी गई हैं। मोक्षशास्त्र की दृष्टि से अद्वैत वेदान्त का विशेष महत्त्व है और प्रमाणशास्त्र की दृष्टि से न्याय का। वेदान्त सत्कार्यवादी है, ईश्वरवादी है, मायावादी है। प्रस्थानत्रयी की व्याख्या ही वेदान्त है।

वेदान्त दर्शनों में शंकर के अद्वैतवाद के बाद रामानुज (१०१७-११३७ ई.) का विशिष्टाद्वैतवाद प्रसिद्ध है। रामानुज जगत् को वास्तविक, वर्णाश्रमधर्म को अनिवार्य और भक्ति को मोक्ष का आवश्यक साधन मानते हैं। उनके अनुसार संसार में कोई भी तत्त्व निर्विशेष नहीं है, हमारे सारे वक्तव्य सविशेष विषयक होते हैं। ब्रह्म की सत्ता प्रत्यक्ष और अनुमान से नहीं बल्कि श्रुति से ज्ञेय है। उन्होंने मायावाद का विस्तार से खण्डन भी किया है। विशिष्टाद्वैतवाद को श्री सम्प्रदाय भी कहा जाता है। विशिष्टाद्वैतवाद का प्रारम्भ बोधायन द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र वृत्ति से हुआ। रामानुज के श्रीभाष्य, वेदान्तसार, वेदार्थसंग्रह, गद्यत्रय, नित्यग्रन्थ आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। दक्षिण के आलमार सन्तों का भी प्रभाव उन पर है। उनका भक्तिवाद प्रपत्ति का रूप है। यह दर्शन ईश्वरवादी है और ईश्वर के रूप में नारायण या विष्णु को मानता है। उनका अवतारवाद है। वे सत्कार्यवादी हैं।

रामानुज के विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के अतिरिक्त निम्बार्क का द्वैताद्वैत या भेदाभेद, मध्व का द्वैत, बल्लभ का शुद्धाद्वैत और चैतन्य का अचिन्त्य भेदाभेद प्रमुख वैष्णव सम्प्रदाय हैं। ये सभी सम्प्रदाय वेदान्त के प्रस्थानत्रय (वेद-उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता) को आधारभूत ग्रन्थ मानते हैं। रामानन्द आचार्य भी इसी परिधि में हैं। काश्मीर का शैव दर्शन तन्त्र परम्परात्मक है और अनुभव को अधिक महत्त्व देता है। आधुनिक भारतीय वेदान्तिक दर्शनिकों में राजाराम मोहन राय, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, बाल गंगाधर तिलक, रवीन्द्रनाथ टागोर, महात्मा गांधी भी उल्लेखनीय हैं।

चार्वाक् दर्शन

तथाकथित नास्तिक दर्शनों में चार्वाक् दर्शन प्रमुख है। इसका कोई मौलिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। पूर्व पक्ष के रूप में उसके सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है लोकायतिक सूत्रों के रूप में। वृहस्पति (द्वि. शती. ई.पू.) उसके प्रमुख आचार्य रहे हैं। वह मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है। चार्वाक् दर्शन विशुद्ध भौतिकवादी दर्शन है।

जैनदर्शन और वेदान्त

जैनधर्म अहिंसा और अनेकान्तवादी होने के कारण अन्यदर्शनों के साथ मधुर सम्बन्ध बनाये रखने में कभी पीछे नहीं रहा। समन्तभद्र, हरिभद्र, हेमचन्द्र आदि आचार्यो ने उन सभी महापुरुषों को नमस्कार किया है जो आप्त हों, वीतराग हों और सयुक्तिक हों, चाहे किसी भी पन्थ से वे सम्बद्ध रहे हों। इस सन्दर्भ में हरिभद्र ने योगबिन्दु और योगदृष्टि समुच्चय में अपनी सुन्दर अनेकान्तवादी विचारधारा को प्रस्तुत किया है जिसमें उन्होंने जैनेतर दृष्टियों को समादर दिया है। उसकी निश्चयनय और व्यवहारनय की दृष्टि ने सर्वधर्म समभाव की भावना को अधिक सम्बल दिया है। जैन परम्परा में अधिकांश प्रमुख प्राचीन आचार्य वैदिक परम्परा से आये हैं। इसलिए जैनधर्म के प्रचार–प्रसार और विकास में उनका अविस्मरणीय योगदान रहा है। समूची जैन क्रियाओं पर वैदिक क्रियाओं का गहरा प्रभाव है।

इस अनेकान्त विचारधारा के कारण वैदिकधर्म और जैनधर्म परस्पर प्रभावित हुए हैं। ऋषभदेव को विष्णु का अवतार मान लेना और सोमदेव द्वारा उन लौकिक मान्यताओं को स्वीकार कर लेना जिनमें जैन सिद्धान्तों की हानि न हो, ऐसी ही दृष्टि का फल है। वैदिक हिंसक यज्ञों के विरोध में जैनों ने जो आन्दोलन चलाया उसका फल यह हुआ कि वैदिकों ने हिंसक यज्ञ से दूर रहने का संकल्प किया। इसी तरह हेमचन्द्राचार्य और योगीन्दु ने शिव, शंभु और विष्णु के प्रति सम्मान व्यक्त करते हुये आश्चर्य व्यक्त किया कि वे अपने ही आत्मा में रहनेवाले परमात्मा को ठीक तरह से नहीं समझ सके। उसमें सन्निहित वीतरागत्व का अभिवादन भी किया।

जैन तीर्थंकर आप्त, वीतराग और पूर्ण निरासक्त रहे जबकि वैदिक देवता कामुक, हिंसक और आसक्त रहे। जैनों ने उनके इस रूप को अत्यन्त हास्यास्पद माना। हरिषेण ने वृहत्कथाकोश में शिव, रुद्र उमा और विद्याधर के बीच एक पौराणिक कथा को प्रस्तुत कर उनके ऐसे रूप पर सुन्दर कटाक्ष किया है। विष्णु के प्रति–कदाचित् अधिक आदर व्यक्त किया जैनाचार्यों ने। भ. श्रीकृष्ण और नेमिनाथ भाई भाई थे, शायद यह कारण रहा हो। जो भी हो, पर हरिषेण ने धूर्ताख्यान आदि ग्रन्थों में वैदिक आख्यानों पर तीखा व्यंग्य किया है। उन्होंने वेदों को मिथ्याशास्त्र कहकर भी अपनी असहमति व्यक्त की है। रामायण और महाभारत की कथा को अधिक विश्वसनीय और प्रगतिवादी बताया है। वैदिक देवी–देवताओं को अपनाने के पहले जैनों ने उन्हें अहिंसक बना दिया।

जैन दर्शन द्वैतवादी है और वेदान्त अद्वैतवादी। जैनदर्शन पदार्थ का वर्णन दो नयों से करता है, पारमार्थिक और व्यावहारिक। चेतन के साथ वह अचेतन सत्ता को भी स्वीकार करता है। इसलिए यथार्थवादी है। वह चेतन में अचेतन की और अचेतन में अचेतन की ही संज्ञा करता है। परन्तु वेदान्त पारमार्थिक और व्यावहारिक के साथ ही प्रातिभासिक सत्ता को भी स्वीकारता है जिसके अनुसार ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्य है। शेष सभी की वास्तविक सत्ता नहीं है, उसकी प्रातिभासिक सत्ता है। चेतन या ब्रह्म से भिन्न अचेतन की कोई सत्ता नहीं। इसलिए वेदान्त आदर्शवादी है।

जैनदर्शन की दृष्टि में निश्चयनय मुख्य है, और व्यवहारनय गौण है। चेतन की सत्ता मौलिक है और नय या पर्याय मौलिक नहीं हैं। वेदान्त जगत के मूल तत्त्व की व्याख्या मात्र निश्चयनय से करता है और व्यवहार जगत उसके लिए असत् है, प्रातिभासिक है। जैनदर्शन जिसे अनित्य मानता है वह सत् का ही एक अंश है पर वेदान्त उसे मिथ्या मानता है। जैनदर्शन व्यवहारनय को अस्वीकार नहीं करता।

जैनदर्शन जगत आदि तत्त्वों की व्याख्या अनेकान्तवादी दृष्टिकोण से करता है। निश्चयनय से वह अभेद की स्थापना करता है और व्यवहारनय से उसमें भेदत्व की प्रस्थापना करता है। इसलिए स्याद्वाद की दृष्टि से कोई भी दर्शन न सर्वथा द्वैतवादी है और न सर्वथा अद्वैतवादी। जैन दर्शन द्रव्य और पर्याय को

एक नहीं मानता और चेतन–अचेतन के अस्तित्व को पृथक्–पृथक् रूप से स्वीकार करता है इसलिए वह द्वैतवादी है। जीवों की अनन्तता स्वीकार करता है इसलिए वह बहुत्ववादी है। इसी तरह जब अशुद्धता से शुद्धता की और अनित्यता रूपी पर्याय से नित्य रूपी द्रव्य की ओर बढते हैं तब हम उसे अद्वैतवादी और अभेदवादी मानते हैं। उसकी दृष्टि में सत्ता का कोई भी रूप बिलकुल असत्य और प्रातिभासिक नहीं है।

वेदान्त ज्ञानमार्गी है पर जैनदर्शन ज्ञानमार्गी और कर्ममार्गी दोनों है। वह ज्ञान के साथ ही कर्म को भी उतना ही महत्त्व देता है और दोनों की समुच्चय स्थिति को ही स्वीकार करता है। न कोरा ज्ञान ठीक है और न कोरा कर्म ठीक है। कर्म के समाप्त होने पर ही मोक्ष होता है। जैनदर्शन ने अनुमान आगम आदि को परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत माना है जबकि वेदान्त में उन्हें स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है।

वैदिक दर्शनों में सांख्य–योग, न्याय–वैशेषिक, मीमांसक आदि सभी दर्शन संमिलित हैं। चार्वाक्, जैन और बौद्ध दर्शनों को छोडकर लगभग सभी भारतीय दर्शन वैदिक दर्शन हैं। जैन साहित्य में इन सभी दार्शनिक सम्प्रदायों की मीमांसा की गई है। चार्वाक् तो नितान्त भौतिकवादी दर्शन है। आत्मा और कर्म के भी अस्तित्व पर वह संदेह व्यक्त करता है। उसके दर्शन का भी खण्डन किया गया है यहां उसे हम छोड भी दें तो वैदिक दर्शनों की मीमांसा में जैनाचार्यों ने अपने दार्शनिक साहित्य का बहुभाग लगाया है और उनके एकान्तवाद का खण्डन किया है। इधर यह भी ऐतिहासिक तथ्य है कि वैदिकों और वीरशैवों ने हजारों जैन कला, मन्दिर और शास्त्र भण्डारों को नष्ट कर दिया या अपने अधिकार में कर लिया। फिर भी जैन परम्परा ने वैदिक परम्परा को सदैव सम्मान दिया है।

जैनदर्शन और बौद्धदर्शन

बौद्धधर्म के संस्थापक भ. बुद्ध भ. महावीर के ल. समकालीन है। पालि त्रिपिटक में उनके धर्म और दर्शन का प्रारूप निहित है। उत्तरकाल में उसने संस्कृत भाषा को भी अपनाया। इसमें हीनयान और महायान दोनों सम्प्रदायों का

विपुल साहित्य उपलब्ध है। कुछ ग्रन्थ मिश्रित संस्कृत में भी मिलते हैं। बौद्ध सिद्धान्तों में चतुर्रायसत्य, प्रतीत्य समुत्पाद, अनात्मवाद, क्षणिकवाद और अनीश्वरवाद प्रमुख हैं। उत्तरकाल में स्थविरवाद में अठारह निकायों का विकास हुआ। सर्वास्तिवाद, सौत्रान्तिक और महासांघिक इन्हीं की परिधि में घूमते रहे हैं। हीनमान के मुख्य सम्प्रदाय हैं – सौत्रान्तिक और वैभाषिक। इसी तरह महायान दर्शन के प्रमुख दो सम्प्रदाय हैं – माध्यमिक या शून्यवाद और योगाचार या विज्ञानवाद। शून्यवाद के प्रस्थापक आचार्य नागार्जुन हैं और विज्ञानवाद या योगाचार का प्रचार आचार्य असंग ने किया है। महायानी दार्शनिकों में दिङ्नाग आर्यदेव, मैत्रेयनाथ, वसुबन्धु धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित प्रमुख हैं।

पालि–प्राकृत साहित्य के अध्ययन से ऐसा लगता है कि महावीर और बुद्ध समकालीन ही नहीं थे बल्कि वे एक ही समय एक ही नगर में पहुंचने के बावजूद कभी एक दूसरे से मिले नहीं। इसमें मूल कारण यह था कि तीर्थंकर महावीर मूलतः अन्तर्मुखी थे और महात्मा बुद्ध अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी व्यक्तित्व सम्पन्न थे। सर्वोच्च आध्यात्मिक अवस्था पाने के बाद परस्पर मिलना आवश्यक नहीं है। महावीर को पालि साहित्य में निगण्ठनातपुत्त के नाम से स्मरण किया गया है। उनके त्याग, तपस्या और परिनिर्वाण का उल्लेख भी वहां मिलता है, सर्वज्ञता का भी, पर एक उपेक्षा, तिरस्कार और आलोचना के साथ। पर प्राकृत आगम साहित्य में बुद्ध के विषय में प्रायः कुछ भी नहीं मिलता। सूत्रकृतांग में थोडा सा उल्लेख अवश्य हुआ है पर वह भी नगण्य है।

उत्तरकालीन जैन साहित्य में बुद्ध के विषय में विशेष रूप से बौद्ध दर्शन के विषय में अवश्य मिलता है। शीलांकाचार्य ने सूत्रकृतांग की टीका में, समन्तभद्र, हरिभद्र, अकलंक, विद्यानन्द, हेमचन्द्र आदि के दार्शनिक साहित्य में और देवसेन के दर्शनसार में बौद्धदर्शन की अच्छी समीक्षा की गई है। देवसेन ने बुद्ध को पार्श्व परम्परा में दीक्षित मुनि भी बताया है।

बौद्ध साधना पद्धति में भी अन्तर है। बौद्धधर्म मांस भक्षण को प्रश्रय देता है जबकि जैनधर्म शुद्ध शाकाहार को। उसकी दृष्टि में बौद्ध भिक्खु जैन साधारण श्रावक से भी पतित है। वृहत्कथाकोश, कथाकोशप्रकरण, मूलशुद्धि

प्रकरण आदि ग्रन्थों में तो ऐसे भी उद्धरण मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि बौद्ध समुदाय ने जैन समुदाय पर कठोर आघात किया है।

जैनधर्म और बौद्धधर्म श्रमण धर्म की शाखायें हैं इसलिए काफी समानतायें होना स्वाभाविक हैं। पर बौद्धधर्म का अनात्मवाद और क्षणभंगुरवाद जैनाचार्यो के लिए एक आलोचना का विषय रहा है जिसपर न्याय साहित्य में खूब विचार किया गया है। वहां बौद्धधर्म को एकान्तवाद की ओर झुका दर्शन माना गया है। अकलंक ने इस पर अच्छा प्रकाश डाला है।

इसके बावजूद हरिभद्र जैसे भी आचार्य हुए हैं जिन्होंने योगबिन्दु आदि ग्रन्थों में बौद्धदर्शन के योगदान को स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने ललितविस्तर के आधार पर ललितविस्तरा ग्रन्थ भी लिखा है।

महात्मा बुद्ध के चार आर्यसत्य जैनधर्म के सप्त तत्त्वों में भी देखे जाते हैं। उनकी करुणा को महावीर की अहिंसा और संयम में अन्तर्भूत किया जा सकता है। अणुव्रतों की तुलना किसी सीमा तक मध्यममार्ग से की जा सकती है। प्रज्ञा, शील, समाधि को रत्नत्रय से मिलाया जा सकता है। आश्रव, संवर, निर्जरा आदि जैसे पारिभाषिक शब्द दोनों परम्पराओं में समान रूप से व्यवहृत हुए हैं। अव्याकृतवाद और विभज्यवाद में बौद्धदर्शन का झुकाव कुछ अनेकान्तवाद की ओर दिखाई देता है पर उत्तरकाल में उसने अपनी मध्यममार्गी दृष्टि को छोडकर एकान्तवाद की ओर चरण बढा लिये। फलतः जैन दर्शन से दूरी होती चली गई। जैन दर्शन की अपेक्षा बौद्ध दर्शन में विकास अधिक हुआ है। जैनाचार्यो ने अपनी अनेकान्तवादी विचारधारा के अनुसार बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों के सर्वनैरात्म्यवाद, अवाच्यतैकान्तवाद, क्षणभंगवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद, परापेक्षारूप सम्बन्धवाद आदि सिद्धान्तों का खण्डन किया है। बौद्धधर्म का अनात्मवाद प्रसिद्ध है पर वह पुनर्जन्म भी मानता है और निर्वाणवादी भी है। अतः गहराई से विचार किया जाये तो उसका अनात्मवाद मूलतः पदार्थ के प्रति ममत्व भाव त्यागने के सन्दर्भ में था पर कालान्तर में उसकी व्याख्या अनात्मवाद की ओर बढ गई जो पुनर्जन्मवादी होने पर पंगु–सी ही दिखाई देती है। मेरी दृष्टि में वह शुद्ध आत्मवादी दर्शन है और अनात्मवाद उसके विकास का फल है। इसे हमने अपनी "बौद्ध संस्कृति का इतिहास" नामक पुस्तक में प्रस्थापित करने

का प्रयत्न किया है। यहां मूलतः अनात्मवाद का सम्बन्ध अनासक्ति भाव से रहा है जो कालान्तर में आत्मा के अनस्तित्व की ओर मुड गया।

चूंकि बौद्ध दर्शन श्रमण दर्शन है, जैनधर्म के समान, इसलिए दोनों दर्शनों में समानतायें मिलना स्वाभाविक है। बौद्धधर्म महावीरकालीन है और जैनधर्म उससे बहुत पूर्ववर्ती सिद्ध होता है। इसलिए जैनधर्म का प्रभाव बौद्धधर्म पर होना स्वाभाविक है। इसी के साथ ही बौद्धधर्म के लोकोत्तरवादी तत्त्वों से जैनधर्म भी प्रभावित हुआ है। करुणा, दान, पुण्य आदि का वैचारिक क्षेत्र परस्पर जुडा हुआ है। बौद्धधर्म आचार के क्षेत्र में मध्यम मार्गी रहा इसलिए उसे लोकप्रियता अधिक मिली।

जैनधर्म और ईसाई धर्म

ईसाई धर्म (Christinity) Jewish term Messiah है जिसे ग्रीक में मसीहा कहा जाता है। उसका पूर्व रूप Jews है। इसलिए यहां Old Testament और New Testament दोनों को स्वीकार किया गया है। Christ को धर्म, व्यक्ति और समाज, तीनों में प्रधान माना गया है। समाज में भी उसकी भागेदारी है। उसका वह प्रमुख है, सत्य दृष्टा है, पथ–दर्शक है, चर्च में भी सक्रिय है। यहां हिंसक अनुष्ठान की भी व्यवस्था है। Christ की कृपा पर ही मोक्ष मिल पाता है। इसलिए श्रद्धा, प्रार्थना, दान, सेवा और बाइबिल का ज्ञान उसके लिए आवश्यक है। ईश्वर ही सृष्टि का कर्ता धर्ता है। यहां मान्य Resurrection, Judgement को हम कर्म व्यवस्था कह सकते हैं। आत्मा के अस्तित्व की भी स्वीकृति ईसाई धर्म में है। अब तो पुनर्जन्म को भी किसी न किसी रूप में स्वीकारा जाने लगा है।

बारहवीं शताब्दी तक ईसाई धर्म में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया प्रारम्भ में Cathalic sect ही था। बाद में सुधारवादी Protestent सम्प्रदाय खडा हो गया फिर Anabaptist भी Monastery के आधार पर एक अलग सम्प्रदाय बन गया। Baptism में हृदय परिवर्तन के लिए पानी का विशेष उपयोग किया जाता है। Bread, Wine, dress और music को भी इस धर्म में अच्छा महत्त्व दिया गया है।

बारहवीं शताब्दी के बाद सन्त **Thomas Aquinas** का विशेष योगदान रहा है ईसाई धर्म के विकास में। तबतक ग्रीक दर्शन से भी उसका परिचय हो गया था। उसमें दार्शनिक को शसरप कहा जाता था। प्लेटो और अरिस्टोटल इसी श्रेणी में आते हैं। **Christ** के बाद जन्में दार्शनिकों को धर्मनिन्दक और अनीश्वरवादी कहा गया। ऐसे लोगों में **Alfarabi, Abieenna, Gabirol** और **Averroes** आते हैं । **Thomas A.** ने धर्म को अधिक उदारवादी बनाया और **Theology** को नया रूप दिया। उसने दर्शन में अरिस्टोटल का अनुगमन किया और **Theology** में **Christ** को। अन्य दर्शनों के अध्ययन का भी मार्ग उन्होंने प्रशस्त कर दिया ताकि ईसाई सत्य को गहराई से समझा जा सके। तब विज्ञान और दर्शन का भी अध्ययन होने लगा।

दार्शनिक अध्ययन में पवित्र आगम ग्रन्थों के विशिष्ट अध्ययन को महत्त्व दिया गया है जिनका सीधा सम्बन्ध ईश्वर (**Christ**) से हो। ईश्वर ही व्यक्ति को बचाता है। इस दैवी अभिव्यक्ति का उद्घाटन, प्रकाशन किया जाना चाहिए। उसकी लोकोत्तर शक्ति पर भी विश्वास करना होगा। **Thomas** ने उसे वैज्ञानिक भी माना है। इसका आधार यह है कि आगम बाईबिल आदि ऐतिहासिक है और उसमें सूर्य, चन्द्र, मनुष्य, पशु, पौधे, खनिज, संसार आदि का अच्छा वर्णन है। **Morality** (आचार) को भी यहां **ethicso** (नीति) में संमिलित कर दिया गया है।

ईसाई धर्म का मूल सिद्धान्त है ईश्वर का अस्तित्व। वही ईश्वर संसार स्वर्ग और नरक का निर्माता है। उसी की कृपा से व्यक्ति स्वर्ग–नरक जाता है। हर प्राणी को इस सत्य का ज्ञान होना चाहिए। मनुष्य को उसीने पैदा किया है और वही उसे बचा सकता है। कारण और कार्य से यह तथ्य समझा जा सकता है। उसकी सत्ता स्वयंसिद्ध है। सृष्टि का वह कारण है और सृष्टि उसका कार्य है। बाइबिल में इसकी पुष्टि की गई है। ईश्वर का ज्ञान और उसके अस्तित्व की प्रतीति ध्यान के माध्यम से हो पाती है। इन्द्रियों से उसका ज्ञान नहीं हो सकता। ईश्वर के द्वारा ही हमें वह ज्ञान मिल सकता है। मानव में स्वतन्त्र रूप से उसे जानने की क्षमता नहीं है। वह परमतत्त्व और सर्वगुण सम्पन्न है, सर्व व्यापक है, सत्यनिष्ठ है, सभी प्राणियों के अस्तित्व में वह कारणभूत है। वह उनका रक्षक है और बचाने वाला भी है।

ईसाई धर्म में आत्मा का अस्तित्व एक विवादास्पद प्रश्न बना रहा है। शरीर और आत्मा का विशेष सम्बन्ध रहा है, उनमें एकात्मकता है। शरीर के नष्ट होने पर आत्मा की नित्यता सिद्ध होती है। प्लेटो ने तो यह भी कहा है कि आत्मा में ज्ञान संस्कार रूप से रहता है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप श्रेयस् का ज्ञान है। वही परम पद की प्राप्ति में कारण होता है। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन का जन्मदाता और द्वितत्त्ववाद का प्रवर्तक देकार्त भी प्लेटो और अरस्तु का अनुकरण करता है। उसके अनुसार आत्मा सरल, एकत्वपूर्ण, विस्तारहीन या अप्रसारित, अविभाज्य, अभौतिक, सक्रिय, चेतन, अद्वितीय, गतिशील, प्रयोजनात्मक, नित्य, अमर, शाश्वत, स्वतन्त्र तथा निरन्तर द्रव्य है। ह्यूम ने किसी नित्य आत्मा को तो नहीं माना पर काण्ट ने उसके अस्तित्व को अवश्य अस्वीकार किया है और उसे अमूर्त एकता (Abstract unity) माना है। लौक और वर्कले ने भी आत्मा के इसी स्वरूप को स्वीकार किया है। ये सभी दार्शनिक जैन दर्शन के समीप किसी न किसी सीमा तक बैठते हैं। ह्यूम, विलियम जेम्स और ब्रेडले आत्मा को अनित्य और परिवर्तनशील मानते हैं। जैन दर्शन के समान अरस्तु के मत में भी आत्मा की वास्तविक शक्ति के रूप में ज्ञान को स्वीकार किया गया है।

जैनदर्शन ने आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व माना है और उसके नित्यत्व और अनित्यत्व के संदर्भ में अनेकान्तवाद के आधार पर विचार किया है। पाश्चात्य दार्शनिकों ने जो भी विचार रखे हैं। उनका अन्तर्भाव प्रायः इन दोनों पहलुओं में हो जाता है।

ईसाई धर्म में अब पुनर्जन्म पर अधिक विश्वास किया जाने लगा है। तेरहवीं शताब्दी से इस विषय पर विश्वास अधिक जागा है। इस सन्दर्भ में अनेक सर्वेक्षण हुए हैं और अनेक ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए हैं। कतिपय ग्रन्थों का उल्लेख किया जा सकता है –

1. **Reincornation : Wheels of a Soul, by Berg, Rabbi Philip S. New York, 1991.**

2. **Death of the reincornation of life, by Bloch, Maurice of Jonathan Party, Cambridge, 1982.**

3. Reincarnation, The cycle of Necessity by Hall, Manly Palnet, Los Angeles, 1946.

4. Death of eternal life by Hick, John H. New York,1976.

5. Reincarnation an East west Anthology by Head Joseph of cranston, Wheaton, 1961.

6. The wheel of life of death by Kapleau, Philip, Doubleday, 1989.

7. Afterlife: The other side of dying by Kelsey, Morton, New York, Crossroad, 1979.

8. Eternal life:Life after death as a Medical Philosaphical and Theological problem, by Kung, Hans, New York, 1984.

9. Life after death : A study of the afterlife in world Religions by Ma'summian Farnaz, oxford, 1995.

10. The life beyond death by Rameharak Yogi, Chicago,1937.

11. Jewish Vicws of the afterlife by Raphael, Simcha Paull, New Jersey, 1994.

12. Jewish Reflections on Death by Reimer, Jack, New York, 1974.

13. The Soul after Death by rose, Seraphim, 1993.

14. Life between Death of Rebirth, by steiner, Rudolf, New York, 1968.

15. Death, Afterlife, on the Soul by sullivan, Lawrence, New York,1949.

इस विषय पर भारत में भी कार्य हुआ है और हो रहा है। जैनधर्म तो प्रारम्भ से ही पुनर्जन्म का पक्षधर रहा है और जातिस्मरण के माध्यम से ध्यान प्रक्रिया से पूर्वजन्मों की स्मृति संभव है यह स्थापित करता है। राजस्थान में एक

संस्थान ने इस क्षेत्र में अच्छा कार्य किया है। हैदराबाद में डॉ. न्यूटन कोंडावेटी और लक्ष्मी कोंडावेटी भी सम्मोहन के माध्यम से यह कार्य कर रहे हैं। उन्होंने सन् २००० में वहां लाइफ रिसर्च अकादमी की स्थापना की और वे पूर्वजन्म पर आधारित उपचार कर रहे हैं। उन्हें सन् २०१२ में ओजस्विनी अलंकरण से सम्मानित भी किया गया है।

सृष्टि के सन्दर्भ में पाश्चात्य दार्शनिकों में कुछ ईश्वरवादी हैं, कुछ अनीश्वरवादी हैं और कुछ विकासवादी हैं। प्लेटो ईश्वर को भविष्य के रूप में, देकार्ते सभी वस्तुओं के निर्माता के रूप में, स्पिनोजा सार्वभौम के रूप में, लेवनित्ज चिद्‌बिन्दु सम्राट् के रूप में, वर्कले महाप्रयोजन के रूप में तथा हेगेल निरपेक्ष चैतन्य के रूप में ईश्वर को देखते हैं। विकास क्रम की दृष्टि से प्राणवाद, जीववाद, द्वैतवाद, एकेश्वरवाद, देववाद, सर्वेश्वरवाद, सर्वचेतनावाद आदि सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं। धर्मनिरपेक्षता की दृष्टि से ईश्वर के अस्तित्व को भी अस्वीकार किया गया है और यह कहा गया है कि कार्य–कारण नियम का ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं। इस सन्दर्भ में एकतत्त्ववाद के स्थान पर बहुतत्त्ववाद को प्रस्तुत किया गया जो जैन दर्शन से कुछ मेल खाता है।

जैनधर्म के समान ईसाई धर्म में भी सामाजिक और राजनीतिक आचार संहिता है। मनुष्य विवेकी है और उसके विवेक को जागृत और विकसित करने के लिए समाज की आवश्यकता होती है। समाज में रहकर ही वह व्यावहारिकता सीखता है। ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर ने अपनी शक्ति और विवेक बुद्धि से सांसारिक पदार्थों की रचना की है और मनुष्य उनका उपयोग उसके अनुसार ही करता है। प्राकृतिक पदार्थों के निर्माण में भी ईश्वर का दैवी कानून "Natural Law" काम करता है। समाज के निर्माण में भी ईश्वर की शक्ति और बुद्धि ही कारण है। सामाजिक, असमानता, हीनता–उच्चता में भी वही कारण है। मूलतः यहां वर्ण या जातिभेद नहीं है पर फिर भी व्यवहार में वह दिखाई देता है।

ईसाई धर्म में पूर्ण अहिंसा पर जोर नहीं दिया गया है। बुराई को रोकने के लिए हिंसा क्षम्य मानी गई है। इसके बावजूद चूंकि हिंसा प्रकृति के विपरीत है और प्रकृति की रचना ईश्वर का कार्य है, हिंसा साधारण तौर पर ईसाई धर्म में ईश्वर का कृत्य नहीं माना गया। हिंसा को यहां धर्म नहीं कहा गया है। प्रकृति को

ईश्वर जैसा आदर दिया जाना चाहिए। यही ईश्वर की इच्छा है। ईश्वर की इस इच्छा का उलंघन करना ईश्वर का ही अपमान है।

जैनधर्म में इस प्रकार के ईश्वर का कोई स्थान नहीं है। वहां व्यक्ति का कर्म ही सब कुछ है। सृष्टि का निर्माण उपादान और निमित्त कारणों से होता है। उसमें ईश्वर का कोई हाथ नहीं रहता। स्वर्ग–नरक, सुख–दुःख भी व्यक्ति के ही कर्मों का फल है। ईश्वर उसमें कार्यकारी नहीं है। उसकी कृपा और क्रोध का कोई तात्पर्य नहीं है। कुल मिलाकर ईसाई धर्म ईश्वरवादी होने के कारण परतन्त्रतावादी है और धर्म के नाम पर हिंसक बलिदान में भी विश्वास करता है पर जैनधर्म इस सन्दर्भ में पूर्ण स्वतन्त्रतावादी, लोकतान्त्रिक और अहिंसावादी है। उसकी करुणा और सेवा व्रत भी ईसाई धर्म की करुणा और सेवा व्रत से बहुत गहरा है। इसरायल–जेरूसलम में जन्मा यह ईसाई धर्म एकेश्वरवादी है। Moses ही ईश्वर है, नित्य है, और सृष्टिकारक है। उसमें अटूट श्रद्धा रखने से व्यक्ति का उद्धार हो जाता है। पर जैनधर्म स्वतन्त्रतावादी, कर्मवादी और आत्मवादी और वीतरागता का पूजक धर्म है। उसका ईश्वर राग–द्वेष से विरहित है।

Zoroastrianism ईरान का पारसी धर्म है। अवेस्ता उसका धर्म ग्रन्थ है। यह धर्म भी Zoroaster को सृष्टिकर्ता मानता है। उसकी दृष्टि में वही एक सर्वभूत परमेश्वर है। उसी की प्रार्थना और अग्निपूजा से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

इस्लाम

इस्लाम वर्ण, जाति और राष्ट्र से परे ऐसा धर्म है जो एकेश्वरवादी है Judaism और Christianity के समान। इस्लाम के प्रवर्तक, मुहम्मद का जन्म अरब में लगभग ५७० ई. में हुआ और मृत्यु ६३० ई. में। उनका परिवार, ईसाई था और समृद्ध था। ईसाई स्कूल में उनकी शिक्षा भी हुई। बाद में ईसाई पादरी बहीर से उनके विशेष सम्बन्ध भी रहे। Judaism और Christianity से मुहम्मद ने सिद्धान्तों को लेकर उनमें कुछ सुधार किया और इस्लाम धर्म की स्थापना की। इसमें भी जातिवाद को कोई स्थान नहीं दिया गया। Jesus,

Moses और **Abraham** को यहां बडे सम्मान के साथ देखा गया है। अल्लाह को ही इसमें ईश्वर माना गया और उसे ही क्रिश्चियन और ज्युडिस्म का परमात्मा जैसा स्वीकार किया गया। कुराण इस्लाम का धर्म ग्रन्थ है।

इस्लाम का अर्थ समर्पण (**Submission**) है। सर्वशक्ति संपन्न और सर्वज्ञ अल्लाह सृष्टि का कर्ता है और उसी की इच्छानुसार इस्लाम उसके प्रति समर्पण की शर्त रखता है। वह दैवी रूप नहीं, बल्कि मर्त्य रूप है। यूरोपियन ईसाइयों के कारण इस्लाम और ईसाई धर्म में विरोध पैदा हो गया। मुसलिम समुदाय को ईसाईविरोधी करार दिया गया और उन्हें अविश्वसनीय और अनीश्वरवादी माना गया। दोनों समुदायों के बीच आज भी विरोधी वातावरण दिखाई देता है। मुसलिम समुदाय में आतंकवादी प्रवृत्ति और हिंसात्मकवृत्ति अधिक है और धर्म के फैलाव में हिंसा और बल पर उसमें अधिक जोर दिया जाता है। यही कदाचित् ऐसा तत्त्व है जिससे दोनों धर्मों के समुदायों के बीच टकराव पैदा होता रहा है।

मुसलिम होने की कुछ शर्तें इस्लाम में नियोजित की गई हैं। उसके सिद्धान्त हैं – १) सब कुछ एक अनुपम ईश्वर है, २) उस ईश्वर के प्रति समर्पण भाव आवश्यक है, ३) अल्लाह ही ईश्वर है, वह अशरीरी और नित्य है, ४) सब कुछ अल्लाह का दिया हुआ है, ५) मृत्यु के बाद आत्मा को अल्लाह के निर्णय के बाद अपने कर्मों के अनुसार स्वर्ग और नरक में भेज दिया जाता है, ६) अल्लाह स्वतन्त्र इच्छा रखने के लिए स्वीकृति देता है, ७) निस्वार्थता अल्लाह के प्रति कृतज्ञता है, अधिकार के साथ कर्तव्य जुडा हुआ है, ८) व्याज लेना अपराध है, ९) अनुकम्पा, १०) साहस, ११) भ्रातृत्व भावना, १२) उदारता, १३) ईश्वर के साथ तादात्मकता, १४) प्रार्थना–नमाज–ध्यान, १५) दान, १६) उपवास, १७) तीर्थयात्रा। इन सब के बावजूद इस्लाम धर्म में बकरी ईद आदि का रूप हिंसक बलिप्रथा के रूप में है ही। मूक पशुओं की बलि देकर ईश्वर को मनाने की यह घिनौनी दानवी प्रथा कहां तक सही है?

अल्लाह के अतिरिक्त इस्लाम में तीन देवियों को भी माना गया है – **al-lal, al-uzza** और **Manat.** भूत–पिशाचों को यहां **Jinn** कहा जाता है। अब्राहम को लगभग ईश्वर जैसी ही श्रेणी दी गई है। इस्लाम के मुख्यत: दो भेद

हैं – सिया और सुन्नी। इनके अतिरिक्त Kharijites, Hanbalites, Mutazitites, Falasifa, Sufies ये सभी सम्प्रदाय दुनियां के कोने–कोने में फैले हुए हैं।

जैनधर्म इस्लाम धर्म के व्यावहारिक रूप का समर्थन तो करता है पर उसकी बलिप्रथा और परतन्त्रवादी वृत्ति का कतई समर्थक नहीं हो सकता। जैनधर्म पूर्ण अहिंसावादी दर्शन है, राष्ट्रवादी चिन्तन है, प्राणिमात्र के कल्याण करने में विश्वास करता है। इसलिए इस्लाम के साथ उसकी यथार्थ समानता नहीं बैठाई जा सकती है।

******

परिवर्त – ३

अनेकान्तवाद

अनेकान्तवाद

जैन परम्परा वस्तु को अनन्तधर्मात्मक मानती है। चूंकि उसे एक साधारण व्यक्ति पूरी तरह समझ नहीं सकता इसलिए उसे विविध दृष्टियों से समझने–समझाने का प्रयत्न जैन दर्शन ने किया है। संघर्ष और मतभेदों को दूर करने का उपाय भी यही है कि दूसरे की दृष्टि को भलीभांति समझा जाये और उसे समादर दिया जाये। जैनधर्म ने इसी सापेक्षिक दृष्टि को सामने रखा है। इसी को दार्शनिक परिभाषा में अनेकान्तवाद कहा जाता है जो अहिंसा का ही एक अकाट्य अंग है। प्राचीन ग्रन्थों में इसे विभज्यवाद भी कहा जाता था। जैन–बौद्ध और वैदिक दर्शनों में भी यह अवधारणा रही है। नैयायिकों ने 'अनेकान्त' शब्द का प्रयोग किया है। सांख्य–योग दर्शन भी इस तत्त्व से अपरिचित नहीं रहा। बौद्धदर्शन भी एकंस, अनेकंस और विभज्यवाद जैसे शब्दों का प्रयोग करता रहा है। कुमारिल ने भी श्लोकवार्तिक में उसका स्मरण किया है। शंकर ने पारमार्थिक सत्य और व्यावहारिक सत्य की व्यवस्था कर उसे स्वीकार किया है। इसके बावजूद ये सभी दर्शन एकान्तवाद की ओर झुकते गये जबकि महावीर और उनके अनुयायी जैनाचार्यों ने प्रारम्भ से ही अनेकान्तवाद का आश्रय लिया। नयवाद और स्याद्वाद उसी के भेद हैं। वस्तुतत्त्व पर अनेकान्तवाद के आधार पर ही विचार किया गया है। समूचा जैन साहित्य इसका प्रमाण है।

सापेक्षिक और समन्वयात्मक दृष्टि

अनेकान्तवाद अनन्त विरोधी युगल धर्मों और गुण–पर्यायों को समन्वित रूप से विचार करने का एक अनुपम साधन है। शब्द प्रदेशादि भाव से विविधार्थक होते हैं। सन्दर्भों के परिप्रेक्ष्य में ही उनके अर्थों को समुचित ढंग से समझा जा सकता है और उनमें सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। उनकी सापेक्षता ही अनेकान्तवाद है। उसकी स्वीकृति ही सत्य की स्वीकृति है। सत्य को यथारूप जानने के लिए पदार्थ पर चार दृष्टियों से विचार किया जाता है – द्रव्य, क्षेत्र,

काल और भाव। इसे स्वद्रव्यचतुष्टय कहा जाता है। पदार्थ इनकी अपेक्षा से सत् माना जाता है और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से असत् कहा जाता है। ये सत्–असत् आदि धर्म सर्वथा विरोधी या सर्वथा अविरोधी नहीं बल्कि सापेक्षता पूर्वक रहने वाले तत्त्व हैं। विवक्षा भेद से उनमें प्रमुखता और गौणता स्थापित हो जाती है। इसके लिए उदाहरण दिया जा सकता है कि चलते समय एक पैर आगे बढता है और एक पैर पीछे रहता है। इसी तरह नवनीत निकालते समय एक हाथ आगे रहता है और एक पीछे। इसके बिना न कोई आगे बढ सकता है और न कोई नवनीत निकाल सकता है। यह मन्थन प्रक्रिया वस्तुतः एक व्यावहारिक दर्शन है जिसके आधार पर तालमेल बैठाया जाता है। इसे आयन्सटीन के शब्दों में **Theory of Relativity** कहा जा सकता है।

अनेकान्तवाद जैन दर्शन का मूलभूत सिद्धान्त है। इसके अनुसार प्रत्येक पदार्थ अपने विरोधी युगल के साथ रहता है। जहां वस्तु उत्पन्न होती है वहीं उसके एक रूप का विनाश भी होता है और उत्पत्ति और विनाश के बीच उसी का एक तत्त्व ध्रुवत्व सेतु का काम करता है। इस विरोधी युगल को हम पाजेटिव और निगेटिव की संज्ञा भी दे सकते हैं । सत्–असत्, लोक–अलोक, विधि–निषेध, गति–स्थिति, जीवन–मरण आदि जैसे विरोधी युगलों के बीच संघर्ष अनिवार्य होता है। इसी संघर्ष में सह–अस्तित्व के भाव छिपे हैं। विरोधी युगल स्वभावतः एक साथ रहते हैं। यह पदार्थ की प्रकृति ही है। पदार्थ को हर व्यक्ति अपनी–अपनी दृष्टि से देखता है और समझता है। सर्दी–गर्मी की तरह उसके सभी पक्ष एक साथ बने रहते हैं बिना किसी विरोध के, प्रकाश और अन्धकार के समान।

प्रत्येक तत्त्व में समानता और असमानता ये दोनों तत्त्व एक साथ सापेक्षता पूर्वक विद्यमान रहते हैं। उनमें कुछ व्यक्त होते हैं, कुछ अव्यक्त होते हैं। वे सभी एक दूसरे से जुडे हुए रहते हैं। उनमें सर्वथा विरोध जैसा कोई तत्त्व नहीं रहता। अन्यथा अमूर्त आत्मा और मूर्त शरीर में कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। आत्मतुला का सिद्धान्त भी इसी सिद्धान्त से जुडा हुआ है।

पदार्थ के इन परस्पर विरोधी तत्त्वों को एक साथ प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। भाषा में यह शक्ति नहीं होती कि वह इस प्रकार के विरोधी तत्त्वों

को एक साथ व्यक्त कर सके। भाषा की इस दुर्बलता को दूर करने के लिए जैन दर्शन ने 'स्यात्' शब्द की खोज की और उसके माध्यम से उसने वक्ता को तथ्य के समीप पहुंचा दिया। 'स्यात्' शब्द के प्रयोग से प्रमुखता और गौणता के आधार पर पदार्थ के सत् और असत् दोनों पक्ष विवृत हो जाते हैं। द्वन्द्व में दो तत्त्व होते हैं जिनमें संघर्ष होना स्वाभाविक है पर 'स्यात्' लगा देने पर उनके बीच द्वन्द्व कम हो जाता है और सापेक्षता के आधार पर वे व्यक्त हो जाते हैं। जीवन व्यवहार इसी गौण–मुख्य आधार पर चलता रहता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने इस सन्दर्भ में बहुत अच्छा उदाहरण देकर कहा है कि नवनीत निकालते समय एक हाथ आगे जाता है और दूसरा हाथ पीछे जाता है। दोनों हाथ यदि एक साथ आगे–पीछे चलें तो नवनीत निकल नहीं सकता। इसी तरह जीवन–व्यवहार भी गौण–मुख्य व्यवस्था के बिना चल नहीं सकता।

एकेनाकर्शयन्ती श्लथमन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ।।

कला के क्षेत्र में भी यही स्थिति है। जैन मूर्तियों को अर्धोन्मीलित नेत्र में उकेरा जाता है। इसका तात्पर्य है कि साधक न आंख पूरी तरह से बन्द करे और न पूरी तरह से खोले रखे। बल्कि उसे आधी खोलकर और आधी बन्दकर रखे। इससे अन्दर और बाहर दोनों के परिवर्तनों को देखा जा सकता है। ये परिवर्तन 'स्यात्' लगाकर वक्तव्य हो जाते हैं। यही सापेक्षता है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी सभी भावचित्र और शब्द आकाश में समा जाते हैं और लाखों करोडों वर्षों तक उनका अस्तित्व बना रहता है। हमारा मन पौद्गलिक है और पुद्गलों के माध्यम से हम उनका चिन्तन करते हैं और फिर उन्हें विसर्जित करते हैं जो आकाश में व्याप्त हो जाते हैं भावचित्र के रूप में। टेलीविजन का विकास इसी सिद्धान्त के आधार पर हुआ है। यह हमारी मनोवर्गणा, वचन वर्गणा और काय वर्गणा के पुद्गलों का ही रूपान्तरण है। ये सभी तत्त्व देश–काल से जुडे हुए हैं। कालखण्ड भी उसी का हिस्सा है। कहीं दिन है तो कहीं रात, यह भी सापेक्षता के आधार पर कहा जाना चाहिए।

इसी सापेक्षता को हम अनेकान्तवाद और स्याद्वाद कहते हैं। एक चिन्तन के क्षेत्र में काम करता है तो दूसरा अभिव्यक्ति को सापेक्ष बना देता है। यह

समता और तटस्थता का प्रतीक है। उस तटस्थता में न कहीं प्रियता है, न कहीं अप्रियता है, बल्कि उनके बीच समता का भाव है जिसे आचार शास्त्र का अंग कह सकते हैं। यह जागरण का प्रतीक है। इसे हम विवेक भी कह सकते हैं। आचार्य हरिभद्र ने इसी को इस रूप में कहा है –

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः प्रतिग्रहः ।।

इसी तरह आचार्य हेमचन्द्र का श्लोक भी प्रसिद्ध है –

भववीजांकुरजननाः रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य ।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै ।।

इस सापेक्षता को जीवन और चिन्तन का आधार बनाने पर साधक यथार्थता का दर्शन कर लेता है और वह वीतरागता की ओर बढ जाता है। उसके चिन्तन से संशय और सन्देह का भूत समाप्त हो जाता है और निश्चय के जगत में उसकी पैठ हो जाती है। पदार्थ की तीनों पर्यायों पर वह सयुक्तिक और कालिक दृष्टि से विचार करता है। अतीत और भविष्य से वर्तमान जुडा रहता है। उनकी सारी संभावनायें भी उनके साथ सम्बद्ध हैं। वे परतन्त्र नहीं, स्वतन्त्र भी हैं और पुरुषार्थ भी उनके बीच सक्रिय रहता है। इसे हम संस्कार अथवा आनुवंशिक परम्परा भी कह सकते हैं। आचार्यों ने 'नरसिंह' का उदाहरण देकर इसे स्पष्ट किया है।

निश्चय और व्यवहार का सीमांकन भी यहीं होता है स्व–पर–की दृष्टि से। इसी को हम समता, संयम, सन्तुलन और अहिंसा भी कह सकते हैं। अध्यात्म और व्यवहार के बीच भी सामंजस्य की स्थापना का काम अनेकान्त से ही हो पाता है। न केवल व्यवहार अध्यात्म को जान पाता है और न केवल अध्यात्म व्यवहारी जीवन को समरस बना पाता है। अनेकान्त दोनों की यथास्थिति पर सोचने को बाध्य कर देता है। जीवन के सारे कार्य अनेकान्तवाद पर आधारित हैं। सन्तुलन और सापेक्षता के बिना सुख और प्रसन्नता नहीं आ पाती। कदाग्रह और एकान्तवाद जीवन को दुःखी बना देता है। अनेकान्तवाद एक आशा की किरण है जो जीवन को जीवन बना देने में सक्षम है। नयवाद और स्याद्वाद उसी

के भेद हैं। इस प्रकार अनेकान्तवाद विभिन्न दृष्टिवादों का समन्वयात्मक रूप है। अपने विचारों का दुराग्रह और दूसरे के विचारों की अस्वीकृति मतभेद और संघर्षों को उत्पन्न करने में कारण बनते हैं। प्रत्येक चिन्तक और वक्ता किसी न किसी दृष्टि से अपने चिन्तन अथवा कथन में सत्यांश को समाहित किये हुए रहता है। उसे अस्वीकार करना सत्य को अस्वीकार करना है। इसे सभी सत्यों पर विचार करना 'अनेकान्तवाद' है और उनकी अभिव्यक्ति 'स्याद्वाद' है।

जगत के अनन्त पदार्थ और उनके अनन्त गुण–पर्यायों को परिपूर्णतः जानने की शक्ति एक साधारण व्यक्ति में नहीं होती। यही कारण है कि वह जिस पदार्थ को जब जैसा देखता है, वैसा समझ लेता है। एक ही व्यक्ति पुत्र की अपेक्षा पिता है, मां की अपेक्षा पुत्र है, पत्नी की अपेक्षा पति है। यदि हम इसे न स्वीकार करें तो अव्यवस्था हो जायेगी। इसी अपेक्षाभेद को स्वीकार करना और दूसरे की दृष्टि का समादर करना अनेकान्तवाद का उद्देश्य है। अनेकान्तवाद पदार्थ के स्वरूप का दिग्दर्शन कराता है और नयवाद तथा स्याद्वाद उसके सम्यक् विवेचन करने में सहायता करता है। इस तरह नित्य–अनित्य, सान्त–अनन्त आदि विचारधाराओं में अनेकान्तवाद के कारण समन्वयवादिता का विचार विकसित हुआ, एकान्तवादी दृष्टिकोण समाप्त हुआ और सामंजस्य का वातावरण निर्मित हुआ।

दार्शनिक परम्परायें

दार्शनिक परम्परायें भेदवाद, अभेदवाद और भेदाभेदवाद के रूप में विभाजित हैं। पर वे भेद की अपेक्षा अभेद पर अधिक बल देती दिखाई देती हैं। चतुर्थ परम्परा में प्रमेय पर बल दिया गया है और पंचम भेद ऐसा है जो भेद और अभेद दोनों को समान रूप से स्वीकार करता है। जैनदर्शन इसी का समर्थक है। इन वादों के परिप्रेक्ष्य में डॉ. पद्मराजैया ने अपनी पुस्तक "Jaina Theories of Reality And Knowledge" में अनेकान्तवाद की सुन्दर स्थापना की है जिसे हम इस प्रकार विवेचित कर सकते हैं।

जैन दर्शन की भेदाभेदात्मकता पर वेदान्त और बौद्ध दर्शन ने अपना कडा विरोध व्यक्त किया है। वेदान्त दर्शन का आक्षेप है कि एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी गुणों का अस्तित्व असंभव है (नैकस्मिन् न संभवात्)। बादरायण

की इस टिप्पणी को स्पष्ट करते हुए शंकर ने कहा कि अस्तित्व और नास्तित्व जैसे परस्पर विरोधी गुण एक ही वस्तु में एक ही समय विद्यमान रहें यह असंभव है। उदाहरणतः उष्णता और शीतलता एक ही साथ एक ही पदार्थ में दिखाई नहीं देती। आचार्य शंकर का यह दोषारोपण अस्तित्ववादी दार्शनिक की दृष्टि से हुआ है। अद्वैतवादी उपनिषदिक दार्शनिक ऋषि शंकर और उनके अनुयायियों के हाथ सत्ताद्वैतवादी के रूप में प्रस्तुत होते हुए दिखाई दे रहे हैं। यह कहना बडा कठिन है कि उपनिषद् और यहां तक कि ब्रह्मसूत्र शंकर के निर्गुणब्रह्म और मायावाद के लगातार समर्थक रहे हैं। यहां यह उल्लेखनीय है कि प्रारम्भिक भेदाभेदवाद और विशिष्टाद्वैतवाद जैसी ब्राह्मणिक विचारधाराएं उपनिषदों में प्रतिबम्बित होती हैं। उनमें उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वहां अस्तित्व और अस्तित्ववान्, एक और अनेक एक दूसरे से सम्बद्ध दिखाई देते हैं और यथार्थ कारण और कार्य से बंधे लगते हैं। कुछ विद्वान मानते हैं कि शंकर ने मायावाद को पूर्ववर्ती यथार्थवाद से तोडकर खडा किया है। उनका यह सिद्धान्त अपने पूर्ववर्ती ब्रह्मपरिणामवाद के विपरीत ब्रह्मविवर्तवाद के रूप में स्थापित हुआ है। तदनुसार ब्रह्मन् एक पूर्ण यथार्थ है जो भिन्नता को स्वीकार नहीं करता। इसलिए तत्त्वविद्या की दृष्टि से उनका सिद्धान्त एक शुद्ध और अभिन्नता का प्रतिपादक है।

अद्वैतवाद भारतीय तत्त्वविज्ञान या आत्मतत्त्वशास्त्र के क्षेत्र में नित्यवाद का एक सुन्दर उदाहरण है जो बौद्धधर्म के क्षणभंगवाद का विरोधी है। वात्सीपुत्रीयों को छोडकर अन्य सभी बौद्ध दार्शनिक परिणाम (परिवर्तन) को ही प्रमुख मानते हैं। बादरायण और शंकर के समान शान्तरक्षित और उसके टीकाकार कमलशील ने जैन दर्शन द्वारा सम्मत द्रव्य और पर्याय के विपरीत विरुद्धधर्माध्यास का दोषारोपण किया। उन्होंने कहा कि यदि द्रव्य और पर्याय एक हैं तो द्रव्य पर्याय के समान व्यावृत्तिमत् हो जायेंगे। यदि पर्याय अनुगतात्मक हैं तो द्रव्य के साथ उनमें ऐकात्मता का प्रसंग उपस्थित होगा (तत्त्वसंग्रह, कारिका ३१७–१८)। जितारि ने अनेकान्तवाद निरास में भेदाभेदात्मकता का और भी पुरजोर खण्डन किया है। उन्होंने कहा है कि द्रव्य और पर्याय को अनेकान्तवादी यदि एक मानते हैं तो उनमें एकरूपता ही स्थापित होती है। यदि भिन्न मानते हैं तो सांख्यादि का भेद कल्पना मात्र सिद्ध होता है। उन दोनों में पारमार्थिक भेद स्वभाव भेद से नहीं

हो पाता। वेदान्त और बौद्ध दर्शन ने अनेकान्तवाद के विरोध में इसी तरह के और भी तर्क प्रस्तुत किये हैं।

जैन दर्शन ने विरोधी पक्षों की आलोचना का सयुक्तिक उत्तर दिया है पर यह तभी समझा जा सकता है जब उसे समग्र भारतीय दर्शन की पृष्ठभूमि में समझा जा सके। वेदान्त और बौद्ध दर्शन द्वारा की गई एक पक्षीय आलोचना क्रमशः उनके अद्वैतवाद और क्षणभंगवाद के आधार पर की गई है। अनेकान्तवाद की विकासयात्रा में क्षणभंगवाद के महत्त्व को भी समझा जाना चाहिए। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय की विचारधारा जैनेतर परम्पराओं को समझने में सहयोगी बन सकती है। वेदान्त और बौद्धदर्शन के समान रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद और मध्व के द्वैतवाद ने भी अनेकान्तवाद में स्वात्मविरोध देखा है जिसकी यथार्थ समीक्षा की जानी अपेक्षित है।

भारतीय दर्शनों को तत्त्व के स्वरूप के आधार पर हम पांच भागों में विभाजित कर सकते हैं –

१) अभेदवादी दर्शन, जैसे वेदान्त का अद्वैतवाद। २) भेदवादी या परिणामवादी दर्शन, जैसे बौद्धदर्शन का क्षणभंगवाद। ३) भेदाभेदवादी दर्शन जैसे सांख्य, भर्तृप्रपंच, भास्कर, यादव, निम्बारकर, द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद दर्शन जो अभेदवाद पर भेदवाद को गौण करते हैं। ४) अभेदवाद को गौण करते हुए भेदवादी दर्शन, जैसे वैशेषिक और मध्व का द्वैतवाद–भेदाभेदवादी दर्शन। ५)भेद और अभेद को युगपद् रखने वाला दर्शन जैसे जैनदर्शन का अभेदभेदवादी दर्शन।

१) अभेदवाद

उपनिषदों में ब्रह्मन् को अन्तिम सत्य के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया है। परन्तु वहां शंकर का विवर्तवाद या मायावाद दिखाई नहीं देता। वैदिक और उपनिषदिक ऋषि ब्रह्मन् के रूप या अरूप में कोई अक्षमता नहीं देखते। ब्रह्मन् और संसार में भेद स्वगत या सजातीय माना गया है, विजातीय नहीं। वस्तुतः इससे संसार में ब्रह्मन् की एक रूपात्मकता की ओर संकेत किया गया है। इसलिए हम कह सकते हैं कि पूर्व–शंकर वेदान्त विवर्तवाद नहीं था बल्कि एकत्ववाद या ब्रह्मपरिणामवाद का ही रूप था (माध्यमिक सूत्र २४.८)।

वैदिक–उपनिषदिक एकेश्वरवाद ने द्वैत या भेदवाद को स्वीकार किया। इसलिए शंकर के अद्वैतवाद ने माध्यमिकों से प्रभावित होकर उसे अस्वीकार कर दिया। उनके सिद्धान्त में विधेयात्मकता और निषेधात्मकता दोनों कहीं न कहीं अंकित हैं जो विकार या परिणाम और विवर्त शब्द के बीच अन्तर से ध्वनित होता है। जब वस्तु वस्तुतः दूसरी जैसी दिखती है तो उसे विकार कहा जाता है और जब वह भ्रम से दूसरी जैसी दिखती है तो उसे विवर्त कहा जाता है। विवर्त का यह सिद्धान्त शंकर का विशिष्ट प्रवर्तन है। इसी सिद्धान्त पर शंकर का वैश्विक सिद्धान्त आधारित है। तदनुसार विश्व व्यावहारिक या प्रातिभासिक रूप से दिखाई देता है पर स्वभावतः पारमार्थिक रूप से मिथ्या या अवस्तु है। यह परमार्थ की एकमेवाद्वितीयम् के रूप में स्वीकृति है। यही अभेदवाद है जिसने भारतीय दर्शन में अद्वेतवाद की स्थापना की है। बल्लभ का शुद्धाद्वैतवाद और भर्तृहरि का शब्दब्रह्मवाद शंकर के अद्वैतवाद के काफी समीप है।

विवर्तवाद में भेदतत्त्व की अहमियत कम हो गई और माध्यमिक तर्क का अनुकरण करते हुए शंकर ने उसे निषेधात्मकता की ओर बढा दिया। और कहा कि संसार न तो सत् या भाव रूप है और न असत् या अभावरूप या तुच्छ है बल्कि वह सदसत् विलक्षण रूप है। इसलिए अनिर्वचनीय है। पर इस अनिर्वचनीय तत्त्व ने भी समस्या का समाधान नहीं किया। वह मात्र परिहारक उपाय दिखा। इसलिए कुमारिल ने यह कहकर उसकी आलोचना कि जो सत् है वह सत् है और जो असत् है वह असत् है, सत् और असत् का संयुक्त उभयरूप हो ही नहीं सकता (मीमांसा श्लोकवार्तिक, निरालम्बवाद का. १०)। इसलिए भेद और अभेद के अतिरिक्त कोई तृतीय रूप नहीं हो सकता। इसके बावजूद शंकर ने अभेदवाद और अद्वैतवाद की ओर अपने कदम बढाये।

२) परिणामवाद

बौद्धदर्शन क्षणभंगवादी है। उसकी दृष्टि में प्रथम और द्वितीय पर्याय में कोई सम्बन्ध नहीं है। वहां न नित्यत्व है और न तादात्म्य और न जाति या सामान्य है या विकल्प या कल्पना। उसका यह सिद्धान्त पालि के उस कथन पर आधारित है जिसमें कहा गया है – **'सब्बं अनत्तं सब्बं दुक्खं'**। इसी सिद्धान्त से नैरात्म्यवाद का विकास हुआ। नैरात्म्य दृष्टि ही सत्कायदृष्टि की अस्वीकार

करती है। 'अनित्य और अनत्त' एक प्रकार से चलचित्रदर्शक मन्त्र बन गया जिसमें निरन्वय क्षणिकता भी अदृश्य हो गई। 'सन्तान' के कारण दो विभिन्न पर्यायों में सम्बन्ध अवश्य दिखाई देता है जिसका सम्बन्ध प्रतीत्यसमुत्पाद से है पर वस्तुतः वे एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं (त्रैलोक्य व्यावर्त)। मात्र 'कल्पना' के कारण वे सम्बन्ध दिखाई देते हैं। उनमें परिणाम तो स्वतोभावी या स्वाभाविक होता है। इसलिए स्वभावतः वह उत्पन्न होता है और स्वभावतः विनष्ट हो जाता है। वहीं उसका अर्थक्रिया–सामर्थ्य है। बौद्धों का यह सिद्धान्त है जो नैयायिकों के नित्यवाद के विपरीत है।

३) अभेदभेदवाद

सांख्यादि दर्शनों में अभेदवाद पर भेदवाद गौण हो गया है। उदाहरणार्थ – १) सांख्य का सत्कार्यवाद, २) भेदवादी सम्प्रदाय जेसे भर्तृप्रपंच, भास्कर और यादव प्रकाश, ३) निम्बार्क, और ४) रामानुज।

सांख्य का पुरस्कर्ता कौन है और वह कितना प्राचीन है इसकी चर्चा किये बिना हम इतना तो कह ही सकते हैं कि सांख्य दर्शन प्राचीन भारतीय दर्शनों में अन्यतम है जो अभेद और परिणाम में संमिश्रण मानता है । इनमें सांख्य मानता है कि पदार्थ दो हैं – पुरुष और प्रकृति। पुरुष कूटस्थनित्य है और प्रकृति परिणामनित्य है। पुरुष स्वच्छ है और प्रकृति से परिबद्ध है।

प्रकृति में सत्, रज, तम मूलक विविध परिवर्तन होते रहते हैं। यद्यपि यह परिवर्तन यथार्थ होता है, पर नैयायिकों के आरम्भवाद जैसा परिपूर्ण नहीं होता। आरम्भवाद के अनुसार यह परिवर्तन कारण से बिलकुल भिन्न होता है। उदाहरणार्थ आरंभवाद में घट प्रागभावप्रतियोगी का ही अंश है। उसमें प्रत्येक पर्याय बिलकुल भिन्न–भिन्न मानी जाती है। यह आरम्भवाद सांख्यों के सत्कार्यवाद का प्रतिरूप है जिसके अनुसार कारण का अस्तित्व कार्य में रहता है, जैसे तन्तु या अनाज अपनी जाली में रहता है। दोनों में अन्तर यह है कि सत्कार्यवाद में संस्थानभेद रहता है जबकि असत्कार्यवाद में यह अर्थान्तर नहीं माना जाता। इस तरह दोनों में भेद न होने से कार्य कारणभाव नहीं बनता जैसे अश्व और गौ में कोई कार्यकारण नहीं माना जा सकता। इसे हम मात्र प्रकृति का क्रमशः आविर्भाव और तिरोभाव ही कह सकते हैं।

परिणामवाद में तत्त्व के मूल में परिवर्तन होता है। कार्यकारण के बीच इस भेदवाद ने सत्कार्यवाद के भेद का बिलकुल प्रत्याख्यान कर दिया। सांख्य का सत्कार्यवाद परिणामवाद की ओर झुकता दिखता है वहां भेद अभेद से गौण हो जाता है।

४) भर्तृप्रपंच का भेदवाद

शंकर और सुरेश्वर के पूर्ववर्ती भर्तृप्रपंच भेदभेदवाद अथवा द्वैताद्वैतवाद को मानते हैं। इसके अनुसार ब्रह्म जीव में मिल जाता है और वह भेद और अभेद रूप बन जाता है। इसे ब्रह्मपरिणामवाद भी कहा जाता है। सूर्य और किरणें, सर्प और केंचुली इसके उदाहरण हैं। वह अपर में बदल जाता है। वह भेद और अभेद में कोई विशेष भेद नहीं मानता। इसे परिणाम समुच्चयवाद भी कहा जा सकता है। दोनों में कोई विरोध नहीं। यह सिद्धान्त शंकर के सिद्धान्त से भिन्न है जहां पराविद्या को सही माना जाता है और अपराविद्या को गलत। इसलिए शंकर ने द्वैताद्वैतवाद का खण्डन किया है। द्वैत और अद्वैत एक साथ नहीं रह सकते।

भास्कर और यादवप्रकाश का भेदाभेदवाद

भास्कर और यादव शंकर के पश्चाद्वर्ती दार्शनिक हैं जो मानते हैं कि ब्रह्मन् से पदार्थ का विकास होता है एक साथ (ब्रह्मपरिणाम)। यही भेदाभेदवाद है। इसमें ब्रह्म का ही विकास संसार रूप में हुआ है। यह विवर्तवाद की आलोचना करता है। भेदाभेदवाद में जार, घट आदि को मिट्टी की अवस्था में माना जाता है जबकि अभेदवाद में उसे सही यथार्थ कहा जाता है। वह मिट्टी ही है। अवस्थामें अयथार्थ हैं। भेदाभेदवाद में संसार को मात्र यथार्थ ही नहीं बल्कि निर्वचनीय भी माना है जबकि अभेदवाद में संसार को माया और अनर्विचनीय कहा जाता है। भेदाभेदवाद में नेतिनेति, नेहनानास्ति किञ्चन् माना जाता है। कार्यरूप से नानात्व और कारणात्मना अभेद है –**हेयात्मना यथाभेदः कुण्डलात्मनाभिदा।**

भास्कर और यादव दोनों भेद और अभेद को सहवर्ती मानते हैं, एक और अनेक मानते हैं, न अत्यन्त अभिन्न और न अत्यन्त भिन्न। पदार्थ को भेदाभेद या भिन्नाभिन्न मानने पर भी दोनों में कहीं–कहीं मतभेद भी है। भास्कर

के अनुसार ब्रह्म अप्रतिबद्ध निरपेक्ष (unconditioned absolute) है जो

उपाधियों के कारण प्रतिबद्ध (conditioned) हो जाता है। उपाधियों को सत्योपाधि मानते हैं, मिथ्योपाधि नहीं। यादव उपाधियों को ब्रह्मन् और विकसित विश्व के बीच कोई सम्बद्ध तत्त्व नहीं मानते। उनमें शक्ति नाम का तत्त्व ही सम्बन्ध बनाये रखता है।

इसी तरह भास्कर और उनके अनुयायी यह कहते हैं कि ब्रह्म के दो भाग हैं चिदंश और अचिदंश। अचिदंश के माध्यम से ही ब्रह्मन् अपने आप को अन्त्य संसार में फैला देता है। इसके विपरीत यादव ईश्वर या ब्रह्मन् और चिद् में और चित्–अचित् में कोई अन्तर नहीं मानते। भास्कर अभेद और अन्यत्व पर जोर देते हैं ब्रह्मन् और उपाधि में द्वैत होने पर भी, जबकि यादव भेद और अभेद की शाश्वतता पर बल देते हैं।

५) निम्बार्क का स्वाभाविक भेदाभेदवाद

ब्रह्मपरिणामवाद से निकले भेदाभेदवादियों में निम्बार्क का स्वाभाविक भेदाभेदवाद भेद और अभेद के बीच तुल्यबलवान् मानने वालों में सर्वाधिक दूरी रखता है। यह भास्कर के औपाधिक भेदाभेदवाद से भिन्न है जिसमें भेद औपाधिक नहीं है बल्कि स्वाभाविक अभेद है। निम्बार्क ने तीन तत्त्व माने हैं – भोक्ता, भोग्य और नियन्ता (ईश्वर या ब्रह्मन्)। ईश्वर और जीव तथा ईश्वर और विश्व में द्वैताद्वैत का सम्बन्ध है। वहां भास्कर जैसा न औपाधिक सम्बन्ध है और न शंकर जैसा असत्य भरा, बल्कि यह सम्बन्ध स्वाभाविक और सत्य है।

निम्बार्क ब्रह्मन् और जीव जगत् के बीच अभेद–भेद पर जोर देता है। वेदान्तिक सूर्य और किरणों अथवा सर्प और कुण्डलावस्था के समान निम्बार्क सत्कार्यवादी होने के कारण कार्य को अव्यक्त और अनन्वय मानते हैं। सूर्य और किरणें भी वैसी ही हैं। इस सिद्धान्त ने निर्गुण और सगुणब्रह्म के बीच असंगत द्वन्द्व विभाजन को अनावश्यक बता दिया। वस्तुतः निम्बार्क का स्वाभाविक भेदाभेदवाद सत्कार्यवाद या ब्रह्मपरिणामवाद से कोई विशेष अन्तर लिये हुए नहीं है।

६) रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद

रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद शंकर के निर्विशेष सत्त्ववाद से विपरीत है भास्कर, यादव और निम्बार्क के भिन्नाभिन्नवाद तथा अन्य भेदाभेदवादियों के समान। वह विशिष्टैक्यम् पर आधारित सिद्धान्त है जो शंकर के स्वरूपैक्यम् के विपरीत खडा है। रामानुज दर्शन में तत् और किम् दोनों तत्त्व हैं जबकि शंकर मात्र 'तत्' की व्याख्या करते हैं। रामानुज दर्शन में किम् का सम्बन्ध प्रकारिन् अर्थात्, पर्याय से है, अचित् का सम्बन्ध भौतिक पदार्थ से और चित् का सम्बन्ध आत्मा से है जो ईश्वर की ही पर्याय है। इस तरह अचित्, चित्, और ईश्वर तीनों मिलकर विशिष्टाद्वैतवाद का परमात्म शरीर है जैसा सकलाचार्य ने वेदान्तसार में कहा है – **सर्वावस्थचिदचिद् वस्तुनः परमात्मशरीरत्वम्।**

रामानुज के वस्तुदर्शन की ये विशेषताएं हैं –

१) अद्वैतवाद के विपरीत यहां पर्याय पर अधिक जोर दिया गया है।
२) भेदाभेदवाद के विपरीत यहां ब्रह्मन् के स्थायी तत्त्व पर विचार करता है।

रामानुज, भास्कर और यादव जैसे भेदाभेदवादियों के समीप वे अधिक हो जाते हैं शंकर जैसे वेदान्तियों की अपेक्षा। फिर भी भेदाभेदवाद में रामानुज को परस्पर विरोध दिखाई देता है।

यहां रामानुज ने भेद को गौण कर दिया अभेद की अपेक्षा। राजू और श्रीनिवासाचार्य ने इस भेद को मुख्य माना और अभेद को गौण कहा। इसे तर्कसंगत करने का प्रयत्न उन्होंने किया है समानाधिकरण्य के आधार पर। पर उसमें कुछ कमियां दिखती ही हैं। यह समानाधिकरण्य सिद्धान्त विशिष्टाद्वैतवाद के आधारभूत सत्कार्यवाद से मेल नहीं खाता। सत्कार्यवाद में भेद को गौण कर दिया जाता है अभेद के सामने।

पाश्चात्य आधुनिक दार्शनिकों में हीगल जैनदर्शन के अनेकान्तवाद के अधिक निकट है फिर भी वह अभेद को भेद से गौण करता हुआ दिखाई देता है।

७) भेदाभेदवाद

यहां हम उन सिद्धान्तों के विषय में चर्चा करेंगे जो अभेद को भेद की अपेक्षा गौण करते हैं और पूर्व सिद्धान्त को परिपुष्ट करते हैं। ऐसे सिद्धान्तों में वैशेषिक और माध्व के सिद्धान्त विशेष उल्लेखनीय हैं।

वैशेषिक दर्शन

वैशेषिकों ने छह पदार्थ माने हैं – द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। अभाव को बाद में जोडा गया है। यहां विशेष (भिन्न) पर अधिक बल दिया गया है। ये विशेष अनन्त हैं। प्रत्येक नित्य द्रव्य में यह विशेष रहता है और वही तत्त्व दूसरे तत्त्वों से स्वयं को भिन्न कर लेता है।

यहां प्रश्न यह है कि यदि विशेष ऐसा तत्त्व है जो पदार्थो को भिन्न–भिन्न कर देता है तो एक विशेष में दूसरे विशेष से क्या अन्तर रखा जाये? वह वस्तुतः अविशेष स्वरूप ही रहेगा। इस असंगति को दूर करने के लिए प्रत्येक विशेष में वहां व्यावर्तक तत्त्व की कल्पना की गई है। पर इससे तो अनवस्थादोष उत्पन्न होगा। इसे दूर करने के लिए व्योमशिव ने उसे स्वतो व्यावर्तक बना दिया। इस सिद्धान्त ने वैशेषिक को अर्धवैनाशिक बना दिया या अर्ध–बौद्ध। उनका विशेष बौद्धों के स्वलक्षणवाद से समानता स्थापित करता है। वैशेषिकों ने अयुतसिद्ध द्रव्य और गुणों में एक समवाय सम्बन्ध की स्थापना की।

८) माध्व का द्वैतवाद

माध्व के द्वैतवाद में वैशेषिकों की अपेक्षा विशेष पर और अधिक जोर दिया गया है। यहां स्वतन्त्र और परतन्त्र दो तत्त्व माने गये हैं। स्वतन्त्र का सम्बन्ध ईश्वर से है और परतन्त्र को भौतिक संसार से सम्बद्ध किया गया है। भेद को धर्मिस्वरूप माना है। माध्व ने कहा है – **भिन्नाश्च भिन्न धर्माश्च पदार्था निखिला अमी।** विशेष को वे एक शक्ति मानते हैं। इसे शुद्धभेदवाद कहा गया है। इसमें 'आत्म तत् त्वमसि' को **'आत्म अतत् त्वमसि'** कहकर सविशेषा भेदवाद की स्थापना की गई है। इसमें गुणी में गुण का अभेद है जो विशेष पर आधारित है।

९) जैनदर्शन का अभेदभेदवाद या जात्यन्तरवाद

जैनदर्शन का अभेद भेदवाद या जात्यन्तरवाद अनेकान्तवाद पर आधारित है। इस अनेकान्तवाद के दो भाग हैं – नयवाद और स्याद्वाद। इन दोनों से पदार्थ का श्लिष्टात्मक रूप समझ में आ जाता है। इसी के साथ प्रमाण का सिद्धान्त भी जुडा हुआ है जिसके दो भेद हैं – प्रत्यक्ष प्रमाण और परोक्ष प्रमाण। प्रत्येक पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन गुणों से युक्त होता है। उत्पत्तिके साथ व्यय जुडा हुआ है। यह परिणामवाद है और ध्रौव्य पदार्थ की स्थिति या नित्यता का प्रतीक है।

वेदान्त ने पदार्थ को एकान्त नित्य माना और बौद्धों ने उसे एकान्त अनित्य माना और जैनदर्शन ने इन दोनों को एक साथ करके पदार्थ के स्वरूप की व्याख्या की। इसमें जैनेतर दार्शिनिकों ने अन्तर्विरोध माना है पर यह सही नहीं हैं। A.N. Whitehead, कुमारिलभट्ट और Humanuel kant अनेकान्तवाद के पक्ष में दिखाई देते हैं। पहले हम उनके मत को देख लें। इनमें कुमारिल का मत विशेष उल्लेखनीय है।

कुमारिल ने पदार्थ में उन्हीं तीन गुणों को माना है जिन्हें जैनों ने स्वीकार किया है – उत्पाद, स्थिति और भंग। स्वर्ण की कुण्डलादि पयार्यो में स्वर्ण नित्य है जिसे उन्होंने मध्यस्थता कहा है। उसे हम न अन्य कहेंगे और न अनन्य। अन्य और अनन्य तो मृषा हो जायेंगे।

अब हम तत्त्वार्थसूत्र के उस **'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्'** सूत्र की व्याख्या करेंगे जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तत्त्वों में कोई विरोध दिखाई नहीं देता। इस सम्बन्ध में चार प्रश्न होंगे –

१) एक ही पदार्थ में एक साथ अभेद और भेद कैसे होगा?
२) भेद से अभेद कैसे होगा? अर्थात् अभेद में भेद या भेद में अभेद?
३) अभेदभेदवाद में दोनों वादों की कमियां ही होगीं क्या?
४) क्या तत्त्व का और कोई स्वरूप नहीं हो सकता?

प्रथम दो प्रश्न अभेदवाद और भेदवाद पर आधारित हैं, तीसरा उभयवाद पर और चौथा जात्यन्तरवाद पर। इन पर हम विचार कर लें। प्रथम दो प्रश्नों के

सन्दर्भ में पहले प्रश्न यह उठता है कि अभेदवाद भेदवाद को उन्मूलित करता है या भेदवाद अभेदवाद को? कथञ्चित् के आधार पर इसलिए यह विरोध सुलझ नहीं सकता क्योंकि जैनदर्शन द्रव्य और पर्याय में भेदाभेद मानता है। यदि पर्याय आश्रय है तो पर्याय भी द्रव्य हो जायेंगे। पर्याय द्रव्य में रह नहीं सकती, व्यावृत्तिमद्रूप होने के कारण। अतः जैन सिद्धान्त में भेदाभेदवाद या द्रव्यपर्यायात्मकवाद में निम्न दोष होंगे – विरोध, व्यधिकरणता, अनवस्था, संकर, व्यतिकर, संशय, अप्रतिपत्ति, विषय व्यवस्था हानि (स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ७३८)। इनके अतिरिक्त गुणरत्न ने कुछ और दोष देखे हैं – प्रतिनियतव्यवहार लोप, प्रत्यक्षादि प्रमाण बाधा, असंभव, उभय और अभाव। इसमें मुख्य दोष है विरोध। उसे स्याद्वाद और नयवाद के आधार पर दूर किया जा सकता है।

प्रत्येक पदार्थ में स्वतत्त्व और परतत्त्व रहते हैं। उदाहरणार्थ घट में घटत्व उसका स्वलक्षण है पर पटत्व, फलत्व आदि परतत्त्व उसमें नहीं हैं। प्रथम विधेयात्मक है और दूसरा निषेधात्मक है। घट में ये दोनों तत्त्व एक साथ रहते हैं। दोनों में मात्र एकान्तभावात्मकता नहीं रहती, एक ही तत्त्व नहीं रहता अन्यथा कोई भी पदार्थ कुछ भी हो जाता, घट पट भी हो जाता। उनमें सर्वात्मकता छा जाती जो संभव नहीं है। अद्वैत में '**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म**' कहा ही गया है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो निःस्वभावता आ जायेगी। न्याय–वैशेषिक भाव और अभाव पृथक्– पृथक् मानते हैं पर उनमें परस्पर विविक्तता आ जायेगी इसलिए जैनों का कहना सही है – **सर्वभावानां हि भावाभावात्मकं स्वरूपम्–स्याद्वादमंजरी, पृ. ९१।**

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से विचार करने पर कोई विरोध शेष नहीं रहता। इसे स्वद्रव्यचतुष्टय और पर द्रव्य–चतुष्टय कहा जाता है। विरोध तीन प्रकार के हो सकते हैं – वध्यघातक भाव (नकुल सर्प के समान) सहानवस्थानभाव (श्याम–पीत के समान), और प्रतिबध्य प्रतिबंधकभाव मेघ द्वारा सूर्य किरणों के रोकने के समान। इन विरोध प्रकारों में से स्याद्वाद पर कोई भी विरोध नहीं आता क्योंकि उसकी दृष्टि में वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, द्रव्यपर्यायात्मक है, नित्यानित्यात्मक है। इस द्वैततत्त्व को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। सहानवस्थान भाव विरोध में काल की दृष्टि से विचार नहीं किया

गया इसलिए विरोध दिखाई देता है। धर्मकीर्ति ने भी यही किया है। जैन परम्परा

की दृष्टि से अभाव चार प्रकार के है– १) प्रागभाव – कारण में कार्य का अभाव, २) प्रध्वंसाभाव – विनाश के बाद कार्य का अभाव, ३) इतरेतराभाव – एक पर्याय का दूसरी पर्याय में अभाव होना, और ४) अत्यन्ताभाव – एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में त्रैकालिक अभाव।

अनेकान्तवाद में संशय, विरोध, वैयधिकरण्य, उभयदोष, संकर, व्यतिकर, अनवस्था और अभाव दोषों की स्थापना नहीं की जा सकती। वस्तु में भेद और अभेद दोनों की प्रतीति न होने पर ही संशय माना जा सकता है। पर यहां तो निश्चित प्रतीति है। वस्तु में विवक्षित धर्मों की अपेक्षा से भेद और अभेद माना गया है। अपेक्षा भेद से भेद और अभेद के एक साथ रहने में कोई विरोध नहीं है। दोनों एक ही आधार में रह सकते हैं। वस्तु को भेदाभेदात्मक मानने में उभयदोष की भी कल्पना नहीं की जा सकती है। क्योंकि अनेकान्तवाद में वस्तु को जात्यन्तर (विलक्षण रूप) माना गया है। जैसे मेचक रत्न में भिन्न–भिन्न रूप से सभी का प्रतिभास होता है उसी तरह अनेकान्तवाद की दृष्टि से वस्तु में भिन्न–भिन्न दृष्टियों से भेद–अभेद की व्यवस्था हो जाती है। वहां संकर दोष नहीं है। इसी तरह व्यतिकर दोष भी नही है और न अनवस्था आदि दोष ही हैं।

बौद्ध दर्शन के अनुसार सभी पदार्थ क्षणभंगुर हैं, अनित्य हैं – **सर्वं क्षणिकं सत्वात्**। उनके अनुसार नित्य पदार्थ में अर्थक्रिया हो ही नहीं सकती – **न युगपत् रूप से और न क्रमिक रूप से**। जैनदर्शन इसे नहीं मानता। वह कहता है कि सभी पदार्थों को स्वभाव से विनाश रूप मानना सही नहीं है। दण्डादि प्रहार से भी घट का विनाश होता है और कपाल पर्याय की उत्पत्ति होती है। अतः किसी भी पर्याय का न निरन्वय विनाश होता है और न उसकी निरन्वय उत्पत्ति होती है। क्षणिकैकान्त में कृतनाश और अकृताभ्यागम का दोष भी आता है। उस अवस्था में कर्मफल भी नहीं मिल सकेगा। अतः सर्वथा क्षणिकैकान्त के आग्रह को छोडकर पदार्थ को कथंचित् नित्यानित्यात्मक स्वीकार करना चाहिए। इस स्थिति में अर्थक्रिया का प्रश्न भी सुलझ जाता है। क्षणिक पदार्थ में न तो युगपत् अर्थक्रिया हो सकती है और न क्रम से। यदि सन्तान क्षणिक है तो उसमें भी कोई क्रम नहीं बनेगा। अतः पदार्थ को क्षणिक नहीं माना जा सकता है।

धर्मकीर्ति का यह तर्क भी व्यर्थ है कि पदार्थ के सामान्य विशेषात्मक होने से दही और ऊंट एक हो जायेगा। **'सर्वे भावास्तदतत्स्वभावाः'** के अनुसार दही और ऊंट पदार्थ की दृष्टि से एक हैं पर स्वभावादि की दृष्टि से यदि पृथक्

न होते तो दही को खाने वाला ऊंट क्यों नहीं खा लेता? सामान्य का तात्पर्य ही सदृश परिणाम है। दही और ऊंट सदृश परिणाम वाले नहीं। अतः साधारणतः उनमें कोई सम्बन्ध नहीं है। कोई भी द्रव्य अपनी संभावित पर्यायों में ही परिणत हो सकता है। अतः धर्मकीर्ति आदि बौद्धाचार्यो द्वारा अनेकान्तवाद के विरोध में उठाये गये प्रश्न निरर्थक हैं।

उभयवाद में भेदवाद और अभेदवाद को पृथक् माना जाता है। वह द्रव्य और पर्याय को स्वतन्त्र मानते हैं जैसे न्याय–वैशेषिक (गुणरत्न) ने कहा है **– काणादयौ गाभ्युपगत–परस्पर विविक्त द्रव्य पर्यायैकान्ते**–षड्दर्शनसमुच्चय टीका–हरिभद्र। भले ही वह द्रव्य को गुणों का आश्रय मानता हो। भूल से अर्चट और दुर्वेक ने इसे जैनों के साथ जोड दिया है – हेतुबिन्दुटीका – द्रव्यपर्यायोरनेकान्तवाद (खण्डनं पृ. १०४–१०)। सिद्धसेन, अभयदेव, हरिभद्र, मल्लिषेण जैसे जैन चिन्तकों ने वैशेषिकों का सिद्धान्त मानकर ही उसका खण्डन किया है।

उभयवाद वस्तुतः द्रव्य पर्याय का मिश्रवाद है क्योंकि एक ही द्रव्य में वह द्रव्य और पर्याय का स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व मानता है इसलिए अर्चट का कहना ठीक है कि उसमें अभेदवाद और भेदवाद दोनों के दोष समाहित हैं। द्रव्य गुणों से पृथक् कैसे रह सकता है? द्रव्य में नित्यत्व और अनित्यत्व का विभाजन कैसे होगा? **नित्यद्रव्यं त्वसमवेतमेव अनित्यद्रव्यं कार्यरूपत्वात् अवयवसमवेतम् (न्यायकोश भीमाचार्य)**। इसमें नित्यत्व और अनित्यत्व पृथक् पृथक् रहेंगे। इनसे द्रव्य की उत्पत्ति कैसे होगी? ईश्वर संसार की रचना कैसे करेंगे? अर्थक्रियाकारिता भी कैसे होगी?

जात्यन्तरवाद

जैन न द्रव्यैकान्तवाद और जात्यन्तरवाद न पर्यायैकान्तवाद तथा उभयवाद या परस्परविविक्त द्रव्यपर्यायैकान्तवाद को मानते हैं। वे मानते हैं द्रव्य और गुण में परस्परानुविद्धता और जात्यन्तरता को। उनकी दृष्टि में भेदाभेदवाद ही सही है जहां भेद और अभेद का संश्लेषण या समन्वय जात्यन्तरता को लिये हुए है। यह मात्र संख्यागत जोड़ नहीं है, यह तो दो द्रव्यों का संश्लेषण है। नरसिंह

के समान वे एक भी हैं और पृथक् भी हैं। गुड और नागर अलग रहने पर कफ–पित्तकारक हैं पर दोनों के मिलने पर वह दोष निकल जाता है।

यह जात्यन्तरता अनेकान्तात्मक होती है। यह अद्वैत के एकान्तवाद या बौद्धों में क्षणिक सन्तान में नहीं हो सकती। यह दोनों का खण्डन करने वाला सिद्धान्त है। अकलंक ने उन दोनों के सिद्धान्तों को पक्षसंकर कहा और जात्यन्तर को पक्षान्तर कहा। उनकी दृष्टि में वह तो परस्परानुविद्ध है और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव पर आधारित है।

शंकर, रामानुज, बल्लभ आदि वेदान्ताचार्यों ने भी इसी प्रकार के प्रश्न अनेकान्तवाद के सन्दर्भ में उठाये हैं। आधुनिक विद्वान भी उनके प्रभावों से मुक्त नहीं रह सके। उन्होंने अनेकान्तवाद को सही ढंग से समझने का प्रयत्न ही नहीं किया अन्यथा ये विरोधात्मक स्वर उठते ही नहीं।

सम्बद्ध भेद

द्रव्य और पर्याय के बीच नैयायिकों और वैशेषिकों ने युतसिद्ध (पृथक्–पृथक्) होने पर संयोग और अयुतसिद्ध (अपृथक्) होने पर समवाय सम्बन्ध माना है। यह समवाय सम्बन्ध बाह्य होता है। नित्य, एक और सर्वव्यापक होता है।

बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति आदि आचार्यों ने अद्वैतवादियों की तरह समवायादि सम्बन्धों को कल्पनाकृत माना, वास्तविक नहीं। प्रत्यक्ष और अनुमान को ही उन्होंने प्रमाण माना है। पारतन्त्र्य, रूपश्लेष, समवाय आदि सम्बन्धों का उन्होंने पुरजोर खण्डन किया और उन्हें अतात्त्विक बताया।

शंकर आदि वेदान्तिक आचार्यों ने भी समवायादि सम्बन्धों का खण्डन किया। शंकर ने कहा कि कार्य–कारण सम्बन्ध संस्थान मात्र है। जैन दार्शनिकों ने अनेकान्त दृष्टि से सम्बन्धों पर विचार किया और कहा कि सम्बन्ध मात्र अनुमानिक ही नहीं बल्कि प्रात्यक्षिक भी है। इसलिए उन्होंने उसे कल्पनाकृत और प्रात्यक्षिक कहा है – **कथं च सम्बन्ध प्रतीयमाने प्रतीयमानस्याप्यसम्बन्धस्य कल्पनाप्रतीतिविरोधात्, प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ. ५१४।** इसे सिद्ध करते हुए

उन्होंने सम्बन्धों में उपकारित्व और अर्थक्रियाकारित्व भी सिद्ध किया। इसी सन्दर्भ में जैनाचार्यों ने नैयायिकों की भी एकान्तवादी दृष्टि का खण्डन किया। उन्होंने आरम्भवाद और समवाय का खण्डन करते हुए जात्यन्तररूपता के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा कि सम्बन्ध होने पर पदार्थ में एक वैशिष्ट्य आ जाता है जिसे जात्यन्तर कहा जाता है। उन्होंने कहा कि पदार्थों में स्वभावसम्बन्ध और स्वरूपसम्बन्ध होता है। यही उसकी योग्यता है।

जैनदर्शन अयुतसिद्ध पदार्थ तन्तु और पट के आश्रय को पृथक्-पृथक् मानता है, अपृथक् नहीं । तन्तुओं का आश्रय तन्तुओं के अंशु हैं और पट का आश्रय तन्तु हैं। वस्तुतः अयुतसिद्ध पदार्थों में समवाय सम्बन्ध की कल्पना करना ही प्रमाणसंगत नहीं है। अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदि पदार्थों में तादात्म्य सम्बन्ध रहता है। वैशेषिक जिस समवाय को एक मानते हैं वह एक न होकर अनेक हैं। वह न नित्य है और न अनाश्रित है। संयोग की तरह वह भी अनित्य हैं।

द्रव्य और गुण पर्याय का सम्बन्ध

१) द्रव्यार्थिक नय

यहां तक हमने यह देखा कि पदार्थ (द्रव्य) उत्पाद-व्यय-धौव्य रूप है और जैनदर्शन द्रव्य और गुण के बीच समन्वय करके भेदाभेदवाद को स्वीकार करता है। इसके अनेकान्तवादी समन्वय के सन्दर्भ में दो प्रकार के विवाद हैं - पहला तो यह कि आधुनिक भारतीय विचारधारा पर पाश्चात्य हेगल जैसे दार्शनिकों का प्रभाव पडा और दूसरा इस सिद्धान्त में से कतिपय असंगतियों को दूर करने का प्रयत्न सिद्धसेन दिवाकर जैसे आचार्यो ने किया। विवादास्पद समस्यायें ये हैं - १) क्या द्रव्य पूर्णतः सामान्य हैं? २) क्या पर्याय द्रव्य में वही हैं या गुणसे भिन्न हैं? इस प्रकरण पर विशेष विचार करना अपेक्षित है।

२) पर्यायार्थिक नय

द्रव्य और गुण या पर्याय के बीच परिणामवाद को लेकर जैनाचार्यों में मतभेद है। प्रश्न है क्या पर्याय और गुण एक ही हैं, मात्र नामभेद है, २) क्या

पर्याय बाह्य परिवर्तन है और गुण आन्तरिक परिवर्तन है और दोनों मिलकर परिणामवाद की स्थापना करते हैं, या ३) दोनों गुण और पर्याय एक हैं और भिन्न भी हैं। ये तीनों क्रमशः अभेदवाद, भेदवाद और भेदाभेदवाद कहलाते हैं।

१) अभेदवाद

अभेदवाद के समर्थक हैं आचार्य सिद्धसेन दिवाकर जिन्होंने पर्याय और गुण को समानार्थक या तुल्यार्थक माना है। उनके मन में यह परिणामपरिवर्तन द्रव्य में लगातार बाह्य और आन्तरिक दोनों होते रहते हैं। दिवाकर परम्परा से हटकर अपने मत को सिद्ध करने के लिए कहते हैं कि महावीर ने मात्र द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक की बात कही है। यदि गुण पर्याय से भिन्न होते तो महावीर ने गुणास्तिक भी कहा होता। सिद्धसेन का यह सिद्धान्त अधिक प्रचलित नहीं हुआ। सिद्धसेन का समर्थन करने वाले आचार्यों में सिद्धसेन गणि, हरिभद्र, हेमचन्द्र, यशोविजय जैसे प्राचीन आचार्य और जेकोबी जैसे आधुनिक दार्शनिक रहे हैं।

यशोविजय ने दोनों में अन्तर करते हुए गुण को सहवादी (आन्तरिक) और पर्याय को क्रमभावी (बाह्य) बताया। उन्होंने कहा कि ये दोनों नाम विशेष संज्ञा को इंगित करते हैं और पर्याय की सामान्य संज्ञा को बताते हैं। इस तरह गुण एक प्रकार से पर्याय ही है और द्रव्य–परिणाम द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक में ही स्पष्ट हो जाता है – **इति द्रव्य पर्यायार्थिकभेदाद्द्वैविध्यमेव– न्यायालोकविवृत्ति**, पृ. २०३। तदनुसार गुण और पर्याय एक ही हैं – **ऐकान्तिकम्**।

२) भेदवाद

भेदवाद की स्थापना की आचार्य कुन्दकुन्द ने और उनका समर्थन किया उमास्वामी, पूज्यपाद और विद्यानन्द ने। कुन्दकुन्द ने पर्याय और गुण की ऐकान्तिकता का खण्डनकर उन्हें 'परसमया' कहकर 'पज्जयमूढा' माना– **पज्जयमूढा हि परसमया**, प्रवचनसार गाथा १। जयसेन और अमृतचन्द्र ने अपनी टीकाओं में इस कथन को स्पष्ट किया है। कुन्दकुन्द ने गुण और पर्याय में द्वैत की स्थापना कर उसे द्रव्य की ध्रौव्यता के साथ स्थापित किया है जिसे 'द्रव्य गुण पर्याय स्वभाव' कहा है। अमृतचन्द्र ने इसी को परमेश्वरी कहा है। कुन्दकुन्द

ने अत्थो खलु दव्वयओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि (अध्याय २.१) **कहकर यह बताया कि ज्ञान का उद्देश्य ही पर्यायों को जानना है और यही उसका गुण है। अतः द्रव्य में गुण रहते हैं और गुण पर्याय मुक्त होते हैं – गुणवच्च सपज्जायं जं तं दव्वं हि वुच्चंति (प्रवचनसार, गाथा २.३)।**

सहवर्ती होने पर भी गुण और पर्याय में अन्तर है। गुण एक लक्षण है जो द्रव्य में सहभावी रहता है, आन्तरिक है, एक साथ रहता है। और पर्याय अपेक्षाकृत बाह्य है जो द्रव्य में कुछ समय रहती है और बाद में अपना स्थान दूसरी पर्याय को दे देती है इसलिए उसको क्रमभावी कहते हैं। गुण को अन्वयी और पर्याय को व्यतिरेकी भी कहा जाता है।

यहां कुन्दकुन्द और यशोविजय दोनों 'सहभावी' को भी क्रमभावी मानते हैं। अन्तर यह है कि कुन्दकुन्द दोनों को 'भवान्तर' मानते हैं, पृथक् कहते हैं जबकि यशोविजय एक ही तत्त्व में दोनों को मानते हैं।

यहां यह भी स्मरणीय है कि द्रव्य में से गुणों को कभी भी पृथक् नहीं किया जा सकता चाहे वह सामान्य हो या विशेष, पर वह पर्याय भी होता है। अर्थात् द्रव्य में पर्याय गुण के रूप में रहती ही है, यद्यपि पर्याय आन्तरिक है और गुण बाह्य। आज की भाषा में हम कह सकते हैं कि वस्तु का गुण और पर्याय 'क्या' तथा ध्रौव्य 'वह' को व्यक्त करता है। दूसरा अन्तर यह है कि गुण में अन्तर नहीं आता जबकि पर्याय में विविधता आ जाती है। स्वर्ण का गुण वही रहता है पर उसकी कुण्डल आदि पर्यायों में अन्तर हो जाता है। उमास्वामी ने सिद्धसेन के विपरीत यह कहा कि पर्याय संज्ञान्तर है पृथक् संज्ञा (चिन्ह) वाला है और भावान्तर भी है पृथक् पदार्थ भी है जो पदार्थ में गुण के साथ रहती हैं – भावान्तरं च संज्ञान्तरं च पर्यायः, सूत्र ३७ पर वृत्ति।

३) भेदाभेदवाद

भेदाभेदवाद को गुण की अपेक्षा प्रवृत्ति के रूप में अधिक समझा जा सकता है। उसके अनुसार पदार्थ में गुण और पर्याय अभेद और भेद का संयोग है। अकलंक और वादिदेव इस सिद्धान्त के पुरस्कर्ता हैं। अकलंक ने कहा कि गुण ही पर्याय है – 'ततो गुण एव पर्यायः इति वा निर्देशः। न तेभ्योऽन्ये गुणा

सन्ति ततो गुण एव पर्यायः'। गुण भी पर्यायों से पृथक् हैं जैसा आगम ग्रन्थ में लिखा है – **गुणा भावादयुक्तिरिति चेन्नार्हत्– प्रवचनहृदयादिषु गुणोपदेशात्– तत्त्वार्थराजवार्तिक पृ. २४३)**। सिद्धसेन और अकलंक दोनों आचार्य अपने मत के समर्थन में आगम ग्रन्थों को प्रस्तुत करते हैं।

वादिदेव इस तथ्य को अधिक दृढता पूर्वक प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं – गुण और पर्याय अलग क्यों हैं जबकि वे एक हैं? उत्तर यह है कि गुण कालाभेदापेक्ष्या पदार्थ में सदा रहते हैं जबकि पर्याय एक के बाद एक के रूप में आती हैं – कालविभेदापेक्ष्या। गुण और पर्याय में सर्वथा भेद नहीं है। क्योंकि वे कथञ्चित् अभेदात्मक हैं – कथञ्चिदभेदस्याप्यविरोधात्। दोनों में स्तम्भ और घडा जैसा बडा अन्तर भी नहीं है और इतना अभेद भी नहीं है जैसा पदार्थ और उसके स्वरूप में होता है। भेद स्वरूपापेक्ष्या और अभेद धर्म्यापेक्ष्या रहता है – **नन्वेवं त एव गुणस्था एव च पर्याया इति कथं तेषां भेद इति चेत्। यैवं। कालभेदविभेदापेक्षया तदभेदस्यानुभूयमानत्वात्..न चैव येषां सर्वथा भेद इत्यपि मन्तव्यं कथञ्चिदभेदस्याप्यविरोधत्वात्। न खल्वेषां स्तम्भ कुम्भवद् भेदो – नापि स्वरूपवद् अभेद किन्तु धर्म्यापेक्ष्याभेदः स्वरूपापेक्षया भेदः इति स्याद्वादरत्नाकर पृ. ७३७।**

इन मतभेदों के बावजूद जैनदर्शन की मान्यता में कोई अन्तर नहीं है। चाहे सिद्धसेन ने उस अभेद को पर्याय कहा हो या गुण और पर्याय में भेद माना हो, जैनदर्शन का परिणामवाद वैसा ही है। वादिदेव के भेदाभेदवाद में दोनों वादों का समन्वय दिखाई देता है जहां गुण और पर्याय के भेद को स्वरूपापेक्षया और गुण और पर्याय के अभेद को धर्म्यापेक्ष्या माना है तिस पर भी धर्मी से वे अपृथक् रहते हैं। इसे अभेदवादी और भेदवादी दोनों दार्शनिकों ने स्वीकार किया है।

तीनों मतों में द्रव्य हैं, गुण सहभागी हैं और परिणाम क्रमभावी हैं। अन्तर यह है कि अभेदवादी अपने आप को अवास्तविक अथवा संज्ञायात्रिक मानते हैं और भेदवादी यथार्थवादी मानते हैं यह कहकर कि यह भेद नाम मात्र के अतिरिक्त उनका अस्तित्व भी पृथक् पृथक् है। परन्तु अभेदवादी इस अर्थ में सही नहीं है कि वे अवास्तविकवादी या संज्ञायात्रिक इसलिए हैं कि वे गुण का

भी अस्तित्व मानते हैं भले ही वह अप्रत्यक्ष रूप में हो जो पर्याय में दिखाई देता है। यशोविजय ने इसी प्रक्रिया में गुण को सहभावीपर्याय कहा है।

३) निष्कर्ष

इस तरह अनेकान्तवाद जैनदर्शन का हृदय है और स्याद्वाद तथा नयवाद उसकी धमनियां हैं। उसे हम एक प्रासाद या पक्षी भी कह सकते हैं जो अपने इन दोनों गवाक्षों या पंखों से सारी दुनियां को देखते हैं, नापते–तौलते हैं। इसी सिद्धान्त के माध्यम से जैनाचार्यों ने जैनेतर दर्शनों को देखा–परखा है और पदार्थ के स्वरूप पर चिन्तन किया है। संस्कृत–प्राकृत साहित्य में इस सिद्धान्त पर गहन विवेचन हुआ है और यही ऐसा सिद्धान्त है जिसकी गहराई को जैनेतर दार्शनिकों ने समझे बिना ही उसे अपनी तीखी आलोचना का विषय बनाया है।

जैन दर्शन प्रत्येक तत्त्व को स्वभावतः स्वतन्त्र मानता है। जैन तत्त्वविद्या की दृष्टि से संसार पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन पंच तत्त्वों से बना है। प्रत्येक तत्त्व के अनेक कोण होते हैं, पक्ष होते हैं, दृष्टियां या विशेषतायें होती हैं जिनपर हम न एक साथ विचार कर पाते हैं और न एक साथ उन्हें व्यक्त कर पाते हैं। पदार्थ के अनिश्चित और अपरिमित अंश होने के कारण यह स्थिति होती है। अणु–परमाणु भी ऐसा ही अनन्त अंश वाला है फिर भी वह सावयवी है। आकाश भी इसी तरह अनन्त और सावयवी माना गया है। प्रभाचंद्र और अभयदेव ने इसकी अच्छी व्याख्या की है। उन्होंने आकाश को अमूर्त, असंख्य प्रदेशी और विभाज्य माना है इसे उसका स्वाभाविक गुण कहा है। उन्होंने नैयायिकों के इस मत का पुरजोर खण्डन किया है कि आकाश एक, विभु, नित्य, नाना और निरवयवी है। उन्होंने 'शब्द आकाश का विशेष गुण है' इस सिद्धान्त का भी खण्डन किया है। क्योंकि शब्द उत्पन्न होता है और नष्ट होता है वह किसी एक प्रदेश में रहता है, सर्वव्यापक नहीं होता है। आत्मा के सन्दर्भ में भी इसी प्रकार विचार किया गया है।

इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ पर सर्वांगीण दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए, ऐकान्तिक दृष्टि से नहीं। उनमें अन्योन्यात्मकत्व रहता है जिसे हम पूर्णतः पृथक् नहीं कर सकते। इसी की अभिव्यक्ति हम स्याद्वाद और नयवाद के

माध्यम से कर पाते हैं। जैनेतर दार्शनिकों ने भी इस समस्या पर विचार किया है। संजयबेलट्टिपुत्त का अज्ञानवाद, बुद्ध का विभज्जवाद या माध्यमप्रतिपदा, नागार्जुन का चतुष्कोटि, भर्तृप्रपंच का भेदाभेदवाद, या भट्ट और सांख्य का अनेकान्त सिद्धान्त दार्शनिक क्षेत्र में प्रसिद्ध हैं ही। फिर भी इन सिद्धान्तों में वह व्यापकता नहीं है जो अनेकान्त में दिखाई देती है।

२) नयवाद : सत्यांश को स्वीकार करने का संकल्प

प्रत्येक वस्तु में अनेक विरोधी धर्म रहते हैं जिनका विवेचन सापेक्षता के बिना नहीं किया जा सकता। अपेक्षा वहीं होती है जहां भेद होता है। यह भेद चार तरह से हो सकता है – द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। पदार्थों के बीच भेद के इन कारणों में समन्वय की आवश्यकता होती है। पदार्थ एक कारण से नित्य होता है तो दूसरे कारण से वही अनित्य होता है। संसार जैन दृष्टि के अनुसार उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य रूपात्मक है। इसी को वैदिकों ने ईश्वर का त्रिरूप माना है। इसे नैयायिकों ने सृष्टिवाद, बौद्धों ने प्रतीत्यसमुत्पाद और जैनों ने परिणामि–नित्यवाद कहा है। यह अन्तर निमित्त परक है, तथ्यपरक नहीं।

इस प्रकार का भेद परक दृष्टिकोण व्यक्ति और समाज में बना रहता है। किसी एक भेद पर अधिक बल देने के कारण वैचारिक मतभेदों और संघर्षों का जन्म होता है। इन संघर्षों को अहिंसात्मक आधार पर समाप्त कर, उनमें समन्वय स्थापित कर प्रशान्त वातावरण का निर्माण करना अनेकान्तवाद का उत्तरदायित्व है। वह सापेक्षता की दृष्टि से दुराग्रही वृत्ति को हटाकर समन्वयी वृत्ति को प्रस्थापित करता है। जैनदर्शन ने यह कार्य लगभग प्रथम–द्वितीय शताब्दी में किया है। जैनाचार्यों ने दर्शनान्तरों का अध्ययनकर उनमें साम्य, वैषम्य दिखाकर पारस्परिक विरोधों का शमन किया। आचार्य सिद्धसेन हरिभद्र और अकलंक का विशेष योगदान इसमें रहा है।

नयवाद और स्याद्वाद अनेकान्तवाद के परिपूरक हैं, सहयोगी हैं जो इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हैं कि पदार्थ सापेक्षिक होता है। नयवाद पदार्थ के विशेष तत्त्व की विश्लेषणात्मक भाषा पद्धति है जो ज्ञाता के अभिप्राय की स्थिति को ध्यान में रखकर प्रस्तुत की जाती है और स्याद्वाद संश्लेषणात्मक

पद्धति है जो नय के द्वारा ज्ञात पदार्थ के विविध आयामों को साथ–साथ व्यक्त करता है। अर्थात् नयवाद पदार्थ के एक रूप को बताता है जबकि स्याद्वाद पदार्थ के संपूर्ण रूप की जानकारी देता है। स्याद्वाद वाचक है, अनेकान्तवाद वाच्य है अनेकान्तवाद को सर्वनयात्मक माना है।

नय का सम्बन्ध मात्र विचारों तक ही नहीं रहता, उनमें कतिपम नय शब्द से भी सम्बद्ध हुआ करते हैं पर स्याद्वाद शब्द पर अधिक आधारित है। शब्द का संबन्ध द्रव्यनय से हो सकता है पर स्याद्वाद के साथ ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है। क्योंकि सभी पर्यायें शब्दात्मक और प्रमाणशास्त्रीय, दोनों रहती हैं। शब्द में इतनी शक्ति नहीं रहती कि वह पदार्थ में रहनेवाली विधेयात्मक और निषेधात्मक सत्ता को एक साथ व्यक्त कर सके। इसलिए 'स्यात्' तथा 'अवक्तव्य' का प्रयोग किया जाता है। मस्तिष्क में पदार्थ की इतनी सारी विशेषतायें भरी रहती हैं कि उनका एक साथ वर्णन करना शब्दों के माध्यम से सम्भव नहीं रहता। इसलिए '**स एष नेतिनेतिचतुष्कोटिविनिर्मुक्तत्वम्**' या 'अनिर्वचनीयता' का ध्यान आता है तभी उसका निरूपण करने के लिए 'अवक्तव्य' जैसी संज्ञा का प्रयोग किया जाता है। यह संज्ञा शब्द की असमर्थता को व्यक्त करती है। यदि यह अवक्तव्य दृष्टि सर्वथा ऐकान्तिक होती तो वह विरोधाभासी लगती पर वह चूंकि कथंचित् ऐकान्तिक दृष्टि है, इसलिए उसकी आनुक्रमिक अभिव्यक्ति की निश्चितता की ओर संकेत मिलता है।

अव्यक्तता होने के बावजूद शब्द में अर्थ व्यक्त करने की योग्यता या शक्ति बहुत होती है। यह उसकी शक्ति स्वाभाविकी शक्ति होती है चाहे वह स्वार्थिक हो या परार्थिक हो **(योग्यता हि शब्दार्थयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकशक्तिः ज्ञानज्ञेयोः ज्ञाप्य–ज्ञापक शक्तिवत्, न्याय कुमुदचन्द्र, भाग २, पृ. ५३८)।** जैन दार्शनिक शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं अन्यथा वे शब्दाद्वैतवादियों के साथ बैठ जाते। उनकी दृष्टि में शब्द मात्र वाचक या ज्ञापक होते हैं, कारक नहीं। यह उसका वचनविन्यास है। जैनदर्शन ने दृष्टिभेदों को नय की संज्ञा दी है। प्रारम्भ में निश्चय–व्यवहार संज्ञा आई। वेदान्त की पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टि, बौद्धों का नीतार्थ और नेयार्थ या पारमार्थिक और सांवृतिक सत्य का भी रूप लगभग इसी प्रकार का है। जैनेतर दर्शन एकान्तवाद

की ओर झुकते गये पर जैनदर्शन ने अनेकान्तवाद को ही अपना मूलाधार बनाये रखा।

इस भूमिका के बाद हम यह कह सकते हैं कि नय ज्ञाता के अभिप्राय को व्यक्त करने का साधन है **(नयो ज्ञातुरभिप्रायः)**। वह वस्तु के एक अंश को ग्रहण करता है और दूसरे अंश सापेक्ष रूप में विद्यमान रहते हैं। उन अनभिव्यक्त और प्रच्छन्न अंशों को प्रमाण ग्रहण करता है। प्रमाण सर्वग्राही होता है और नय अंशग्राही। वस्तु अनेकविकल्पात्मक और अनन्तप्रकारात्मक होती है। समासतः उसे हम द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थक नय के माध्यम से जान सकते हैं। तात्पर्य यह है कि वस्तु का स्वरूप द्रव्यपर्यायात्मक है और प्रमाण द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु को जानता है। प्रमाण से जानी हुई वस्तु के द्रव्यांश अथवा पर्यायांश में वस्तु के निश्चय करने को नय कहते हैं। प्रमाण नय नहीं है क्योंकि प्रमाण का विषय अनेकान्त है और नय प्रमाण नहीं है क्योंकि नय का विषय एकान्त है। प्रमाण का विषय विधि प्रतिषेधात्मक दोनों हैं जबकि नय किसी एक को जानता है। प्रमाण से ग्रहीत वस्तु में जो एकान्त रूप व्यवहार होता है वह नयमूलक है। अतः समस्त व्यवहार नय के आधीन हैं। नय के सात भेदों में नैगम, संग्रह और व्यवहारनय द्रव्यार्थिकनय हैं और शेष चार नय पर्यायार्थिक नय माने जाते हैं। प्रथम चार नय अर्थनय है, शेष तीन शब्दनय हैं।

ये नयवाद और स्याद्वाद हमें उस लोककथा का स्मरण दिला देते हैं जिसमें एक हाथी को सात अंधे अपने अपने ढंग से समझते हैं और शब्दों में व्यक्त करते हैं। सिद्धसेन दिवाकर ने इसी नय परम्परा को "विसंजुत्तमणि" कहा है जो स्याद्वाद के माध्यम से एक सुन्दर रयणावली का रूप ले लेते हैं। (सन्मतितर्क प्रकरण, गाथा २२–२५)। सभी नय मिलकर अनेकान्तवाद का सृजन करते हैं।

नय पदार्थ की विवेचन प्रक्रिया है। सापेक्ष प्रतिपादन करने वाला नय है और निरपेक्ष प्रतिपादन करने वाला दुर्नय है समासतः **(निरपेक्ष नया मिथ्या सापेक्षा वस्तुतेऽर्थकृत्)**। पदार्थ का स्वरूप विवेचन दो प्रकार से किया जाता है– द्रव्य रूप से और पर्याय रूप से। इनसे पदार्थ को खण्डित कर जाना जाता है। इसलिए नयज्ञान विश्लेषणात्मक और मानसिक होता है, पर्यायपरक और

एक देशात्मक होता है। इसके विपरीत प्रमाण अखण्डज्ञानात्मक और सकलग्राही होता है। प्रमाण अनेकान्त का ज्ञायक है और नय एकान्त का।

द्रव्यार्थिक नय मुख्य रूप से द्रव्य को ग्रहण करता है, धर्मों में अभेद स्थापित करता है जबकि पर्यायार्थिक नय पर्याय को मुख्य मानकर उनमें अभेदोपचार की स्थापना करता है। इसे क्रमशः पारमार्थिक और व्यावहारिक नय भी कहा जाता है। द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं – नैगम, संग्रह और व्यवहार। तथा पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं – ऋजुसूत्र, शब्द और समभिरूढ एवं एवंभूता। अद्वैत भाव सामान्य है और उसके संपूर्ण भेद विशेष हैं।

इस नय दृष्टि को स्थूलतः सात भागों में विभाजित किया जाता है।

१) नैगमनय

निगम शब्द का अर्थ है संकल्प। अर्थ के संकल्प मात्र को ग्रहण करने वाला नय नैगमनय है। यह उभयग्राही नय है। सामान्य और विशेष दोनों इसके विषय हैं। उद्देश्य और अनुद्देश्य दोनों सापेक्ष रूप से इसमें सन्निहित हैं (नैकं गमः नैगमः)। प्रस्थ बनाने के लिए जंगल जानेवाला व्यक्ति "प्रस्थ के लिए जा रहा हूं" यही कहता है। यह भूत, वर्तमान और भावी नैगम के भेद से तीन प्रकार का है। पुराने नौकर को "यह नौकर है" कहना भूतनैगमनय है। साधक को भगवान कहना भावी नैगम है। वह सम्यक् साधु नहीं, शाश्वत् भगवान हैं यह वर्तमान नैगमनय हैं। नैगमनय जैनदर्शन की अनेकान्त दृष्टि का प्रतीक है। वह वस्तु का नानात्व और एकत्व दोनों का प्रतिपादक है। इस दृष्टि से सांख्य न्याय, वैशेषिक नैगमाभासी हैं क्योंकि वे सर्वथा भेदवादी है। वे धर्म–धर्मी या गुण–गुणी को अत्यन्त भिन्न मानते हैं। नैगमनय द्रव्यार्थिक और ज्ञान नय होने के कारण व्यापक है।

२) संग्रहनय

एक जातिगत सामान्य का संग्रह करना संग्रहनय है। जैसे सत् कहने से समस्त सद् द्रव्यों को ग्रहण किया जाता है। सामान्य नित्य और सर्वगत होता है, अभेद परक होता है जैसे सामान्यतः मनुष्यत्व की दृष्टि से मनुष्य जाति एक है।

पुरुषाद्वैतवाद, ज्ञानाद्वैतवाद, शब्दाद्वैतवाद, अद्वैतवाद, चित्राद्वैतवाद, पुरुषाद्वैतवाद, ब्रह्माद्वैतवाद आदि दर्शन संग्रहनयाभासी हैं क्योंकि वे अभेदवादी और सत्ताद्वैतवादी है। यह नय सामान्य अस्तित्व को विषय करता है। अद्वैत रूप में देखता है।

३) व्यवहारनय

यह भेदपरक नय है। इसमें संग्रहनय के द्वारा भेदों का संग्रह किया जाता है और व्यवहारनय के द्वारा उस संग्रह में और भेद किया जाता है। वनस्पति जानने पर उसका आम्र रूप में निर्धारण करना व्यवहारनय है। चार्वाक् का भूतवाद योगाचार का विज्ञानवाद और माध्यमिकों का शून्यवाद व्यवहारनयाभास हैं। संग्रह, व्यवहारनय और ऋजुसूत्रनय अर्थनय हैं जो द्रव्यार्थिक के अद्वैत और द्वैत भाव को ग्रहण करते हैं।

४) ऋजुसूत्रनय

ऋजु का अर्थ सरल अर्थात् एकत्व है। ऋजुसूत्र नय मात्र वर्तमान क्षणवर्ती क्षुद्र अर्थपर्याय को ही विषय करता है, एकत्व दर्शाता है, उसे अतीत और अनागत से कोई सम्बन्ध नहीं। इस दृष्टि से कुम्भकार को कुम्भकार नहीं कहा जा सकता क्योंकि कुम्भ के बनने का जब समय आता है तब तक कुम्भ स्वयं बन जाता है। यह नय लोक व्यवहार की चिन्ता नहीं करता। पर्यायार्थिकनय का क्षेत्र यहीं से शुरू होता है। सौत्रान्तिकों का सर्वथा निरन्वय क्षणभंगवाद ऋजुसूत्रनयाभास के अन्तर्गत आता है। इस नय की दृष्टि में जो बालक था वही वृद्ध नहीं हुआ। बालक कोई और था जो नष्ट हो गया और वृद्ध रूप में कोई और ही उत्पन्न हुआ है।

५) शब्दनय

इसमें काल, कारक, लिंग, संख्या आदि के व्याकरणिक भेद से भिन्न-भिन्न अर्थ को ग्रहण किया जाता है। इन्द्र, शक्र, पुरन्दर आदि पर्यायभेद होने पर भी एक हैं, समानार्थक हैं। इस नय में समानार्थक शब्दों में भी काल, लिंग आदि के भेद से भिन्नार्थकता हो जाती है। यह दृष्टि शब्दप्रयोग के पीछे छिपे इतिहास को जानने में बडी सहायक होती है। शब्दाद्वैतवादी शब्दनयाभासी हैं।

६) समभिरूढनय

यह नय शब्दभेद से अर्थभेद मानता है। इसमें शब्द अनेक अर्थों को छोडकर किसी एक अर्थ में मुख्यता से रूढ हो जाता है। जैसें ''गौ'' शब्द वाणी, पृथ्वी आदि ग्यारह अर्थों में प्रयुक्त होने पर भी 'गाय' अर्थ में रूढ हो गया। इसमें शब्दभेद से अर्थ भेद भी देखा जाता है। इस नय में शब्द की वक्तव्यता तथा एक शब्द में एक अर्थ की रूढता दिखाई देती है।

७) एवंभूतनय

यह नय शब्द के वाच्यार्थ को प्रगट करता है। अर्थात् जिस समय जो पर्याय या क्रिया हो, उस समय तद्वाची शब्द के प्रयोग को एवं– भूतनय कहते हैं। जैसे चलते समय ही गौ कहा जाये, उठते, बैठते समय नहीं। अतः यह नय क्रियावाचक है।

ये नय सात हैं या उनकी संख्या कम बढ हो सकती है, इस संदर्भ में तीन परम्परायें हैं – १) प्रथम परम्परा सात नयों को मानती है। तत्त्वार्थसूत्र की दिगम्बर परम्परा तथा कतिपय अन्य श्वेताम्बर आचार्य इस परम्परा के पोषक हैं। २) द्वितीय परम्परा में नैगमनय को छोडकर शेष छह नय माने जाते हैं। इस मत के प्रस्थापक हैं आचार्य सिद्धसेन दिवाकर। ३) तृतीय परम्परा समभिरूढनय और एवंभूतनय को छोड देती है और नयों की संख्या पांच कर देती है। इस परम्परा में उमास्वामी के ही तत्त्वार्थसूत्र का श्वेताम्बर संस्करण भाष्य है जो इन दोनों नयों को शब्दनय के अन्तर्गत रखता है।

कुछ परम्परायें ऐसी भी हैं जो एक, दो, तीन या चार नयों को स्वीकार करती हैं। सिद्धसेन दिवाकर यद्यपि नयों की संख्या छह मानते हैं फिर भी वे तीन नयों का भी उल्लेख करते हैं। वे ऋजुसूत्रनय में शब्द, समभिरूढ एवं एवंभूतनय का अन्तर्भावकर यह संख्या मानते हैं क्योंकि ऋजुसूत्रनय ही पर्यायास्तिक नय का विवेचन कर देता है। नैगमनय को भी छोड देने पर मात्र तीन नय बच जाते हैं – संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र।

समवायांगटीका में चार नयों का उल्लेख मिलता है। उसमें नैगमनय के दो विभाग किये गये हैं – सामान्यनैगम और विशेष नैगम। और इन दोनों को

क्रमशः संग्रहनय और व्यवहारनय के अन्तर्गत समायोजित कर देते हैं। इसी तरह समभिरूढनय और एवंभूतनय को शब्दनय के अन्तर्गत रख देते हैं। तब कुल नय चार बच जाते हैं – संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्दनय।

इन सात नयों में पहले चार नय द्रव्यार्थिक और शेष तीन पर्यायार्थिक हैं। कतिपय आचार्य ऋजुसूत्र को पर्यायार्थिक मानते हैं। इसी तरह प्रथम चार नय अर्थग्राही होने से अर्थनय हैं और अन्तिम तीन नय शब्द से संबद्ध होने के कारण शब्दनय हैं। इन नयों का विषय और क्षेत्र उत्तरोत्तर सूक्ष्म, अल्प और पूर्व–पूर्व हेतुक है। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि पर्यायें दो प्रकार की होती हैं – १) अर्थ पर्याय जो सूक्ष्म होती है, क्षण–क्षण बदलती रहती है जैसे बाल्य, यौवन आदि अवस्थायें। इसे गुण कह सकते हैं। २) व्यंजनपर्याय जो स्थूल हैं, शब्दगोचर और स्थायी हैं। जैसे जन्म से लेकर मरण पर्यन्त पुरुष में 'पुरुष' शब्द का प्रयोग होता है।

इसी तरह पदार्थ का विवेचन निश्चयनय और व्यवहारनय के माध्यम से भी किया जाता है। एक भूतार्थ है तो दूसरा अभूतार्थ, एक अभेदग्राही है तो दूसरा भेदग्राही। निश्चयनय वस्तु के त्रैकालिक ध्रुव स्वभाव का कथन करता है पर व्यवहार नय उसकी पर्यायों पर केन्द्रित रहता है। संसारी जीव व्यवहारनय के माध्यम से निश्चय नय की ओर बढता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयप्राभृत (गाथा १२) में दोनों नयों को उपादेय माना है।

निक्षेप व्यवस्था

निक्षेप भाषा और भाव की संगति है। नय विषय के शब्द व्यवहार का वर्गीकरण है। इसके बिना प्रास्ताविक अर्थ को नहीं समझा जा सकता। पदार्थ को सही रूप से समझने के लिए निक्षेप की व्यवस्था की गई है। इसमें प्रस्तुत अर्थ का बोध कराया जाता है अप्रस्तुत अर्थ को छोडकर। अप्रस्तुत अर्थ को कल्पनाओं द्वारा व्यक्त किया जाता है। इनका समावेश द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों में हो जाता है परन्तु विषय को अधिक स्पष्टता पूर्वक समझने के लिए निक्षेप की व्यवस्था की गई है। उसमें जीवादि शब्दों के द्वारा जीवादि पदार्थों का प्ररूपण किया जाता है। निक्षेप का दूसरा नाम न्यास भी है। इसके चार भेद हैं – नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।

नाम, निक्षेप में जाति, गुण आदि का ध्यान रखे बिना ही नाम रख दिया जाता है। 'जितेन्द्र' नाम का तात्पर्य यह नहीं कि उसे जितेन्द्र होना ही चाहिए। अर्थात् शब्द के अर्थ की प्रधानता न देखकर केवल व्यवहार के लिए उसका नाम रख दिया जाता है। स्थापना निक्षेप में तदाकार या अतदाकार रूप में वस्तु में किसी की स्थापना की जाती है। जैसे प्रस्तर में किसी तीर्थंकर मूर्ति को मान लेना। द्रव्यनिक्षेप वह है जिसमें आगामी पर्याय को ध्यान में रखकर शब्द का प्रयोग किया जाता है जैसे युवराज को भी राजा कहना। तथा भावनिक्षेप में वर्तमान अवस्था के आधार पर ही वस्तु का नाम दिया जाता है। जैसे सिंहासीन व्यक्ति को ही राजा कहना। निक्षेप शब्दिक विषय विभाग का प्रयोजक है।

नय और निक्षेप का विषय–विषयी सम्बन्ध है। नयादि तीन निक्षेप द्रव्यनय के विषय हैं और भाव पर्यायनय का। द्रव्यनय का संबन्ध तीन काल से होता है और भाव का संबन्ध वर्तमान पर्याय से होता है। निक्षेप का आधार प्रधान–अप्रधान और कल्पित–अकल्पित होता है। इसमें पदार्थ सामने नहीं रहता। उसका प्रतिपादन कल्पनाओं द्वारा किया जाता है। नय ज्ञान है और निक्षेप व्यवहार है। निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान आदि दृष्टियां इसीके अंतर्गत आती हैं।

३) स्याद्वाद

स्याद्वाद एक ऐसी पद्धति है जो नयवाद की परिपूरक है। नयवाद द्रव्यार्थिक या पर्यायार्थिकनय के आधार पर पदार्थ का विश्लेषण करता है जो स्याद्वाद नय की प्रक्रिया को आगे बढाता हुआ उनके सभी तारों को एक साथ जोड देता है। ये तार ही भंग कहलाते हैं। जो किसी न किसी सत्य को व्यक्त करते हैं। ये भंग स्वद्रव्यचतुष्टय से विधेयात्मक हैं और पर द्रव्य–चतुष्टय से निषेधात्मक हैं।

स्याद्वाद को भंगों के आधार पर सप्तभंगी भी कहा जाता है, कतिपय आचार्यों ने इसे संहारवाद, सर्ववस्तुशबलवाद, अकुलवाद, संकीर्णवाद, तदतत्ववाद और विभज्जवाद भी कहा है। पर इन सभी नामों में स्याद्वाद शब्द अधिक प्रचलित हुआ है। सप्तभंगी को स्याद्वाद का ही अंग माना जाता है। यहां

तक कि अनेकान्तवाद भी स्याद्वाद की परिधि में आ जाता है। क्योंकि अभिव्यक्ति ही एक सबल माध्यम है और उसे निर्दोष रखने का उत्तरदायित्व स्याद्वाद के कंधों पर आता है। उसी के माध्यम से पदार्थ के किसी स्वरूप को व्यक्त कर देते हैं और उसका दूसरा स्वरूप पास ही खड़ा रहता है। पदार्थ के विविध रूप मुख्यता के आधार पर सामने आते–जाते हैं। वे सभी सापेक्ष होते हैं। किसी का भी पूर्ण निषेध नहीं किया जाता। इसलिए इस सिद्धान्त को सापेक्षवाद भी कहा जा सकता है।

अनेकान्तवाद विचार करने की प्रणाली है और स्याद्वाद उसके प्रति–पादन की। पदार्थ की अनन्त अवस्थायें हैं, ज्ञान की शक्ति भी अपरिमित है पर वाणी की शक्ति सीमित है। उन अनन्त गुणों को स्पष्ट करना उसकी शक्ति के बाहर है। इसलिए जैन दार्शनिकों ने 'स्यात्' या 'कथञ्चित्' का अर्थ यह बताया है कि अभिव्यक्त सत्यांश के अतिरिक्त भी सत्य है जिसे कहा नहीं जा सका। इससे विरोधी धर्मयुगल का निषेध नहीं होता। 'स्यात्' के प्रयोग से कदाग्रही या हठवादी दृष्टि विलुप्त हो जाती है। दूसरे की दृष्टि के प्रति आदर व्यक्त होता है, खुली मानसिकता प्रगट होती है और वैषम्य के बीज समाप्त हो जाते हैं। इससे सापेक्षता की सिद्धि होती है। 'स्यात्' निपात का अर्थ शायद नहीं है और न उससे किसी भी प्रकार का संशय व्यक्त होता है। बल्कि वह तो सापेक्षता पूर्वक निश्चित स्थिति को व्यक्त करता है। वहां 'एव' ही का भाव न रहकर 'अपि' भी का भाव ध्वनित होने लगता है। 'स्यात्' शब्द के साथ 'एव' का प्रयोग किया जा सकता है। 'एवकार' के प्रयोग के तीन प्रयोजन होते हैं – अयोग, अन्ययोग और अत्यन्तायोग का व्यवच्छेद। 'स्यात्' के प्रयोग से एकांगी दृष्टिकोण समाप्त हो जाता है।

पदार्थ में सत्, असत् आदि स्वभाव होते हैं। वे स्वभाव की अपेक्षा सत् और परभाव की अपेक्षा असत् होते हैं। इसलिए उनका विवेचन करने के पूर्व जैन दार्शनिक अनेकान्तात्मक 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करते हैं और वेदान्तिक पारमार्थिक और व्यावहारिक जैसे नयों की बात करते हैं। बुद्ध ने भी 'अनेकंस' जैसे शब्द का प्रयोग कर हेयोपादेय की व्यवस्था बना दी। इसमें विधि निषेधात्मकता भी रहती है। नास्तित्व होने पर भी स्वदृष्टि से उसका अस्तित्व स्वयं सिद्ध है।

पदार्थ के सत् और असत् स्वभाव के आधार पर जैन और जैनेतर सम्प्रदायों में उत्तर देने की परम्परा बहुविध रही है। वैदिक साहित्य में सत् और असत् की बात नासदीय सूक्त में कही गई है। उपनिषद् काल में तो वह और स्पष्ट रूप से सामने आती है। नैयायिक 'अनेकान्त' शब्द का प्रयोग करते हैं और वेदान्तिक पारमार्थिक और व्यावहारिक जैसे नयों की बात करते हैं। बुद्ध ने भी 'अनेकंस' जैसे शब्द का प्रयोग कर दार्शनिक प्रश्नों का उत्तर चतुष्कोटि के माध्यम से दिया है। इससे यह स्पष्ट है कि प्राचीन दार्शनिक पदार्थ के अनन्त स्वभाव पर चिन्तन करते रहे हैं और उसकी सम्यक् अभिव्यक्ति का भी प्रयत्न करते रहे हैं।

जैन दार्शनिकों ने उक्त प्रयत्न को और आगे बढाया। उन्होंने पदार्थ के विधि–निषेधात्मक स्वरूप को सात प्रकारसे विभाजित कर उसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। इसी को सप्तभंगी कहा गया है। ये सात भंग इस प्रकार हैं – १) स्यादस्ति, २) स्यान्नास्ति, ३) स्यादस्ति नास्ति, ४) स्यादवक्तव्यम्, ५) स्यादस्ति च अवक्तव्यम्, ६) स्यान्नास्ति चावक्तव्यम्, और ७) स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यम्।

ये सात भंग वस्तु के संदर्भ में प्रश्न संख्या पर आधारित हैं (प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेध कल्पना सप्तभंगी – त.रा.पृ १–६)। प्रश्न या जिज्ञासा की संख्या सात है, अतः उत्तर भी सात हैं। गणित के नियमानुसार तीन के अपुनरुक्त विकल्पभंग सात ही हो सकते हैं। मूल भंग अस्ति, नास्ति, अस्ति–नास्ति अथवा अवक्तव्य हैं। शेष भंग इन्हीं के संयोग से निर्मित हैं। इन सात भंगों में कतिपय आचार्य तृतीय भंग को चतुर्थ और चतुर्थ को तृतीय स्थान देते हैं। इनमें मूल भंग तीन ही हैं – स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति नास्ति च। शब्दों में उभय रूपों को व्यक्त करने का सामर्थ्य न होने के कारण चतुर्थ भंग 'अवक्तव्य' नियोजित किया गया। ऋग्वेद और उपनिषद् में सत्, असत् और उभय में तीन पक्ष प्रचलित रहे। बाद में अनुभय जोडकर चतुष्कोटिक सत्य की प्रस्थापना हुई। जैनों ने इसी का विकास सप्तभंगी रूप में किया।

सप्तभंगों में क्रमभेद

सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द ने सप्तभंगों का नामोल्लेख मात्र किया है। उन्होंने प्रवचनसार (गा. २.२३) में स्यादवक्तव्य को तृतीय और स्यादस्ति नास्ति को चतुर्थ भंग माना। परन्तु पंचास्तिकाय (गा. १४) में स्यादस्ति नास्ति को तृतीय और अवक्तव्य को चतुर्थ भंग स्वीकार किया। इसी तरह अकलंकदेव ने भी इन दोनों परम्पराओं को मान्यता दी तत्त्वार्थराजवार्तिक में। यह परम्परा आगे भी मिलती है। पर इन दोनों परम्पराओं में दार्शनिक क्षेत्र में दूसरा क्रम अर्थात् 'स्यादस्ति नास्ति' अधिक प्रचलित रहा और अवक्तव्य को चतुर्थ स्थान मिला। यथार्थ में विधि प्रतिषेध को क्रम से और युगपत् कथन करने की अपेक्षा से तृतीय और चतुर्थ भंग होता है। पर दूसरी दृष्टि से विचार करने पर स्यादस्ति, स्यान्नास्ति और स्यादवक्तव्य ही मूल भंग प्रतीत होते हैं। गणितसूत्र के अनुसार तीन मूल भंगों के ही सभी संयोगी भंग सात होते हैं। अतः अवक्तव्य ही तृतीय भंग होना चाहिए। समन्तभद्र ने युक्त्यनुशासन (पद्य ४५) में यही व्यवस्था स्थापित की है। उन्होंने वहां सदैकान्तवादी सांख्य, असदैकान्तवादी माध्यमिक तथा, सर्वथा उभयवादी वैशेषिक और अवक्तव्यैकान्तवादी बौद्धों का निराकरण करके आद्य चार भंगों का ही उपयोग किया है और शेष तीन भंगों के उपयोग की सूचना मात्र की है। आचार्य विद्यानन्द ने शेष तीन भंगों का उपयोग शंकर के अनिर्वचनीयवाद को सदवक्तव्य, बौद्धों के अन्यापोहवाद को असदवक्तव्य और योग के पदार्थवाद को सदसदवक्तव्य बतलाया है। ये भंग प्रमाण और नय की अपेक्षा से घटित होते हैं।

अनेकान्तवाद विरोध

स्याद्वाद सिद्धान्त के आधार पर एक ही पदार्थ में भेद और अभेद, नित्य और अनित्य आदि जैसे विरोधी तत्त्व समाहित रहते हैं। पर एकान्तवादी दर्शन इससे सहमत नहीं। उनका कथन है कि परस्पर विरोधी दो धर्म एक ही तत्त्व में नहीं रह सकते। इस आधार पर स्याद्वाद में उन्होंने साधारणतः निम्नलिखित दोषों को उपस्थित किया है – १) परस्पर विरोध, शीत–उष्ण के समान, २) वैयधिकरण्य – एक साथ एक ही स्थान में विरोधी धर्मों की स्थिति, ३) अनवस्था

– परम्परा के विश्राम का अभाव, ४) व्यतिकर – सामान्य और विशेष गुणों को

एक ही स्वभाव में रखना, ५) संकर – मिश्रण, ६) संशय – संदेह, ७) अप्रतिपत्ति – अनुपलिब्ध, ८) उभयदोष – दोनों ओर दोष या अभाव।

स्याद्वाद के आलोचकों ने उसमें तीन और दोषों की भी खोज की है – उदारता (Eclectricism), संशय (agnasticism), विरोध (Contradiction)। इन दोषों पर हम यहां संक्षेप में विचार करेंगे। उदारता (eclectricism) दार्शनिक क्षेत्र में उस सिद्धान्त का नाम है जो सभी दर्शनों के सत्य को आकलित करता है। यह काम एक प्रकार से चित्रकारी का काम है जो अव्यवस्थित और अमौलिक कार्य है और वह आलोचना का विषय बना है। प्रथम दो भंग स्यादस्ति और स्यान्नास्ति परस्पर विरोधी नहीं है।

प्रथम भंग घट के अस्तित्व की सूचना देता है और दूसरा भंग उसके अस्तित्व काल में पट के अस्तित्व का निषेध करता है। तीसरा भंग दोनों भंगों का संमिलित रूप है जिसमें क्रमार्पण है, क्रमशः व्यवस्था है और चतुर्थ भंग अवक्तव्य की स्थिति व्यक्त करता है जिसमें सहार्पण है। तथागत बुद्ध ने भी इसी तथ्य को अव्याकृत कहा है और नागार्जुन ने आगे चलकर उसे चतुष्कोटि विनिर्मुक्त कह दिया। इसी को अनिर्वचनीयवाद भी कहा गया।

भर्तृहरि ने वाक्यप्रदीय में **'इदानीं शब्दस्यैव जगन्मूलत्वं प्रपञ्चयति'** कहकर हर तत्त्व को व्याकृतेय माना है। अद्वैतवाद में इसी तत्त्व ने अनिर्वचनीयता का स्थान ले लिया। बौद्धदर्शन में भी लगभग यही विचारधारा मिलती है। जैनदर्शन ने यहां उसे व्याकृतेय और अव्याकृतेय दोनों माना है। अकलंक ने उसे **'अर्पणभेदादविरोधः पितृपुत्रादिसम्बन्धवत्'** कहकर स्पष्ट किया है। इसलिए जैनाचार्यो ने शब्द और अर्थ के बीच वाच्य–वाचक नियम या एकार्थत्वनियम माना है जबकि कतिपय जैनेतराचार्यो ने उसे 'नानाशब्दवाद' की संज्ञा दी है। इसके बावजूद सभी आचार्य इस तथ्य को मानते हैं कि भिन्नार्थ व्यक्त करने के लिए एक ही शब्द का प्रयोग अनेक बार करना पडता है। समभिरूढनय की यही विशेषता है। गौ शब्द का प्रयोग भिन्नार्थक होने पर अनेक बार प्रयोग करना पडता है। जैन दार्शनिक इसे 'सादृश्योपचार' कहते हैं और 'प्रतिनियत वाच्यवाचकभाव' कहकर उनमें संज्ञासंज्ञी सम्बन्ध स्थापित करते हैं। यही उसकी अवक्तव्यता है क्योंकि एक शब्द भिन्नार्थक होते हुए भी एक बार में एक ही

अर्थ को व्यक्त कर पाता है। 'युगपत्' स्थिति को व्यक्त करने के लिए 'स्यादवक्तव्य' कहना पडेगा। तृतीय भंग में उभयप्राधान्य रहता है। शेष तीन भंग प्रथम चार भंगों का ही विस्तार है।

उदाहरणतः घट स्वयं में स्वद्रव्यचतुष्टय से विद्यमान है पर पटादि दृष्टि से वह उनसे भिन्न हैं। इस द्वैततत्त्व को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता अन्यथा निषेधात्मक तत्त्व अदृश्य हो जायेंगे और उनकी पर्यायों में परस्पर मिश्रण हो जायेगा।

जैनदर्शन इन दोषों में से किसी भी दोष को स्वीकार नहीं करता। इन दोषों में परस्पर विरोध एक सर्वसाधारण दोष दिखाई देता है। पर वह उसमें इसलिए नहीं है कि उसके अनुसार वस्तु अनन्तधर्मात्मक है और उन धर्मो को साधारण व्यक्ति तब तक नहीं समझ सकता जब तक वह भावाभावात्मक, भेदाभेदात्मक, नित्यानित्यात्मक, सामान्य-विशेषात्मक, द्रव्यपर्यायात्मक रूप से चिन्तन न करे। प्रत्येक द्रव्य स्वद्रव्य चतुष्टय से सम्बद्ध रहता है और पर द्रव्य चतुष्टय से असंबद्ध।

स्याद्वाद अन्य दर्शनों को समन्वित करता है इसमें कोई मतभेद नहीं है। पर उसमें कोई मौलिकता न देखना यह निश्चित ही आश्चर्य की बात है। वह पूर्ण सत्य को प्रस्तुत अवश्य नहीं करता जो संभव भी नहीं है पर क्रमशः पदार्थ के स्वरूप को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से समझने-समझाने का प्रयत्न तो करता ही है। यही उसकी मौलिकता है। इससे पदार्थ का सुन्दर यथाशक्ति विश्लेषण होता है और दृष्टियों के मतभेद समाप्त हो जाते हैं। इसे अज्ञानवाद या संशयवाद का रूप बताना भी भ्रमात्मक है। पदार्थ को सात भंगों से देखकर उसके विषय में उत्पन्न संशय को तो वह दूर ही करता है। उसे हम शायदवाद की भी संज्ञा नहीं दे सकते क्योंकि जिस दृष्टि से वह पदार्थ के स्वरूप का व्याख्यान करता है उस दृष्टि में उसे कोई संशय नहीं बल्कि निश्चयात्मकता है और अवशिष्ट दृष्टियों को देखने के लिए भी उसने सारे दरवाजे खोल रखे हैं।

तीसरा दोष परस्पर विरुद्धता है जिसपर अधिकांश दार्शनिकों ने अपना मत व्यक्त किया है। सत और असत एक स्थान पर कैसे रह सकते हैं? यह विरोध बाहर से अवश्य दिखाई देता है पर वस्तुतः है नहीं। जात्यन्तर के आधार

पर ही विरोधात्मकता को समझा जा सकता है। पदार्थ में भेदाभेदात्मकता का संमिश्रण ही जात्यन्तर है। जैसे स्वभाव को देखकर किसी को 'नरसिंह' कह देना। अपेक्षा की दृष्टि से वे एक स्थान पर बने रह सकते हैं। धर्मकीर्ति का यह तर्क भी व्यर्थ है कि पदार्थ के सामान्यविशेषात्मक होने से दही और ऊंट एक हो जायेगा। अकलंक ने इसका उत्तर देते हुए कहा कि 'सर्वेभावास्तदतत्स्वभावः' के अनुसार दही और ऊंट पदार्थ की दृष्टि से एक हैं पर स्वभावादि की दृष्टि से पृथक् न होते तो दही को खाने वाला ऊंट क्यों नहीं खा लेता। सुगत पूर्व पर्याय में मृग थे, सुगत की पूजा क्यों की जाती और मृग क्यों खाने के काम आता है? अतः द्रव्य और पर्यायों में तादात्म्य और नियत सम्बन्ध होना आवश्यक है। कोई भी द्रव्य अपनी संभावित पर्यायों में ही परिणत हो सकता है (न्यायविनिश्चयविवरण भाग २, पृ. २३३)।

स्याद्वाद पर आक्षेप करने वालों ने स्याद्वाद को भलीभांति समझने का प्रयत्न ही नहीं किया। वस्तुतः स्याद्वाद विरोध लाता नहीं बल्कि अविरोधी धर्मो में जो विरोध लगता है उसे मिटाता है। वे विरोधी धर्म विभिन्न अपेक्षाओं से एक वस्तु में रहते हैं, न कि एक ही अपेक्षा से। कोई भी द्रव्य अपनी संभावित पर्यायों में ही बदल सकती है। शंकर, रामानुज, बल्लभ आदि वेदान्ताचार्यो ने तथा धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित आदि बौद्धाचार्यो ने और डॉ. राधाकृष्णन, हिरिमन्न, वेलनकर, राहुल सांकृत्यायन आदि जैसे आधुनिक विद्वानों ने स्याद्वाद में इसी प्रकार के दोषों को गिनाया है जो उनकी सापेक्षिक दृष्टि को न समझ पाने का कारण है। 'स्यात्' लगाने से यह सापेक्षता कथन में आ जाती है। इससे हम वस्तु के अस्तित्व गुण के साथ ही अदृश्य या अविवेचित नास्तित्व गुण को भी अस्वीकार नहीं करते। कथन करते समय कोई एक गुण मुख्य हो जाता है और दूसरा गुण गौण हो जाता है।

इस प्रकार अनेकान्तवाद नयवाद, निक्षेपवाद और स्याद्वाद के आधार पर वस्तु का सम्यक् विवेचन करता है। वह एक कुशल न्यायाधीश के समान एकान्तवादियों की सभी दृष्टियों को, तर्कों को निष्पक्ष भाव से सुनता-समझता है और तटस्थवृत्ति से उसे फिर प्रस्तुत करता है। यह वस्तुतः महावीर के अहिंसात्मक विचारों का फल है जो वैचारिक समन्वय की बात कर बौद्धिक

हिंसा से व्यक्ति को मुक्त कर देता है। बौद्धिक हिंसा ही कायिक, वाचिक और

मानसिक हिंसा को जन्म देती है। इससे पारिवारिक कलह और सामाजिक विद्वेष भी शान्त हो जाते हैं। पारस्परिक विचारों का समादर कर सापेक्ष दृष्टि से सत्य को उद्घाटित करना और अहिंसक दृष्टि को प्रस्तुत करना ही अनेकान्तवाद का उद्देश्य रहा है। लोक व्यवहार को संगत बनाने के इस गुण को देखकर ही आचार्य सिद्धसेन ने उसे नमस्कार किया है –

जेण विणा लोगस्स वि, ववहारे, सव्वहा ण णिघडइ ।
तस्स भुवणेकगुरुणो, णमो अणेगंतवायस्स ।।

अनेकान्तवाद जीवन से जुडा हुआ सिद्धान्त है। यह कभी भी अप्रासंगिक नहीं हो सकता। क्रोधादि कषायों के कारण संघर्ष होते हैं, पारस्परिक विचारों की अवमानना होती है, इच्छाओं की असीमितता होने से दूसरों की संपत्ति का आहरण होता है, युद्ध होते हैं। अनेकान्तवाद इन कारणों को दूर करता है, मन को शान्त कर आत्मिक शान्ति स्थापित करता है और समाज को पारस्परिक विघटन से बचाता है। इसमें सभी विरोध शान्त हो जाते हैं।

अनेकान्तवाद : एक प्रशस्त जीवन पद्धति

अनेकान्तवाद प्रशस्त जीवन पद्धति का एक अमूल्य सूत्र है जिसमें व्यावहारिक हिंसा से बचाव होता है और विरोधी तत्त्व के स्वरूप को समझने का सामर्थ्य बढता है। प्रकृति विरोधी युगलों से अपूर है। ज्ञान–अज्ञान, जीवन–मृत्यु, सुख–दुःख, निर्धन–धनी, विधि–निषेध आदि रूपों में पक्ष और प्रतिपक्ष एक साथ बैठे रहते हैं। उनके बिना जीवन का अस्तित्व नहीं रह सकता। गति के बिना स्थिति हो ही नहीं सकती। चेतन–अचेतन भी एक दूसरे के बिना रह नहीं सकते। लोक के साथ अलोक का भी अस्तित्व है जहां गति–स्थिति नहीं रहती। अनेकान्तवाद में ऐसी ही दो नय विरोधी तत्त्वों का समावेश बना रहता है। दोनों तत्त्वों में संघर्ष होता है और वही संघर्ष विकास का सूचक है।

विरोधी युगलों का सह–अस्तित्व एक जीवन क्रम है, स्वाभाविक व्यवस्था है। ऐसी स्थिति में उनपर ऐकान्तिक दृष्टि से विचार करना प्रकृति के साथ अन्याय होगा। वस्तु तत्त्व ही जब अनेकान्तात्मक है तब उस पर चिन्तन या

उसकी अभिव्यक्ति ऐकान्तिक कैसे हो सकती है? वे सभी परस्पर सापेक्ष हैं। उनके सह अस्तित्व में ही जीवन पलता-पुसता है। इसी को आचार्यों ने **'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'** कहकर स्पष्ट किया है। यह आवश्यक तब और हो जाता है जब हम यह समझ लें कि व्यक्त तत्त्व के साथ अव्यक्त तत्त्व भी पृष्ठभूमि में संश्लेषित रहते हैं। हम व्यक्त को तो देख लेते हैं, पदार्थ की वर्तमान पर्याय को आधार बनाकर उससे ममता स्थापित कर लेते हैं पर उसके अव्यक्त तत्त्व को नहीं देख पाते। जो आज मित्र है वह कल के दिन शत्रु भी बन सकता है, जो आज हमारा है कल के दिन उसका वियोग भी हो सकता है।

हर व्यक्ति में अनन्त सम्भावनाएं छिपी रहती हैं, कोयला में भी हीरे होने की शक्ति रहती है। इस तथ्य को स्वीकार किये बिना रोग से भी मुक्ति नहीं हो पाती। निराशा ही सदा हाथ बनी रहेगी। अतः यह तत्त्व स्थापित हो जाता है कि सर्वथा विरोध या सर्वथा अविरोध, सर्वथा भेद या सर्वथा अभेद, सर्वथा द्वैत या सर्वथा अद्वैत जैसी व्यवस्था प्रकृति में नहीं है, सर्वथा न निश्चय की बात की जा सकती है और न सर्वथा व्यवहार की बात हो सकती है। सूक्ष्म सत्य को समझने के लिए निश्चयनय उपयोगी है और स्थूल नियमों को समझने के लिए व्यवहारनय आवश्यक है। जीवन का यथार्थ सत्य इसी क्रम से जाना जा सकता है। सामान्य और विशेष गुण की भी यही स्थिति होती है।

अनेकान्तवाद का साधक किसी भी दर्शन को पूर्णतः मिथ्या नहीं कह सकता। सम्यक् या मिथ्या कहना उसकी दृष्टि या विवेक पर आधारित है। पदार्थ को सापेक्ष दृष्टि से ही समझा जा सकता है। अर्धोन्मीलित नेत्र भी इसी का प्रतीक है कि साधक बाह्य और अन्तर दोनों जगत को स्वीकार करे। 'स्यात्' शब्द का प्रयोग कर इसी सापेक्षता को व्यक्त किया जाता है। दिन-रात, ऊंचा-नीचा आदि की भी व्याख्या सापेक्षता के आधार पर ही हो पाती है। मुख्य की विवक्षा करने पर गौण पृष्ठभूमि में चला जाता है और गौण की विवक्षा करने पर मुख्य परदे के पीछे खडा हो जाता है, उसका अस्तित्व समाप्त नहीं होता।

अनेकान्त को तृतीय नेत्र कहा जाता है अर्थात् दो नेत्र क्रमशः अस्तित्व और नास्तित्व को देखते हैं पर तृतीय नेत्र अस्तित्व और नास्तित्व को एक साथ सापेक्षता पूर्वक देखता है। यही ऐसी नेत्र है जो दार्शनिक क्षेत्र में सभी सिद्धान्तों

को निश्चयनय और व्यवहारनय के माध्यम से समतापूर्वक देखता–विचार करता है। उत्पाद और व्यय के साथ ध्रौव्य भी रहता है। ध्रौव्य तृतीय नेत्र है। अर्थात् पदार्थ कभी विनष्ट नहीं होता। वह विविध पर्यायों में परिणमन करता रहता है। स्थूल और सूक्ष्म का समन्वित रूप ही संसार है, यह संसार उभयात्मक है। न मात्र निश्चयात्मक है, न मात्र व्यवहारात्मक है, बल्कि निश्चय–व्यवहार रूप उभयात्मक है। इसी को हम सम्यक् दृष्टि कह सकते हैं। इसमें साधक तटस्थ होकर वस्तुचिन्तन करता है।

अनेकान्त का उद्भव

मानव यथार्थ सत्य के अन्वेषण में सदैव से गतिशील रहा है। ऋषि महर्षियों ने उसे ज्ञान और ईश्वर के समकक्ष माना है। धर्म और सत्य समानार्थक शब्द हैं। संवेग, भावना और अनुभूति उसके अभिन्न पक्ष हैं। आस्था, सदाचरण और प्रतिबद्धता उसके अनिवार्य तत्त्व हैं। ऋग्वेद का नासदीय सूक्त (१०.१२९.१–७) इस तथ्य का प्रमाण है कि आध्यात्मिक सन्त सत्य की खोज में व्यस्त रहते थे। अथर्ववेद के वरुण को सत्यानृत समीक्षक के रूप में दिखाया गया है। सत् और असत् की जिज्ञासा में वैदिक, जैन, बौद्धादि सभी आचार्य जुटे रहे हैं। अपनी प्रतिभा, शक्ति और अध्यवसाय से जिसे जितना मिल गया उसकी सत्य की खोज वहां पूर्ण हो गई। अतएव मतभेद भी स्थापित हुए।

जीवन और जगत की इस खोज के फलस्वरूप दर्शन का प्रारम्भ हुआ और जिज्ञासा के कारण मानव का निरन्तर विकास होता रहा। ज्ञान के माध्यम से सुखद वातावरण का संयोजन हुआ। बौद्धिक क्षमता, तार्किक प्रामाणिकता और भावनात्मक समन्वयता ने व्यक्ति को सामाजिक समरसता की ओर आगे बढाया। भौतिकवाद से विज्ञान की दिशा में पग बढे और आध्यात्मिक उन्मेष से सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र के प्रति निष्ठा, विवेक जागृत हुआ। अनुभवों और सिद्धान्तों की प्रस्थापनाएं हुई। उनपर मन्थन, चिन्तन और मीमांसा की गई। पक्ष प्रतिपक्ष स्थापित हुए, बाद विवाद सिद्धान्त बने और इसी पृष्ठभूमि में अहिंसामयी अनेकान्तवाद का जन्म हुआ।

अनेकान्तवाद का जन्म अहिंसा विचारधारा से हुआ। वह धर्म भी बन

गया और उसने दर्शन का भी रूप ग्रहण कर लिया। इसी रूप ने निराग्रही वृत्ति

पूर्वक धर्म और दर्शन की समस्याओं पर गम्भीर आलोचनात्मक परीक्षण किया और सत्य की पराकाष्ठा तक जाकर हर सिद्धान्त का मूल्यांकन किया। प्रमाण, नय, निक्षेप आदि विविध विधाओं के माध्यम से स्वानुभूतिक सत्य को उद्घाटित किया। इस दृष्टि से अनेकान्तवाद मानवतावाद के एक अभिन्न रूप में प्रतिष्ठित हो गया। मनोवैज्ञानिक विधा भी इसके अन्तर्गत समीक्षित हुई। सिद्धान्तों का निष्पक्ष एवं तर्क संगत मूल्यांकन अनेकान्तवाद का पाथेय रहा है। सतत चिन्तन और अन्तःप्रज्ञा से पदार्थ के स्वरूप की प्रस्तुति में आध्यात्मिक सत्य का जो साक्षात्कार हुआ उससे सिद्धान्त ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। तार्किक विधियों ने भी विश्लेषणकर निष्कर्ष निकाले, अनुभव और प्रमाण ने अवधारणा और प्रत्यय को संस्थापित किया। इस आधार पर वस्तुतत्त्व की गहन मीमांसा हुई और उसे अहिंसा की अखण्ड शिला पर प्रतिष्ठित किया गया।

इस दृष्टि से अनेकान्तवाद के प्रतिष्ठापक तीर्थंकर ऋषभदेव को माना जा सकता है जिन्होंने अहिंसा का मार्ग दिखाया था। चूंकि उनका उल्लेख वेदोपनिषदों में आता है अतः वैदिक परम्परा में अनेकान्तवाद वेद- पूर्व का होना चाहिए। यह परम्परा सतत बनी रही। पालि साहित्य में इसका उल्लेख पार्श्वनाथ की परम्परा के साथ उपलब्ध होते हैं। अतः अनेकान्तवाद के सूत्र बहुत प्राचीन काल से चले आये हैं। उनका विकास तीर्थंकर महावीर और उनके उत्तरवर्ती आचार्यो ने अधिक किया है। आचार्य कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, अकलंक, सिद्धसेन, हरिभद्र, विद्यानन्द आदि शताधिक आचार्यो की प्रतिभा ने इस सिद्धान्त को स्पष्ट किया है।

प्राचीन जैनागमों में भी अनेकान्तवाद सूत्र बिखरे पडे हुए हैं। उदाहरणार्थ भगवती सूत्र में लिखा है कि तीर्थंकर महावीर को केवलज्ञान होने के पूर्व जो दस महास्वप्न दिखाई दिये थे उनमें तृतीय स्वप्न था – चित्र–विचित्र पक्ष मुक्त पुंसकोकिल को देखना। यह विशेषण अनेकान्तवाद का प्रतीक माना जा सकता है। इतना ही नहीं, अस्ति–नास्ति, सामान्य–विशेष, वाच्य अवाच्य आदि विषयक अनेक उल्लेख आगमयुग में दृष्टव्य हैं। सूत्रकृतांग में इसे विभज्यवाद और कसायपाहुड में भजनावाद (भाग १. पृ. २८१) भी कहा गया है। समवायांग सूत्र में 'एगे आया, एगे अणाया' कहा गया है। भगवतीसूत्र में लोक को सान्त और

अनन्त माना है। इस प्रकार के अनेक उद्धरण एकत्रित किये जा सकते हैं जिनमें पदार्थ के स्वरूप पर सापेक्षिक दृष्टि से विचार किया गया है।

अनेकान्तवाद की व्यापकता

अनेकान्तवाद परस्पर विरोधी युगलों का समन्वयात्मक रूप है। इसमें वस्तुतत्त्व की समग्र विशेषताओं का आकलन किया जाता है। इस आकलन की व्यवस्था के कतिपय ये सूत्र हैं जिनके माध्यम से विवक्षित वस्तु को सम्यक् रूप से समझा जा सकता है –

१) अस्ति–नास्ति का समन्वय – जैन परम्परा न मात्र अस्तित्व को मानती है और न मात्र नास्तित्व को स्वीकार करती है। वह तो अस्तित्व और नास्तित्व की समन्वित अवस्था में विश्वास करती है। दोनों का अपना–अपना अस्तित्व है, अपना–अपना मूल्य है। अस्तित्व द्रव्य का स्वभाव है और नास्तित्व द्रव्य का परभाव है पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से उसका नास्तित्व है। इसी को अपोहवृत्ति कहा जाता है।

२) वाच्य और अवाच्य का अविनाभाव– द्रव्य अनन्तधर्मात्मक होता है अतः उसके कुछ धर्म वाच्य होते हैं और शेष धर्म अवाच्य होते हैं। आंशिक अपेक्षा से यह वाच्य–अवाच्य का अविनाभाव बन जाता है।

३) नित्य–अनित्य का अविनाभाव – पदार्थ नित्य और अनित्य दोनों रूप होता है। उसका ध्रौव्य रूप नित्य होता है और पर्याय रूप अनित्य होता है, अर्थक्रियाकारित्व भी नित्यानित्यत्व अवस्था में बन पाती है। आत्मिक और पौद्गलिक दोनों जगत में यह नित्यत्व और अनित्यत्व सापेक्षिक दृष्टि से विद्यमान रहता है। अर्थपर्याय और व्यंजन पर्याय दोनों विवक्षित हैं। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों का अस्तित्व उसमें रहता है।

४) सामान्य–विशेष का अविनाभाव–जैन दर्शन की दृष्टि से पदार्थ में अपेक्षा भेद से सामान्य और विशेष तत्त्व एक साथ विद्यमान रहते हैं। वेदान्त द्रव्य को पारमार्थिक सत्य मानकर पर्याय को काल्पनिक मानता है तो बौद्ध पर्याय को परमार्थ सत्य मानकर द्रव्य को काल्पनिक मान लेता है। जैन दर्शन में दोनों सापेक्ष दृष्टि से समन्वित है।

जैनेतर दर्शनों में अनेकान्तवाद

भारतीय दर्शन साधारण तौर पर दो विचारधाराओं में विभक्त है – श्रमण विचारधारा और ब्राह्मण विचारधारा। श्रमण विचारधारा में प्रमुख रूप से जैन और बौद्ध परम्पराएं आती हैं जबकि ब्राह्मण विचारधारा के अन्तर्गत सांख्य–योग, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा और वेदान्त समाहित हैं। ये सभी परम्पराएं अनेकान्तवाद को किसी न किसी रूप में स्वीकार करती हैं। वैसे अनेकान्तवाद जैनदर्शन का आधारभूत तत्त्व है। परन्तु उसके बीज जैनेतर दर्शनों में भी दृष्टव्य हैं। सापेक्षिक सत्यता पर सभी भारतीय दर्शनों में किसी न किसी सीमा तक चिन्तन होता रहा है। पर उसका चरम विकास जैनाचार्यो ने किया है और समन्वित साधन के सन्दर्भ में एकान्तिक विचारधारा का निषेध किया है। उदाहरण के तौर पर ऋग्वेद के इस कथन **एकं हि सद् विप्रा बहुधा वदन्ति** (१/१६४/४६) की पृष्ठभूमि में नासदीय सूक्त (१०/१२९/१) की पलती–पुसती यह अभिव्यक्ति बहुत महत्त्वपूर्ण है कि परम सत्य या सत्ता को हम न सत् कह सकते हैं और न असत्। यहां हम सत् और असत् ये दो भंग स्पष्ट रूप से पाते हैं और उनमें सापेक्षिकता के दर्शन करते हैं।

औपनिषदिक ऋषियों ने इसी सापेक्षिकता का और विकास किया। तैत्तिरीय उपनिषद् में असत् को मुख्य मानकर उसी से सत् की उत्पत्ति मानी (२.७; छान्दोग्य. ३.१९.१)। पर छन्दोग्योपनिषद् में एक स्थान पर पहले सत् के अस्तित्व को स्वीकार किया और उसी से असत् की सृष्टि मानी (६/२/१, ३)। इसी सन्दर्भ में वृहदारण्यकोपनिषद् का यह कथन और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है जिसमें कहा गया है कि वह स्थूल भी नहीं है और सूक्ष्म भी नहीं है। वह ह्रस्व भी नहीं है और दीर्घ भी नहीं है। इसमें स्पष्ट रूप से एकान्तवाद का निषेध किया गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (१.७) में परम सत्ता को क्षर एवं अक्षर, व्यक्त एवं अव्यक्त जैसे परस्पर विरोधी गुण–धर्मो से मुक्त माना गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् में इसी विचारधारा में दो भंग और जुड़ते हुए दिखाई देते हैं – उभय और अवक्तव्य या अनर्विचनीयता (**यतो वाचा निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह**)। यहां तक चार भंगों का अस्तित्व स्पष्ट रूप से हमारे समक्ष उपस्थित हो जाते हैं – सत्, असत्, उभय और अवक्तव्य। ईशावास्योपनिषद् का यह कथन भी महत्त्वपूर्ण

प्रतीत होता है। **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा या गृधः कस्य स्विद्धनम्'।** यहां त्याग और इन दो विरोधी तत्त्वों में समन्वय स्थापित किया गया है और इस दृष्टि से यहां भेदवाद–अभेदवाद की समन्वित साधना अभिव्यक्त हुई है।

सांख्य–योग–दर्शन– सांख्यदर्शन भेदाभेदवादी है, द्वैतवादी है। उसका प्रकृति और पुरुष तथा संसार और बन्धन अपेक्षाभेद के बिना सिद्ध नहीं हो सकता। दोनों तत्त्व परस्पर विरोधी हैं पर उनमें तादात्म्य सम्बन्ध है। उनमें पुरुष का कूटस्थ नित्यत्व और प्रकृति का परिणामित्व दोनों ही विरोधी तत्त्व विद्यमान है सहसम्बन्ध के कारण। उनकी युगपद् अवस्थिति अनेकान्तवाद की ओर संकेत करती है। प्रवृत्ति और निवृत्ति, भोक्तृत्व और कर्तृत्व भेदाभेदवाद के ही उदाहरण हैं। इसी तरह योगदर्शन भी भेदाभेदवादी है। सांख्य अध्यात्मविद्या का सैद्धान्तिक रूप है, और योग उसका व्यावहारिक रूप है। विभूतिवाद ने योगसूत्र भाष्य १३ में स्वर्ण और भाजन का उदाहरण देकर जैनदर्शन के द्रव्य–गुण–पर्याय में भेदाभेद के उदाहरण का स्मरण कराया है। उनका सामान्य–विशेष का कथन भी इसी तथ्य का पोषक है **(सूत्र ४४ का भाष्य। ये सांख्य योग सदैकान्तवादी हैं। पर वे सदसत्ख्यातिवादी भी हैं)।**

वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन का द्रव्य–गुण–कर्म सिद्धान्त जैन दर्शन के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य से मिलता जुलता है। उनके बीच विद्यमान आश्रय–आश्रयी भाव सापेक्षिक सम्बन्ध के बिना स्थापित नहीं हो सकता है। इसे हम उसका भेदवाद कह सकते हैं। इसी तरह वैशेषिक दर्शन में सामान्य और विशेष दो स्वतन्त्र पदार्थ हैं। सामान्य के दो भेद हैं – परसामान्य और अपरसामान्य। पर सामान्य शुद्ध सत्ता रूप अस्तित्व है पर अपरसामान्य को सामान्य–विशेष उभय रूप कहा जा सकता है जो अपेक्षा भेद से द्रव्य–गुण–कर्म में विद्यमान है (वै.सूत्र. १.१.१५)। यही उसका अनेकान्तवाद है। पृथ्वी द्रव्य की अपेक्षा से सामान्य है और सत्ता की अपेक्षा से विशेष है। वैशेषिक सूत्र **सच्चासत्। यच्चान्मद सदतस्तदसत् (९.१.४–५)** इस सन्दर्भ में स्मरणीय है। ये वैशेषिक सर्वथा उभयवादी हैं। उसका अनेक शब्द अनेकान्त का सूचक है।

न्याय दर्शन

न्यायदर्शन में भी अनेकान्तवाद का सहारा लिया गया है। वात्स्यायन के न्यायसूत्र (१.१.४१)। **'यत्र एतच्च विरुद्धमोरेकधर्मिस्थमोर्बोधव्य –न तु धर्मी सामान्यगतो विरुद्धौ धर्मो हेतुतः सम्भवतः तत्र समुच्चय, हेतुतीर्थस्य तथाभावोपते...'** में स्पष्ट रूप से उसे स्वीकार किया गया है। उसके मत में जाति सामान्य है परन्तु जब वह पदार्थों में कथञ्चित् भेद और अभेद रूप स्थापित करती है तब वह सामान्य विशेषात्मक हो जाती है। कार्यकारण की व्याख्या में भी यह अनेकान्त रूप दिखाई देता है।

मीमांसा दर्शन

जैनदर्शन का उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक रूप मीमांसा दर्शन में भी स्वीकार्य है। यहां पर्याय के स्थान पर धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। उसके अनुसार उत्पत्ति और विनाश धर्म के होते हैं। धर्मी तो नित्य है। कुमारिल भट्ट मीमांसाश्लोकवार्तिक (पद्य २१–२३) में इसे स्पष्टतः स्वीकार किया है। उन्होंने तो पद्य ७५–८० में अनैकान्तिक शब्द का प्रयोग भी किया है। उसी को पार्थसारथी मिश्र ने अपनी टीका में अनेकान्तवाद कहा है।

वेदान्त दर्शन

ब्रह्मसूत्र को केन्द्र में रखकर जिन दर्शनों का विकास हुआ है वे सभी दर्शन वेदान्त दर्शन हैं। इसमें अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैतवाद आदि अनेक सम्प्रदाय हैं, इन सभी सम्प्रदायों में किसी न किसी रूप में अनेकान्तवाद को स्वीकार किया गया है। आचार्य शंकर ने सृष्टिकर्ता ईश्वर में प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति रूप दोनों परस्पर विरोधी गुणों के अस्तित्व को माना है। वे परमार्थ की दृष्टि से माया को असत् और व्यवहार की दृष्टि से सत् मानते हैं और फिर बाद में उसे अनिर्वचनीय कह देते हैं। यही उनका अनेकान्तवाद है, भेदाभेदवाद है। भास्कराचार्य, विज्ञानभिक्षु, निम्बार्काचार्य, बल्लभ, रामानुजाचार्य आदि दार्शनिकों ने भी अनेकान्तवाद का आश्रय लिया है।

जहां तक श्रमण विचारधारा का प्रश्न है उसमें अनेकान्तवादी दृष्टि और अधिक स्पष्ट मिलती है। पार्श्वनाथ की जैन परम्परा उपनिषद् काल तक स्थापित हो चुकी थी जिसका प्रभाव उपनिषदों पर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। अन्य

श्रमण विचारधाराएं भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं। जैसे – संजयबेलट्ठिपुत्त, वर्धमान महावीर और तथागत गौतम बुद्ध। इन तीनों का सम्बन्ध विभज्यवाद या अनेकान्तवाद से अधिक है जिसके विषय में हम आगे लिख रहे हैं। बौद्ध असदैकान्तवादी और अवक्तव्यैकान्तवादी हैं।

वस्तु सामान्य विशेषात्मक अनेकान्तात्मक अथवा भेदाभेदात्मक है। एकान्तवादियों द्वारा उत्थापित इन आठ दोषों का जैनाचार्यो ने खण्डन करते हुए कहा कि अनेकान्तवाद इन सभी दोषों से उन्मुक्त है। बल्कि यह कहा जा सकता है कि एकान्तवाद में ही ये दोष समाहित हैं। वस्तु में भेद और अभेद दोनों की प्रतीति न होने पर ही संशय होता है पर अनेकान्त में वस्तु में जो भेद और अभेद की प्रतीति होती है वह संशयाविष्ट नहीं है, निश्चित है। उनमें कोई विरोध भी नहीं है। वस्तु में पर्याय की अपेक्षा से भेद है और द्रव्य की अपेक्षा से अभेद है। वस्तु न द्रव्य रूप है, न पर्याय रूप है, बल्कि वह उभय रूप है। अपेक्षा भेद से भेद और अभेद के एक साथ रहने में कोई विरोध नहीं है। अग्नि के आ जाने से शीत का अभाव हो जाना स्वाभाविक है।

वैयधिकरण का तात्पर्य है – एक स्वभाव रूप अभेद का अधिकरण अन्य है और अनेक स्वभावरूप भेद का अधिकरण अन्य है। भेदाभेदवाद में यह दोष नहीं आता क्योंकि निर्बाध ज्ञान के द्वारा भेदाभेद की अथवा सत्त्वासत्त्व की एक ही आधार में निर्दोष प्रतीति होती रहती है। उसमें उभयदोष भी इसलिए नहीं है कि अनेकान्तवाद में वस्तु को जात्यन्तर अर्थात् विलक्षण रूप मानी गई है। भेदाभेद को उसमें सापेक्षिक दृष्टि से एकत्व और अनेकत्व उभय रूप मानने में कोई दोष नहीं है। इसी तरह एक ही वस्तु में भेदाभेदात्मकता होने पर संकर दोष भी नहीं माना जा सकता। अनेक धर्मों की युगपत् प्राप्ति को संकर कहा जाता है। भेदाभेद में भिन्न–भिन्न दृष्टियों से भेद और अभेद की व्यवस्था होने में कोई दोष नहीं। वहां व्यतिकर दोष भी नहीं है। व्यतिकर का तात्पर्य है परस्पर में एक दूसरे के विषय में मिश्रित हो जाना। भेदाभेद में ऐसा नहीं होता। सामान्य–विशेष के रहने से वे एक साथ रह सकते हैं। गोत्व की अपेक्षा से गाय यदि सामान्य रूप है तो महिष, अश्व आदि की अपेक्षा से वह विशेष रूप है। इसी तरह अनवस्था दोष की भी कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि धर्मी में ही अनेकरूपता होती है, धर्मों में नहीं। वस्तु में जो अभेद है वही धर्मी है। द्रव्य दृष्टि से वह अभेद या एक

रूप है पर पर्याय की दृष्टि से वह अनेकरूप या भेद रूप है। अभेद को सामान्य और भेद को विशेष कहा जाता है। इस प्रकार वस्तु में अनन्त धर्मों के स्वीकार करने से यहां अनवस्था दोष का प्रसंग नहीं आता।

नय दर्पण

साधारण तौर पर व्यक्ति पक्षपात की भावना से दूषित रहता है, दूसरे को हानि पहुंचाकर स्वयं के लाभ की ओर विशेष ध्यान रखता है, अपनी दृष्टि को दूसरों पर थोप कर असहिष्णुता का परिचय देता है, अहंकार, अभिमान, ममकार, विद्वत्ता का प्रदर्शन, लोकैषणा या स्वार्थ की प्रबलता, अपने ही पक्ष का पोषण आदि एकांगी भावों से क्रोधादि कषायों की वृद्धि करता है और हिंसक गतिविधियों में लिप्त हो जाता है। अपने विचारों को ही सम्यक् मानकर दूसरों के विचारों की ओर ध्यान न देने से सामाजिक विद्वेष बढने लगता है, संकीर्णता की छत्रछाया में उदारता भरी वैज्ञानिक दृष्टि लुप्त सी होने लगती है, कदाग्रह के कटीले विष से आध्यात्मिक और अहिंसक दृष्टि सूखने लगती है। इस तथ्य की ओर व्यक्ति जब धैर्य और शान्ति पूर्वक विचार करता है तभी उसमें सत्यांश की ओर पग बढाने का संकल्प जन्म ले पाता है।

'आगम के अतिरिक्त कुछ नहीं है' इस अवधारणा ने भी व्यक्ति को एकांगी और हिंसक बना दिया। नये परिवेश में नयी विचारधाराएं जन्म लेती रहती हैं। आगम को चक्षु माना जा सकता है पर आगम भी तो मानव कृत हैं। गणधरों और विद्वान आचार्यों द्वारा लिखित हैं। उनमें वही बातें समाविष्ट हैं जो वे जानते थे। उनके अतिरिक्त भी शेष है। सत्य का एकांश ही लिपिबद्ध हो सका, उसका अनन्तवां भाग ही लिपिबद्ध हुआ। शेष अवक्तव्य रह गया। इतना ही नहीं, हिंसक और विद्वेष की अग्नि ज्वाला में अपार साहित्य भस्म भी हो गया। चिन्तन और ज्ञान की सीमा भी रही। इसलिए जैन आगमों में ३६३ मतों की चर्चा आती है जिन्हें 'एकान्तवादी' की संज्ञा दी गई है। और बौद्धागमों में ६२ प्रकार की दृष्टियां हैं जिन्हें मिथ्यादृष्टियों का अभिधान मिला। उनमें भी सत्यांश है। उन्हें सर्वथा दूषित नहीं कह सकते। परसमय (सिद्धान्त) भी किसी न किसी नय का आश्रय लेकर स्थापित किये गये हैं। अतः मात्र साम्प्रदायिकता का आधार लेकर उन्हें मिथ्या नहीं कहा जा सकता। जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय हो जाते हैं।

'सर्वथा' कहने से वे मिथ्यामत मान लिये जाते हैं। जैन परम्परा उन्हीं को 'कथंचित्' आधार पर सम्यक् कह देती है। जैनों का यही अहिंसा पथ है, उनकी यही सहिष्णुता है – इसी से 'अनेकान्तवाद' का जन्म होता है।

पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दुअणभिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो दु सुदणिबद्धो।।
– गोम्मटसार जीवकाण्ड ३३४

जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया।
परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होइ सव्वहा वयणा।
जइणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचिवयणादो।।
– गोम्मटसार कर्मकाण्ड ८९४–८९५

शब्द और ज्ञान का सम्बन्ध

वस्तु तत्त्व को जानने के साधनों में प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान मुख्य होते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान में भी परोक्ष ज्ञान सहयोगी होता है। अध्यात्मज्ञान अनुभव प्रधान होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियों की प्रधानता होती है और परोक्ष ज्ञान में सादृश्य आदि कारण कार्यकारी होते हैं। परोक्ष ज्ञान में वस्तु, वक्ता और श्रोता मे तीन माध्यम होते हैं। वक्ता वस्तु को व्यक्त करना चाहता है पर उसके पास शब्दों का पर्याप्त सामर्थ्य नहीं रहता। शब्दों की भी अपनी सीमा रहती है इसलिए वक्ता श्रोता की जिज्ञासा का समाधान वस्तु का विभाजन करते हुए करता है क्योंकि समग्रवस्तु की व्याख्या एक साथ नहीं हो सकती। शब्दों के भी प्रसंग आदि के अनुसार अनेक अर्थ होते हैं जिसका ध्यान वक्ता को वस्तु का विश्लेषण करते समय रखना होगा। वक्ता की अल्पज्ञता, इच्छा आदि के साथ ही श्रोता की शक्ति आदि पर भी अवलम्बित है कि वह श्रुत वस्तुतत्त्व को कितना और किस प्रकार समझ सकता है।

इस तरह वस्तुतत्त्व के समग्र रूप को विभक्त करके शब्दार्थ की सामर्थ्य का ध्यान रखते हुए इस ढंग से प्रस्तुत करना आवश्यक हो जाता है कि उसमें किसी के विचारों के प्रति न कटुता हो, न विवाद हो। यही अनेकान्तवाद है। यही नयवाद है। इसी में सभी एकान्तवादों का समन्वय होता है।

प्रमाण, नय, एकान्त और अनेकान्त ये चारों तत्त्व परस्पर सम्बद्ध होते हैं। ये सम्यक् और मिथ्या के भेद से आठ प्रकार के हो जाते हैं। इनके पुनः अपेक्षावश विरोधी भंग उत्पन्न होते हैं। उन सभी को निर्विवाद रूप से प्रस्तुत करना ही स्याद्वाद है। इस प्रस्तुति में किसी भी प्रकार का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय नहीं होता। परन्तु जो उसे एकान्त रूप से प्रस्तुत करेगा वहां संशयादि दोष तो होंगे ही। अर्थात् अपेक्षा भेद से प्रस्तुत किया गया ज्ञान सम्यक् होता है और एकान्त रूप से प्रस्तुत किया गया ज्ञान मिथ्या होता है।

इतना तो अब स्पष्ट हो गया कि वस्तु तत्त्व गुणों और पर्यायों का पिण्ड है। गुण एक साथ रहते हैं और पर्याय क्रमवर्ती होते हैं। गुण कभी बदलते नहीं और पर्याय परिवर्तनशील होते हैं। गुणों और पर्यायों का एक अखण्ड रूप वस्तु तत्त्व होता है। उसके किसी एक अंग की प्रस्तुति एकान्तवाद है इसलिए यह प्रस्तुति अधूरी होती है। उसी को जब सापेक्ष भाव से प्रस्तुत किया जाता है तो वह अनेकान्त का रूप ग्रहण कर लेता है। वस्तु का अखण्ड चित्रण होने पर वह प्रमाण हो जाता है और उसका खण्डित चित्र नय कहा जाता है।

गुण वस्तु में सामान्य रूप से हमेशा पाया जाता है। रंग उसमें हमेशा रहेगा, हरा, पीला, लाल आदि रंग उसकी पर्यायें होगीं। पर्यायों का विभेद ही विवाद का विषय बन जाता है। पर्यायों का यह परिवर्तन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार होता है। गुण और पर्याय द्रव्य के अंग या विशेष हैं और द्रव्य स्वयं अंगी है। परिवर्तनशील पर्याय वस्तु का विशेष रूप है जो सहवर्ती और क्रमवर्ती होता है। सहवर्ती गुण होते हैं और क्रमवर्ती पर्याय होते हैं। क्रमवर्ती पर्याय दो प्रकार का है अर्थपर्याय और व्यंजन पर्याय। जो परिवर्तन स्थूल दृष्टि से देखने में आता है वह व्यंजन पर्याय है और उसका सूक्ष्म परिवर्तन अर्थपर्याय है। वृद्धत्व एक साथ नहीं आता। पर जब हम उसे एक साथ देखते हैं तो वह व्यंजन पर्याय है और जब हम उसे बाल्यादि सूक्ष्म अवस्थाजन्य मानते हैं तो उसे अर्थपर्याय कहा जाता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये वस्तु के स्वचतुष्टय कहे जाते हैं। कोई भी वस्तु इनका उलंघन कर अपनी सत्ता को सुरक्षित नहीं रख सकती। इसी आधार पर वस्तु का परचतुष्टय भी होता है। वस्तु का जब विभाजन न किया जा

सके तब उसे 'परमाणु' कहा जाता है। परमाणु जितना स्थान घेरता है वह प्रदेश कहा जाता है। इसी आधार पर अविभागी काल को 'समम' की संज्ञा दी गई है। भाव (द्रव्य की पूर्ण शक्ति) की दृष्टि से उसे 'अविभाग प्रतिच्छेद' कहा जाता है।

द्रव्यचतुष्टय सामान्य और विशेष रूप रहता है। जब भेद करना संभव नहीं होता तो वह विशेष कहलाता है और उन विशेषों में सदैव अनुगतभाव सामान्य कहलाता है। सत् की अपेक्षा विश्व सामान्य सत् है, जीव-अजीव आदि का विभाजन करने पर वह विशेष हो जाता है। द्रव्य की अपेक्षा जीव अजीव सामान्य द्रव्य हैं और मनुष्य, तिर्यंच या धर्म, अधर्म आदि द्रव्य उसका विशेष भाग है। इसी दृष्टि से मनुष्य जाति सामान्य है और आर्य, मलेच्छ आदि भेद विशेष हैं। द्रव्यार्थिक नय के भी दो भेद हैं - शुद्ध और अशुद्ध। शुद्ध द्रव्यार्थिक महासत्ता रूप सामान्य को स्वीकार करता है और अशुद्ध द्रव्यार्थिक उसकी अवान्तर सत्ताओं को ग्रहण करता है। इसी आधार पर पर्यायार्थिक नय भी दो प्रकार के होते हैं - शुद्ध और अशुद्ध।

यहां यह स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है कि गुण एक शक्ति विशेष का नाम है जिसके आधार पर पर्याय बदलती रहती है। परिवर्तन की इसी अभिव्यक्ति को गुण पर्याय कहा जाता है। द्रव्य त्रिकालगत सकल गुणों का समूह है और द्रव्यपर्याय उन सकल गुणों की एक समयवर्ती पृथक्-पृथक् पर्यायों का समूह है। गुण द्रव्य के आश्रय रहते हैं (द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा (त.सू. ५.४१) और पर्याय प्रति समय बदलता हुआ परिणाम है (तद्भावः परिणामः, त.सू.)। ये पर्यायें क्रमवर्ती होती हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी यही कहा है कि पदार्थ के बिना परिणाम पर्याय नहीं होता और परिणाम के बिना पदार्थ नहीं होता -

णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो।
दव्वगुण पज्जमत्थो अत्थो अत्थित्तिणिव्वत्तो।।

-प्रवचनसार, गाथा १०

वस्तु सामान्य के सन्दर्भ में आत्मा की अवस्थिति को भी समझ लें। आत्मा की स्थायी शक्तियां प्रमुखतः चार हैं – ज्ञान, चरित्र, श्रद्धा तथा वेदना। वह शरीर के साथ नीर–क्षर के समान घुलमिल गया है पर अदृष्ट है। मृत्यु के बाद यह अनुभव में आता है कि कोई विशिष्ट शक्ति तत्त्व था जिसके निकलने पर शरीर की इन्द्रियां आदि निष्क्रिय हो गई हैं। इन शक्तियों में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान ये पंच ज्ञान शक्तियां हैं। चारित्रिक शक्तियों में प्रधानतः १३ भाव हैं – क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, आसक्ति, अरुचि, शोक, भय, ग्लानि, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद। ये भाव राग–द्वेषात्मक होते हैं। हित–अहित का विवेक श्रद्धा है और पीडा आदि का अनुभव वेदना है। ये सभी शक्तियां ज्ञानात्मक कही जा सकती हैं। यह ज्ञान शुद्ध, अशुद्ध और शुद्धाशुद्ध रूप होता है। क्षणिक शुद्ध ज्ञान को औपशमिक भाव कहते हैं, स्थायी पूर्ण शुद्ध भाव को क्षायिक भाव, पूर्ण अशुद्ध भाव को औदयिक भाव और शुद्धाशुद्ध भाव को क्षायोपशमिक कहा जाता है। चारित्र और श्रद्धा गुण चारों प्रकार के होते हैं पर ज्ञान और वेदना में औपशमिक भाव नहीं होता। इन चारों भावों में औपशमिक भाव सादि–सान्त ही है क्षायिक भाव सादि अनन्त ही है, क्षायोपशयिक भाव सादि सान्त तथा अनादि सान्त है तथा औदयिक भाव अनादि सान्त तथा सादि सान्त है। ये भाव उत्पन्न–ध्वंसी भाव होने से पर्याय रूप हैं, शक्ति या गुण रूप नहीं हैं, पराश्रित हैं।

पांचवां भाव पारिणामिक भाव है जो निरपेक्ष है, स्वभावतः त्रिकालिक शुद्ध है, सर्वप्रमुख है। यह दृष्टव्य है कि अनुभव सदा पर्याय या व्यक्ति का होता है, गुण या शक्ति का नहीं। सोने में स्वर्णत्व पारिणामिक भाव है जो कभी नष्ट नहीं होता। ज्ञानादि भाव भी इसी प्रकार आत्मा के गुण हैं। क्रोधादि भाव उसकी पर्यायें हैं। यह आत्मा तीन प्रकार का होता है – संसारी, सिद्ध और साधक। संसारी आत्मा में पारिणामिक, औदयिक तथा क्षायोपशमिक भाव होते हैं। सिद्ध जीवों में पारिणामिक और क्षायिक भाव होते हैं और साधक जीवों में पांचों भाव विद्यमान होते हैं।

अंग, अंश, खण्ड, विशेषण, लक्षण, धर्म, भेद, गुण, पर्याय ये सभी शब्द समानार्थक हैं। अभेद, अंगी, अंशी, अखण्ड, विशेष, धर्मी, गुणी, पर्यायी

ये सभी शब्द समानार्थक हैं। यह भेद द्रव्य में द्रव्य–पर्याय रूप और गुणों में

गुण–पर्याय रूप दिखाई देता है। मुक्त और संसारी जीव द्रव्य हैं। संसारी जीव पांच प्रकार के हैं – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व वनस्पति। ये जीव द्रव्य की पर्यायें हैं। मुक्त जीव के कोई भेद नहीं होते।

नय के तीन भेद हैं – वस्तुनय (अर्थनय) ज्ञाननय और वचननय। ये नय प्रमाण और नय सापेक्ष होते हैं। इसलिए वे साम्प्रदायिक नहीं हैं, समन्वयात्मक हैं। वस्तु–विषय को गौण और मुख्य की विवक्षाकर सापेक्ष दृष्टि से उसका विवेचन किया जाता है।

यहां धर्म और गुण में अन्तर समझ लेना चाहिए। धर्म का अर्थ शक्ति है। जो धर्म परस्पर विरुद्ध या सापेक्ष होते हैं वे धर्म कहलाते हैं जैसे नित्यानित्यत्व, एकात्वानेकत्व। जो शक्ति निरपेक्ष या विरोधाभास से रहित है, उन्हें 'गुण' कहते हैं। जैसे आत्मा में ज्ञान, दर्शनादि गुणों का होना। अनेकान्तवाद परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्मयुगलों को सापेक्ष शैली से प्रतिपादन करता है।

द्रव्यार्थिक नय

वस्तु सामान्य और विशेष अंशों का समुदाय है। नित्य, अनित्य जैसे अनेक विरोधी तत्त्व उसमें समाहित हैं। नित्यांश को गुण कहा जाता है और अनित्यांश को पर्याय माना जाता है। गुण और पर्यायों का आधार ही द्रव्य है, सत् है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप स्वचतुष्टय से वह समन्वित है। सामान्य चतुष्टयात्मक तत्त्व की सत्ता मुख्य और विशेष तत्त्व की सत्ता गौण हो जाती है। सामान्य तत्त्व को प्रमुख मानकर विशेष तत्त्व को गौण कर दिया जाता है द्रव्यार्थिकनय में और विशेष तत्त्व को प्रमुख मानकर सामान्य तत्त्व को गौण कर दिया जाता है पर्यायार्थिक नय में। द्रव्य अर्थ– व्यंजन रूप पर्यायों का ही पिण्ड है। द्रव्यार्थिक नय में पदार्थ के अभेद और अवक्तव्य भाव की ओर संकेत करना ही मुख्य प्रयोजन होता है। उसमें उपादान, निमित्त, पुरुषार्थ, नियति, ज्ञान, चरित्र आदि सभी एक साथ विद्यमान हैं अखण्ड रूप से। उसी को भूतार्थ कहा जाता है। खण्डित ग्रहण करने पर वह अभूतार्थ हो जाता है। जीवत्व की दृष्टि से संसारी, मुक्त सभी जीव समान हैं। प्रकाश की दृष्टि से दीपक, बिजली और सूर्य का प्रकाश समान जाति का है। पदार्थ एक अखण्ड और निर्विकल्प मात्र है। यह

द्रव्य दृष्टि है। उसमें उत्पाद, व्यय, पर्याय, गुण, शुद्धता, अशुद्धता सब कुछ सत्य

है पर द्रव्यार्थिक नय में वह अवक्तव्य है। उसकी इस अवक्तव्य स्थिति को शुद्ध द्रव्यार्थिक या निश्चय नय कहा जाता है और इसी को जब व्यावहारिक रूप से वक्तव्य बनाते हैं तो सापेक्षता के आधार पर कथन करने पर वही अशुद्ध द्रव्यार्थिक की संज्ञा पा लेता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये वस्तु के स्वचतुष्टय कहलाते हैं। यह वस्तु का सामान्य रूप है, अभेद और अद्वैत रूप है। जब इसी सत् को पृथक् पृथक् रूप से देखते हैं तो वह पर्यायार्थिक नय है। एक द्रव्य के साथ किसी दूसरे द्रव्य का सम्बन्ध स्वीकारना, पूर्वतर पर्यायों में सम्बन्ध मानना भी द्रव्यार्थिक की सीमा में आता है। इसकी दृष्टि में एक अविभाग प्रतिच्छेद ही भाव सत्ता की कोटि को स्पर्श कर सकता है, उनके समूह या संयोग को नहीं। दो द्रव्यों के बीच निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध स्थापित करना भी इसी द्रव्यार्थिक विषय का है। पर्यायार्थिक नय पूर्णतः एकत्व ग्राही है। सत् में द्वित्व देखना उसकी दृष्टि में भ्रान्तिमूलक है। सभी पर्यायों का अस्तित्व पर्यायार्थिक नय में पृथक् पृथक् माना जाता है। यह ऋजुसूत्र नय का विषय है। इसमें द्वैत का निषेध किया जाता है। इसमें तन्तु मात्र ही एक सत् है। इसके अतिरिक्त वस्त्र नाम की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं। अतः द्रव्यार्थिक नय में पूर्णतः 'सामान्य' रहता है। पर्यायार्थिक नय में द्रव्य की विशेषताओं की चर्चा की जाती है।

पर्यायार्थिक नय

पर्यायार्थिक नय का आधार पर्याय है, चाहे वह व्यंजन या स्थूल पर्याय हो, अर्थ पर्याय या सूक्ष्म पर्याय हो। इन पर्यायों को हम अनादि अनन्त पर्याय, अनादि सान्त पर्याय, सादि अनन्तपर्याय और सादि सान्त पर्याय इन चार कोटियों में विभक्त कर सकते हैं। अनादि सान्त पर्याय जीव का औदयिक भाव है, सादि अनन्त पर्याय उसका क्षायिक भाव है, अनादि अनन्त पर्याय उसकी व्यंजन पर्याय है, और सादि सान्त पर्याय क्षायोपशमिक स्वभाव अनित्य शुद्ध–अशुद्ध आदि अनेक रूपात्मक है।

निश्चयनय और व्यवहार नय

नयों की स्थापना आगम और अध्यात्म दोनों पद्धतियों से की जाती है। सामान्य–विशेष, शुद्ध–अशुद्ध आदि का विवेचन आगम पद्धति में आता है और आत्म पदार्थ का परिचय अध्यात्म पद्धति के अन्तर्गत आता है। इसमें हेयोपादेय का विवेक भी संमिलित है जो आगम पद्धति में नहीं है। निश्चय को उपादेय और व्यवहार को हेय बताने का प्रयोजन शाश्वत शान्ति प्राप्त करने की ओर कदम आगे बढाना रहता है पर साधारण तौर पर यह हो नहीं पाता। लाभ की बजाय हानिकारक सिद्ध होता है। जब तक स्वानुभूति का आलम्बन न हो तब तक व्यवहार नय त्याज्य नहीं माना जा सकता। निश्चयनय से वह भले ही असंगत हो पर व्यवहारनय से वह उपयोगी ठहरता है। आगम पद्धति से विषयवस्तु सम्बन्धी ज्ञान हो जाता है और अध्यात्म पद्धति से तत्सम्बन्धी चारित्र का अनुकरण होता है। यह चारित्र दो प्रकार का है – अन्तरंग चारित्र और बाह्य चारित्र। अन्तरंगचरित्र प्रधान है और बाह्य चारित्र का कारण सिद्ध होता है। ज्ञान प्रमाण रूप है और विचारणा नय रूप है। आगम पद्धति के संग्रहनय और व्यवहारनय अध्यात्म पद्धति के क्रमशः निश्चयनय और व्यवहारनय हैं। सामान्य या अभेद चित्रण निर्विकल्प होता है जो निश्चयनय की सीमा है और भेद या सविकल्प विचारणा व्यवहारनय का विषय है। क्षायिक भाव रूप पर्याय शुद्ध है और औदयिक भाव रूप पर्याय अशुद्ध है।

स्वचतुष्टय की अपेक्षा वस्तु के अंग संज्ञादि की अपेक्षा भिन्न होते हुए भी वे सद्भूत या सत्यार्थ हैं और पर द्रव्यचतुष्टय की अपेक्षा असद्भूत या असत्यार्थ हैं। इसी तरह द्वैत को ग्रहण करने वाले व्यवहार नय के भी दो भेद हैं – सद्भूत और असद्भूत। निश्चयनय में वस्तु अभेद मूलक होती है। द्रव्यार्थिकनय में भी सामान्य मूलक परिचय ऐसा ही होता है। अन्तर यह है कि निश्चयनय में त्रिकाली द्रव्य के अतिरिक्त उसकी द्रव्य पर्यायों को भी कदाचित् द्रव्य के स्थान पर ग्रहण कर लिया जाता है। तात्पर्य यह है कि गुण–गुणी में अभेद दिखाना अथवा पर्यायों या विशेषों के साथ तन्मय अखण्डित द्रव्य का अद्वैत भाव को स्पष्ट करना ही निश्चयनय का मुख्य विषय है। जीव को ज्ञानात्मक बताना निश्चयनय का विषय है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चयनय को शुद्ध नय और व्यवहारनय को अशुद्धनय की संज्ञा दी है। उन्होंने समय अर्थात् आत्मा को उत्पाद व्यय–ध्रौव्य से युक्त माना है **(प्रवचनसार, गाथा १७, समयसार गाथा ३)**। व्यवहारनय का उपयोग आचार्य कुन्दकुन्द ने वस्तुतत्त्व को समझाने की दृष्टि से किया है। उन्होंने कहा कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र आत्मा के धर्म हैं, उनमें अभेद है फिर भी अज्ञानी व्यक्ति को समझाने के लिए व्यवहारनय से दोनों में भेद बतलाकर व्यवहार मात्र से ज्ञान स्वरूप आत्मा का दर्शन ज्ञान है चारित्र है ऐसा कहा जाता है **(समयसार, गाथा ७)**। इसी को स्पष्ट करते हुए आगे उन्होंने कहा कि जिस प्रकार अनार्य व्यक्ति को अनार्यभाषा के माध्यम के बिना नहीं समझाया जा सकता है, उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्त है।

जह णवि सवकमणज्जो अणज्जभासं विणाउगाहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थवएसण मसक्कं।।

– समयसार, गाथा ८

आचार्य कुन्दकुन्द शुद्धनय या निश्चयनय को भूतार्थ–सत्य मानते थे और व्यवहारनय को अभूतार्थ–असत्य कहते थे। उनकी दृष्टि में भूतार्थ नय का ही आश्रय लेकर जीव सम्यग्दृष्टि होता है।

ववहारो ऽभूयत्थो भूमत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो।।

– समयसार गाथा ११

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में अनेक स्थलों पर निश्चयनय और व्यवहार नय के समन्वय की बात कही है। यशोविजय ने तो यहां तक कह दिया कि बिना व्यवहारनय के निश्चयनय की साधना ऊसर क्षेत्र में बीज बोने के समान है **(मार्ग परिशुद्धि, श्लोक १०)**। मध्यकाल में इन्हीं का विकास द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक रूप में हो गया। वेदान्त में भी इन्हें पारमार्थिक और व्यावहारिक कहा है। आचार्य कुन्दकुन्द के अनेकान्तिक विचारों को स्पष्ट करने के लिए उनके टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्माख्याति टीका में स्याद्वादाधिकार नामक एक पृथक् अधिकार जोड दिया है। पंचास्तिकाय में तो आचार्य कुन्दकुन्द (प्रथम शती ई.) ने सप्तभंगी का भी स्पष्ट रूप से वर्णन किया है। आचार्य

समन्तभद्र ने इस सप्तभंगी को हेयोपादेयत्व के लिए अत्यन्त उपयोगी माना है **(सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः, अष्टसहस्री कारिका १०४)।**

आचार्य कुन्दकुन्द ने गुण और पर्याय को अलग माना है **(प्रवचनसार, गाथा ८७)।** आचार्य सिद्धसेन ने गुण और पर्याय को सामान्य वस्तु का परिभाषक कहा है। उन्होंने तर्क दिया कि यदि पर्याय से गुण भिन्न होते तो तीसरा गुणार्थिकनय का वर्णन होना चाहिए था, पर नहीं है। आचार्य अमृतचन्द्र ने भी दो ही नय माने हैं – द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। भट्ट अकलंक ने भी इसी का समर्थन किया है तत्त्वार्थ राजवार्तिक में। यहां कुन्दकुन्द और सिद्धसेन अकलंक के विचारों में कोई मतभेद नहीं है। मात्र सापेक्षिक कथन है। गुणार्थिक नय की आवश्यकता जैनदर्शन में होगी ही नहीं क्योंकि यहां द्रव्य की स्थिति गुण के बिना है ही नहीं, गुण और पर्याय भिन्न नहीं हैं। समन्तभद्र और सिद्धसेन इस सन्दर्भ में एकमत हैं, सिद्धसेन ने तो अनेकान्त में भी अनेकान्त का प्रयोग किया है और उसमें सप्तभंगी नय की भी व्याप्ति को दर्शाया है। आचार्य हरिभद्र ने चेतन–अचेतन सभी पदार्थों को अनेकान्तात्मक माना है – **अनन्तधर्मकं वस्तु प्रमाणविषमस्त्विह, षड्दर्शनसमुच्चय कारिका, ५५। वहां 'उत्पादव्यय ध्रौव्य युक्तं सत्'** का लक्षण पूर्णतः घटित होता है। यह बात सही है कि अनेकान्त का स्थान व्यवहार में अधिक है। वस्तु के आन्तरिक स्वरूप में परिवर्तन उतना नहीं होता जितना उसके बाह्य स्वरूप में होता है। व्यवहारनय परिणामों पर विचार करता है। कदाचित् इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ माना है। आत्मा का यथार्थ स्वरूप निश्चयनय से ही जाना जाता है। क्रोधादि वैभाविक परिणाम हैं, इसलिए उन्हें व्यवहार का ही विषय माना जाता है।

इस प्रकार अनेकान्तवाद वस्तु तत्त्व को सम्यक् रूप से परिज्ञात करने की अनूठी प्रक्रिया है, सभी विचारधाराओं को समान एक स्थान पर बैठाने का सर्वोत्तम साधन है, विवादों को शान्तकर सहअस्तित्त्व की प्रस्थापना करने का प्रशस्त मार्ग है। विश्वशांति को प्रस्थापित करने के लिए भी इसकी उपादेयता असन्दिग्ध है। अहिंसा की सम्यक् साधना और निरन्तर अभ्यास इसका मूल मंत्र है।

अनेकान्तवाद प्रशस्त जीवन पद्धति का एक अमूल्य सूत्र है जिसमें व्यावहारिक हिंसा से बचाव होता है और विरोधी तत्त्व के स्वरूप को समझने का सामर्थ्य बढता है। प्रकृति विरोधी युगलों से आपूर है। ज्ञान–अज्ञान, जीवन–मृत्यु, सुख–दुःख, निर्धन–धनी, विधि–निषेध आदि रूपों में पक्ष और प्रतिपक्ष एक साथ बैठे रहते हैं। उनके बिना जीवन का अस्तित्व नहीं रह सकता। गति के बिना स्थिति हो ही नहीं सकती। चेतन–अचेतन भी एक दूसरे के बिना रह नहीं सकते। लोक के साथ अलोक का भी अस्तित्व है जहां गति–स्थिति नहीं रहती। अनेकान्तवाद में ऐसी ही दो नय विरोधी तत्त्वों का समावेश बना रहता है। दोनों तत्त्वों में संघर्ष होता है और वही संघर्ष विकास का सूचक है, शुद्ध मूल साधन है। जैनधर्म और दर्शन का यह आधारभूत सिद्धान्त है।

****

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

* अंगविज्जा, सं. मुनि पुण्यविजय, वाराणसी, १९५७
* अन्ययोगव्यवच्छेदद्वार्त्रिंशिका – हेमचन्द्र
* अपराजितपृच्छा, गायकवाड ओरियंटल सीरिज, बडौदा, १९५०
* अमितगति श्रावकाचार, शोलापुर, १९७६
* अभिधान चिन्तामणि (भाग १–२) भावनगर, वीर सं. २४४१
* अष्टाध्यायी, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी १९३०
* आचारांगसूत्र एवं आचारांग भाष्य–आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं
* आदिपुराण, जिनसेन, ज्ञानपीठ, काशी
* आवश्यक हरिभ्रदीया वृत्ति, आगमोदय समिति, बम्बई, आदिपुराण (जिनसेन), रतलाम १९२८–२९
* आवश्यक सूत्र सं. पुण्यविजय, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई
* आवश्यक निर्युक्ति, (प्रा.), आगमोदय समिति, बम्बई, १९२८
* उत्तराध्ययनसूत्र–जैन विश्वभारती, लाडनूं
* आत्ममीमांसा–दलसुख मालवणिया
* आप्तमीमांसा–समन्तभद्र, सं. दरबारी लाल कोठिया, वाराणसी
* उत्तरपुराण (गुणधर), भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
* उपमितिभवप्रपंच कथा, सिद्धर्षि, जयपुर
* उपासगदसांग–आगम प्रकाशन समिति, व्यावर
* औपपातिक (प्रा.) टीका–अभयदेव. (द्वि.सं.) वि.सं. १९१४
* कथाकोशप्रकरण (प्रा.), भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९४९
* कर्मग्रन्थ, भाग १–५ देवेन्द्रसूरि
* कर्मविपाक–सुखलाल संघवी
* कल्पसूत्र (प्रा.), टीका, समयसुन्दरगणि, बम्बई, १९३९
* कार्तिकेयानुप्रेक्षा (कार्तिकेय), रायचन्द ग्रन्थमाला, १९६०
* कुन्दकुन्द श्रावकाचार, फलटण, १९७८
* कुमारपालचरित, भण्डारकर ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, पूना, १९३६

* कुवलयमालाकहा (प्रा.), सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९५९

* कुवलयमालाकहा (गुजराती), हेमसागरसूरि, आनन्द हेम ग्रन्थमाला, बम्बई, १९६५
* गोम्मट्टसार (नेमिचन्द्र सि.), भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
* ज्ञानपंचमीकहा (प्रा.) सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९४९
* ज्ञानार्णव, रायचन्द्र ग्रन्थमाला, १९०७
* चारित्त पाहुड, भारतीय ग्रन्थमाला, बम्बई, १९७७
* ज्ञानबिन्दुप्रकरण–यशोविजय
* छान्दोग्योपनिषद् (शांकरभाष्य), वाराणसी
* जम्बूदीपपण्णत्तिसंगहो, जैन स. संरक्षण संघ, शोलापुर, वि.सं. २०१४
* जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४४
* तत्त्वार्थवृत्ति, भारतीय ज्ञानपीठ, १९४९
* तत्त्वार्थ राजवार्तिक (अकलंक), भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
* जैनतर्कभाषा – यशोविजय
* जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १–७
* ठाणांग–आगम प्रकाशन समिति, व्यावर
* तत्त्वसंग्रह–शान्तरक्षित, वाराणसी
* तत्त्वार्थ–भाष्य–वृत्ति–सिद्धसेनगणि
* त्रिंशिका–वसुबन्धु
* तिलोयपण्णति, जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, वि.सं. १९९९
* त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित, हेमचन्द्र, अनुवाद–एच.एस. जानसन, १९३०
* द्रव्यपरीक्षा (प्रा.), ठक्करफेरू, प्राच्यविद्या शोध प्रतिष्ठान, जोधपुर, १९६१
* दशवैकालिक निर्युक्ति, भद्रवाहु (प्रा.)
* दशवैकालिक सूत्र–जैन विश्व भारतीय, लाडनूं
* दशवैकालिक–वृत्ति–हरिभद्र
* द्रव्यसंग्रह–वृत्ति–ब्रह्मदेव
* धर्म संग्रह श्रावकाचार (मेधावी)
* धर्मबिन्दुप्रकरण (हरिभद्र)
* धर्मसंग्रहणी (हरिभद्र), पुस्तकोद्धार ग्रन्थमाला,
* धवला (षट्खण्डागम–टीका), वीरसेन डॉ. हीरालाल जैन, अमरावती

* ध्यानशतक–जिनभद्र

* न्यायावतार–वार्तिक–वृत्ति–शान्त्याचार्य
* नियमसार (कन्दकन्द) बम्बई १९९६
* निशीथचूर्णि (प्रा.), सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९५७
* परिशिष्टपर्वन् (हेमचन्द्र), वाराणसी
* परीक्षामुख–माणिक्यनन्दी
* प्राकृत–व्याकरण–हेमचन्द्र
* पाइयसद्दमहण्णवो, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी १९६३
* पातञ्जल–योगदर्शन
* पुरुषार्थ सिद्धुपाय (अमृतचन्द्र), परमश्रुत प्र. मडल, बम्बई, १९०४
* पंचास्तिकाय (कुन्दकुन्द), रायचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, वि.सं. १९८४
* पुरुषार्थ चिन्तामणि (सं.)
* प्रश्नव्याकरण टीका (प्रा.), अभयदेव, बम्बई, १९१९
* प्रज्ञापना टीका (मलयगिरि) बम्बई, १९२८–२९
* बृहत्कल्पभाष्य (प्रा.), (संघदासगणि), भावनगर, १९३३–३८
* भगवती आराधना (प्रा.), देवेन्द्रकीर्ति ग्रन्थमाला, शोलापुर, १९३५
* भगवतीसूत्र (प्रा.), आगमोदय समिति, बम्बई, १९२१
* भावपाहुड (कुन्दकुन्द), भारतीय ग्रन्थमाला, बम्बई
* महापुराण (सं.), भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९५४
* महाभाष्य–पातंजलि
* माध्यमिककारिका–नागार्जुन
* मिलिन्दपञ्ह (पा.), सं.आ.डी. वाडेकर, बम्बई, १९४०
* मुक्तावली–विश्वनाथ
* मूलाचार (वट्टकेर), भारतीय दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, श्रवण बेलगोल
* यशस्तिलकचम्पू, निर्णयसागर, प्रेस बम्बई, १९१६
* रत्नाकरावतारिका (प्रमाणनयतत्त्वालोक–टीका)–रत्नप्रभ
* राजतरंगिणी, दुर्गाप्रसाद, बम्बई, सं. १९८४
* राजप्रश्नीयसूत्र (प्रा.), एन.बी. वैद्य, अहमदाबाद, १९३८
* ललितविस्तर (सं.), वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभां, १९५८
* लघीयस्त्रय–अकलंक

* लंकावतारसूत्र

* लीलावईकहा (प्रा.) सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
* वरांगचरित (सं.), माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, १९३८
* वसुनन्दी श्रावकाचार–भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५२
* वसुदेवहिण्डी (प्रा.) आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९३०
* व्यवहारसूत्र (प्रा.), भावनगर, १९२६
* वास्तुचिन्तामणि–देवनन्दि मुनि, नागपुर, १९९६
* विशुद्धिमार्ग, वाराणसी
* विशेषावश्यक भाष्य, (सटीक), रतलाम, १९३६–३७
* विंशतिका–वसुबन्धु
* वैशेषिकसूत्र – कणाद
* शत्पथब्राह्मण, अच्युत ग्रन्थमाला, काशी, वि.सं. १९९४
* शाङ्करभाष्य (शारीरिकभाष्य), शंकराचार्य
* शास्त्रवार्तासमुच्चय–हरिभद्र
* श्लोकवार्तिक–कुमारिल
* षड्दर्शनसमुच्चय–हरिभद्र, काशी
* सन्मतितर्क–सिद्धसेन
* समयसार (कुन्दकुन्द), अहिंसा मंदिर, दिल्ली, १९५१
* स्याद्वादमंजरी, मल्लिषेण रायचन्द्र ग्रन्थमाला
* समराइच्चकहा (प्रा.), कलकत्ता, १९२६
* सर्वार्थसिद्धि–भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्लि
* समवायांगसूत्र (प्रा.), अहमदाबाद, १९३८
* सर्वदर्शनसंग्रह–माधवाचार्य
* सिद्वहेम व्याकरण–हेमचन्द्र
* स्थानांगसूत्र (प्रा.), अहमदाबाद, १९३७
* सूत्रकृतांगटीका, आगमोदयसमिति, बम्बई, १९१७
* श्रावकप्रज्ञप्ति (हरिभद्र), बम्बई, १९०५
* हरिवंशपुराण–भारतीय ज्ञानपीठ
* स्याद्वादरत्नाकर–वादिदेवसूरि

णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आइरियाणं
णमो उवज्झायायाणं
णमो लोए सव्वसाहूणं

श्रमण विद्या के लिए यावज्जीवन समर्पित व्यक्तित्व के सार्थक धनी महामहोपाध्याय प्रोफेसर डॉ. भागचन्द्र जैन 'भास्कर' का संक्षिप्त परिचय

स्थायी पता :

१३३, तुकारामचाल, सदर, नागपुर – ४४०००१

०७१२–२५४१७२६, मो. ०९४२१३६३९२६,

Email : drbcjain@hotmail.com

१. **वय, जन्म स्थान एवं तिथि : बम्होरी (छतरपुर, म.प्र.)**
तिथि – ११.०९.१९३६, लगभग ८५ वर्ष

(क) शैक्षणिक योग्यता :

१. डी.लिट् (संस्कृत),
२. डी.लिट् (पालि–प्राकृत),
३. डी.लिट् (हिन्दी),
४. पी–एच.डी. (पालि–प्राकृत) विद्योदय विश्वविद्यालय, श्रीलंका
५. एम.ए. (प्रा.भा.इ.सं. एवं पुरातत्त्व),
६. एम.ए. (पालि),
७. एम.ए. (संस्कृत),
८. शास्त्राचार्य (प्राकृत–जैनदर्शन),
९. आचार्य (संस्कृत साहित्य),
१०. साहित्यरत्न (हिन्दी)।

(ख) शैक्षणिक नियुक्तियाँ :

१. पूर्व एमेरिटस प्रोफेसर, मद्रास वि.वि. चेन्नई (२००९–१०),
२.पूर्व प्रोफेसर एवं सं.निदेशक,रा.प्राकृत शोध सं.श्रवणबेलगोल(२००४–०९)
३. मानद प्रोफेसर एवं निदेशक, सन्मति प्राच्य शो.सं. नागपुर,
४. पूर्व प्रोफेसर एवं निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी (१९९९–२००१),
५. पूर्व प्रोफेसर एवं निदेशक, जैन अनुशीलन केन्द्र, राजस्थान वि.वि. जयपुर (१९८३–८५),

६. पूर्व अध्यक्ष – नागपुर वि.वि. पालि–प्राकृत विभाग, (१९६५–९६),
७. पूर्व रीडर, बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली वि.वि. (१९७७),
८. पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष जैनदर्शन पीठ ज. रामानन्द संस्कृत वि.वि. जयपुर,
९. वर्तमान में प्रोफेसर एमेरिटस, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं (राजस्थान)
१०. निदेशक, सन्मति प्राच्य शोध संस्थान, नागपुर।

साहित्यिक अवदान

२. प्राचीन पाण्डुलिपियों का सम्पादन/अनुवाद :

(क) प्राकृत–अपभ्रंश संस्कृत जैन ग्रन्थ –

१. प्राकृत धम्मपद – प्राकृत भारती, जयपुर १९८४ (३५० पृ.),
२. संवोह पंचासिया–राज. वि.वि. जयपुर १९८५ (१०० पृ.),
३. वयकहा – राज. वि.वि. जयपुर १९८५ (५० पृ.),
४. चंदप्पहचरिउ (यशःकीर्ति) – वीर सेवा मं. ट्रस्ट १९८५ (३०० पृ.),
५. धम्मपरिक्खा (हरिषेण) – सन्मति प्राच्य शोध संस्थान, नागपुर १९८३ (३०० पृ.),
६. दोहाकोस (सरहपा), वही १९९२ (८० पृ),
७. अलंकार दप्पण – पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी २००१ (८० पृ.),
८. मूलाचार (कुन्दकुन्द) २ भाग, श्रवणबेलगोला, २००४ (१२०० पृ.),
९. कसायपाहुड (गुणधर) – श्रवणबेलगोला, २००४ (१२० पृ.),
१०. षड्खण्डागम (पुष्पदन्त–भूतबली), वही, २ भाग (१००० पृ.),
११. कसायपाहुड चुण्णिसुत्तं (यतिवृषभ), वही, २००४ (६०० पृ.),
१२. कुन्दकुन्द ग्रन्थावली, वही २००४ (६०० पृ.),
१३. तिलोयपण्णत्ति (यतिवृषभ), वही दो भाग (१५०० पृ.),
१४. कत्तिगेयाणुवेक्खा (कार्तिकेय), वही (३०० पृ.),
१५. भगवती आराधना (शिवार्य), वही (३०० पृ.),
१६. नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ग्रन्थावली, वही (१००० पृ.),
१७. धवला – तीन भाग, वही (१२०० पृ.),

१८. जयधवला तीन भाग, वही (१५०० पृ.),

१९. योगीन्दु ग्रन्थावली, वही (६०० पृ.),
२०. शेष प्राकृत ग्रन्थावली, वही तीन भाग (१२०० पृ.),
२१. बौद्ध दोहाकोस–गीत (सरहपा) – कला प्रकाशन वाराणसी २००८ (१०० पृ.),
२२. यशोधरचरितम् (सकलकीर्ति) सन्मति प्रा.शो.सं. नागपुर १९८९ (१५० पृ.),
२३. षोडशक प्रकरण (हरिभद्र) – पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी २००४ (२५० पृ.),
२४. प्राकृत भाषा और स्वरूप (कन्नड) श्रवणबेलगोला २००६ (१५० पृ.),
२५. सूयगडंग टीका (शीलांक) (शोध योजना),
२६. जिन भक्ति प्रसून–२००२।

(ख) पालि एवं बौद्ध संस्कृत गन्थों का सम्पादन/अनुवाद :

१. अभिधानप्पदीपिका–आलोक प्रकाशन नागपुर १९७२ (२०० पृ.),
२. पातिमोक्ख–हिन्दी अनुवाद सहित–वही, १९७४ (२२५ पृ.),
३. अभिधम्मत्थ संगहो–वही १९७५ (१५० पृ.),
४. सारत्थप्पकासिनी–१९९०, दो भाग भारत सरकार में प्रस्तुत,
५. पालि तिपिटक सम्पादन (शोध योजना),
६. चतुःशतकम् (आर्यदेव) आलोक प्रकाशन, नागपुर १९७४ (३५० पृ.),
७. चतुःशतकम् (आर्यदेव), द्वि.सं. वाराणसी २००४ (३०० पृ.),
८. हेवज्रतन्त्र–प्र–सं. सन्मति प्रा.शो.सं. नागपुर १९९६,
९. हेवज्रतन्त्र–द्वि.सं. २ भाग, कला प्रकाशन, वाराणसी २००९ (६०० पृ.),

३. स्वतन्त्र ग्रन्थों का लेखन :

१. (क) प्राकृत एवं जैनधर्म Jainism in Buddhist Literature (Ph.D) Thesis, **श्रीलंका १९६६ (२५० पृ.),**

२. महावीर और उनका चिन्तन–रत्न पुस्तकालय धूलिया १९७६ (२०० पृ.),
३. श्रमण दर्शन, साहित्य और संस्कृति (डी.लिट. शोध प्रबन्ध),
४. जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास–नागपुर वि.वि. १९७८ (५०० पृ.),
५. Jain Logic मद्रास वि.वि. चेन्नई १९९२ (१०० पृ.),
६. Studies in Jainism and Buddhism (डी. लिट् थीसिस),
७. A Survey of Prakrit Literature १९९१,
८. जैन–बौद्ध दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन, वाराणसी १९९२ (१५० पृ.),
९. Jainism and Mahaveer दिल्ली १९९३ (१५० पृ.),
१०. भारतीय दर्शनों में निर्वाण का स्वरूप, जयपुर १९८९ (२५० पृ.),
११. समयसार का दार्शनिक चिन्तन – दिल्ली १९९६ (२५० पृ.),
१२. मूकमाटी : चेतना के स्वर (डी. लिट् हिन्दी शोध प्रबन्ध), नागपुर १९९५ (४०० पृ.),
१३. Reality of Knowledge, लाडनूं १९९५ (५० पृ.),
१४. जैन संस्कृति कोश – तीन भाग, वाराणसी २००२,
   १. जैन इतिहास संस्कृति और पुरातत्त्व (८०० पृ.),
   २. जैन दार्शनिक और आध्यात्मिक चेतना (४०० पृ.),
   ३. जैन सांस्कृतिक चेतना (४०० पृ.),
१५. Jain Anthology
१६. जैनधर्म और संस्कृति, नागपुर १९७० (१५० पृ.),
१७. Jainism : A Religion of Ascetism
१८. समय की शिला पर उभरते भावचित्र (काव्य संग्रह)(३०० पृ.),
१९. Jainism (७०० पृ.),
२०. जैनधर्म–दर्शन और संस्कृति (७०० पृ.), जयपुर २०१२,
२१. जैनाचार्य कोश (शोध योजना),
२२. जैनधर्म और पर्यावरण, दिल्ली २००५ (३०० पृ.),
२३. जैन–बौद्ध संस्कृति में अहिंसा, अनेकान्त, अपरिग्रह एवं पर्यावरण (३५० पृ.),
२४. शौरसेनी भाषा और साहित्य का इतिहास, क.कु.सं.वि.नागपुर, २०२० (५०० पृ.)

२५. तीर्थंकर महावीर और उनके दशधर्म, वाराणसी २००१ (१५० पृ.),

२६. भक्ति गीतांजलि–वाराणसी २००८ (२५० पृ.),
२७. भक्तामर स्तोत्र एवं णमोकार मन्त्र का वैज्ञानिक अध्ययन (२५० पृ.),
२८. लगभग २०० शोधनिबन्ध प्रकाशित,
२९. जैन संस्कृत साहित्य का इतिहास, शोधयोजना (५०० पृ.),
३०. जैन सांस्कृतिक चेतना के स्वर, नागपुर, २०१९ (७०० पृ.),
३१. जैन इतिहास और परम्परा – दो खण्ड, लखनऊ (ल. ६०० पृ.)
३२. जैनदर्शन का समीक्षात्मक अध्ययन–क.का.सं.वि. नागपुर, २०२१
३३. जैन कला की पृष्ठभूमि, (३०० पृ.),
३४. जैन कला और वास्तु, दिल्ली, (ल. ४०० पृ.),

(ख) पालि एवं बौद्धधर्म–दर्शन :

१. बौद्ध संस्कृति का इतिहास–नागपुर १९७४ (३५० पृ.), २. भारतीय संस्कृतिला बौद्धधर्माचे योगदान (मराठी)–नागपुर वि.वि. १९७६ (५०० पृ.), ३. बौद्ध मनोविज्ञान – नागपुर १९९१ (२५० पृ.), ४. डॉ. अम्बेडकर और बौद्धधर्म–नागपुर १९९१ (२५० पृ.), ५. Buddhism –नागपुर, ६. बौद्ध संस्कृति, (३०० पृ.), ७. पालि भाषा और साहित्य का इतिहास, नागपुर (६०० पृ.), ८. माध्यमिक दर्शन (३०० पृ.), ९. बौद्ध विश्व दिग्दर्शन (३०० पृ.), १०. डॉ. अम्बेडकर–कांशीराम–मायावती और बौद्धधर्म, वाराणसी २००९ (६०० पृ.), ११. पालि–हिन्दी–अंग्रेजी कोश, १२. चतु:शतकम् (अंग्रेजी अनुवाद), १३. बौद्ध संस्कृत साहित्य का इतिहास (ल. २५० पृ.), इन ग्रन्थों में कतिपय ग्रन्थ अद्यावधि अप्रकाशित है।

५. लगभग तीस शोध छात्रों ने पी–एच.डी./डी.लिट् उपाधियां आपके निर्देशन में प्राप्त कीं, ६. लगभग ३० अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों में भाग लिया और सत्रों की अध्यक्षता की (न्यूयार्क, रोम, हार्वर्ड वि.वि.), ७. लगभग १०० राष्ट्रीय संगोष्ठियों में भाग लिया और सत्रों की अध्यक्षता की एवं अनेक विश्वविद्यालयों में विविध विषयों पर व्याख्यान दिये, ८. पालि–प्राकृत–संस्कृत को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया तथा उनमें काव्य–सृजन किया, ९. लगभग ३५ वर्षों का प्रशासकीय अनुभव, १०. देश–विदेशों में भ्रमण एवं व्याख्यान

दिये, ११. संस्कृत, पालि, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती भाषाओं में दक्षता, १२. शोध पत्रिकाओं के मानद सम्पादक–श्रमण, नाग.वि.वि. शोध पत्रिका, प्राचीन तीर्थ जीर्णोद्वार लखनऊ।

१३) प्राप्त साहित्यिक सम्मान विवरण :

१. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग शोध छात्रवृत्ति १९६२,
२. कामन्वेल्थ फेलोशिप श्रीलंका–१९६३–६५,
३. नेशनल यू.जी.सी. फेलोशिप १९८५–८७,
४. भारतीय केन्द्रीय सरकार पुरस्कार, १९८०,
५. प्रदीप रामपुरिया पुरस्कार, बीकानेर, १९८६,
६. महावीर पुरस्कार, महावीरजी, १९९०,
७. कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुरस्कार, इन्दौर, १९९६,
८. प्राकृत एवं जैन दर्शन संस्कृति सेवा पुरस्कार, १९९५,
९. पूरणचन्द्र रिद्धिलता पुरस्कार, महावीरजी, १९९६,
१०. विद्वत्सम्मान पुरस्कार, १९९८,
११. जेजानी ट्रस्ट पुरस्कार, नागपुर, १९९०,
१२. श्रुतसम्बर्धन पुरस्कार, मेरठ, १९९४,
१३. अहिंसा इन्टरनेशनल पुरस्कार, दिल्ली २००२,
१४. सिद्धान्त संरक्षण समिति पुरस्कार, दिल्ली १९९६,
१५. नागपुर विद्यापीठ अमृत महोत्सव पुरस्कार, १९९८,
१६. शास्त्री परिषद पुरस्कार, १९८०,
१७. द्रोणप्रान्तीय विद्वत्सम्मान पुरस्कार, १९९०,
१८. केलादेवी पुरस्कार, ११९४,
१९. राष्ट्रपति पुरस्कार पालि–प्राकृत–२००४,
२०. Men of the Year १९९८–२००४ अमेरिका,
२१. अहिंसा पुरस्कार नागपुर २००५,
२२. गोम्मटेश विद्यापीठ पुरस्कार श्रवणबेलगोला २००७,
२३. मंजुश्री सम्मान बौद्ध अध्ययन के क्षेत्र में २०१०,
२४. जैनरत्न, अमेरिका २०११,

२५. कवि कुलगुरु कालिदास संस्कृत विश्वविद्यालय, रामटेक/नागपुर द्वारा प्रदत्त महामहोपाध्याय विरुद २०१२, आदि।

२६. पाली सन्मान, महोबोधि सोसायटी, सारनाथ, २०१४,

२७. पुरातत्त्व पुरोधा – दि. जैन महासभा, २०१५.

२८. आचार्य आदिसागर अंकलीकर विद्वत्पुरस्कार, २०१९ आदि।

१६. सामाजिक एवं शैक्षणिक क्षेत्र में प्रदत्त सेवा :

१. अनेक संस्थांओं के सदस्य/अध्यक्ष,

२. पू. माता–पिता श्रीमती तुलसादेवी गोरेलाल जैन चेरीटेबल ट्रस्ट की स्थापना और उससे लगभग एक करोड रुपयों का दान,

३. छात्रावास एवं विद्यालय की स्थापना,

४. राष्ट्रपति पुरस्कार चुनाव समिति के सदस्य,

५. विभिन्न विश्वविद्यालयों की चुनाव समितियों के सदस्य,

६. जैन विश्वभारती लाडनू संस्थान की शैक्षणिक गतिविधियों से संबद्ध,

७. अध्यक्ष, असोसिएशन ऑफ बुद्धिस्ट स्टडीज,

८. अध्यक्ष, दि. जैन विद्वत् परिषद्।